a Samaj Foundation Che

ALOCHNA HINDI

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GKV

P R
२८
वि. ३८ आ
अवि. ३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Acc. No. 49440 49441
079558

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
पुस्तकालय

विषय संख्या R 8
पुस्तक संख्या दि 307 आ
आगत पंजिका संख्या सं - 30

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

GULZAR BOOK BINDING HOUSE
PHARI BAZAR ROORKEE

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

स्टाक प्रमाणीकरण संख्या १२८४-११८५

Stock Verification-

Stock Verification-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CR KEW 1973

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

079558

30 आलोचना

079558

…ता और प्रतिबद्धता — शिवदानसिंह चौहान

… : छंद — आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

…लोकचेतना — डॉ० बेचन

…यिकाओं का विकास-क्रम — डॉ० सुरेश सिन्हा

…का निराला-विषयक विवेचन — धनंजय वर्मा

…ज-दर्शन : कुछ तत्व — कृष्णबिहारी मिश्र

…, विश्वविद्यालय और समकालीन साहित्य — गोपालकृष्ण कौल

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय

ब्रेख्ट का थियेटर — बलवंत गार्गी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

राजकमल प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या R
पुस्तक संख्या दि ३७ आ
आगत पंजिका संख्या अ - २०

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

अप्रैल, १९६४

...त्येक अंक रजिस्ट्री
...पाने के लिए १४)

७६

-दर्शन :

८२

—पाश्चात्य और हिन्दी की नई कविता में सांस्कृतिक विघटन
...विन्द रजनीश २१

...क कथा-नायिकाओं

... ३०

—विश्वविद्यालय और समकालीन साहित्य
गोपालकृष्ण कौल
डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित,
डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय १०२

मूल्यांकन
—चारु चन्द्रलेख
डॉ० रमेश कुन्तल मेघ १२०

—चार नए उपन्यास
डॉ० राजगोपालसिंह चौहान १३८

—अर्ध-शती
देवप्रकाश गुप्त १४३

...विसमय मीमांसा
...विजयेन्द्र स्नातक १४५

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

आलोचना

सम्पादकीय

लेखक की स्वतन्त्रता और प्रतिबद्धता

शीत-युद्ध के पाश्चात्य संचालकों ने उन उदात्त शब्दों के परम्परागत अर्थों को विकृत करके और उनमें विपरीत अर्थ-ध्वनियाँ और आशय भरकर, जिनके प्रति जन-साधारण के मन में सहज अनुराग और आस्था थी, जो उनकी मुक्तिकामी, प्रगतिशील आकांक्षाओं को स्वरित करते थे और शताब्दियों से दार्शनिक चिन्तन और जन-संघर्ष के लक्ष्य बने हुए थे पिछले पन्द्रह वर्षों में भाषा, संस्कृति और मनुष्य की पुनीत भावनाओं के साथ ऐसा बलात्कार किया है जिसकी तुलना हिटलर के समय जर्मनी में पुस्तकों की होली जलाने से ही की जा सकती है।

शीत-योद्धाओं के शब्द-कोश में 'स्वतन्त्रता से प्रेम' का अर्थ है, 'समाजवाद से घृणा'। 'स्वतन्त्र-जगत्' का अर्थ है, पाश्चात्य-जगत् के पुराने साम्राज्यवादी देश और एशिया-अफ्रीका-अमरीका के वे देश, जो या तो अभी तक उनकी औपनिवेशिक गुलामी में हैं या उनके आर्थिक प्रभुत्व में हैं और, 'प्रजातन्त्र' का अर्थ होता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाली जाति-भेद, रंग-भेद, नस्ल-भेद, वर्ग-भेद-जैसी अमानवीय और बर्बर कुत्साओं को अक्षुण्ण रखकर उनको और भी प्रोत्साहन देनेवाला फ़ासिस्ट क़िस्म का सैनिक अथवा पूँजीवादी प्रशासन, जो उद्योगपतियों और ज़मींदारों के आर्थिक स्वार्थों की रक्षा करे और स्वतन्त्रता, बराबरी और एकता के लिए लड़नेवाली भूखी और दुखी जनता की आवाज़ को दबाने की खातिर लाखों 'व्यक्तियों' का क़त्ल करने में भी आनाकानी न करे।

मनुष्य के हृदय में पुनीत सामाजिक लक्ष्यों की झंकार पैदा करनेवाले इन शब्दों के ऐतिहासिक अर्थों को बिलकुल बदलकर या कहें कि अपने 'नूतन-उपनिवेशवादी' उद्देश्यों को छिपाने के लिए इनको आवरण के रूप में इस्तेमाल करके, साम्राज्यवादियों ने पिछले पन्द्रह सालों में कितने षड्यन्त्र और कितने हत्या-काण्ड रचे हैं, कितने देशों को युद्ध की भट्टी में झोंका है और कितने देशों का बँटवारा करवाया है, इस इतिहास को दोहराने की जरूरत नहीं है। गोयबल्स का विश्वास था कि प्रचार के बल पर असत्य को सत्य के रूप में मनवाया जा सकता है। शीत-युद्ध के संचालकों का भी कुछ ऐसा ही विश्वास है कि 'स्वतन्त्रता', 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता', 'स्वतन्त्र-जगत्' और 'प्रजातन्त्र' का जय-घोष करते हुए वे अपने डॉलरों से हर चीज़ ख़रीद सकते हैं—व्यक्ति और राष्ट्र की आत्मा भी। और जो व्यक्ति, पार्टी या आन्दोलन ख़रीदा नहीं जा सकता उसे 'कम्युनिस्ट' या 'कम्युनिस्ट-प्रेरित' कहकर वे उसे जन-साधारण की दृष्टि में 'स्वतन्त्रता-विरोधी' सिद्ध कर सकते हैं और जरूरत पड़े, तो उसे हथियारों से कुचलने का नैतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थन पा सकते हैं ।

शीत-योद्धाओं की जो उपलब्धि है और लेखक के नाते जिससे हमारा सीधा सम्बन्ध है, वह यह कि वे तथाकथित 'स्वतन्त्र-जगत्' (फ्री वर्ल्ड) के अधिकांश देशों में, यहाँ तक कि उन सभी नये आज़ाद देशों में भी, जिन्होंने गुटों से दूर रहकर 'निष्पक्षता' की नीति अपनाई है, बुद्धिजीवी वर्ग के एक भाग को, विशेषकर तरुण पीढ़ी के लेखकों, चित्रकारों और अध्यापकों को गुमराह करने में सफल हुए हैं । तात्पर्य यह कि पश्चिम के शीत-योद्धा 'स्वतन्त्रता', 'स्वतन्त्र-जगत्' और 'प्रजा-तन्त्र' जैसे शब्दों में जो नये, विपरीत और विकृत अर्थ भरकर प्रचारित करते हैं, इतिहास-ज्ञान और अनुभव की कमी के कारण बुद्धिजीवियों के एक वर्ग ने उनको ही 'सत्य' स्वीकार कर लिया है । इस स्वीकृति को हर बिकाऊ व्यक्ति-विशिष्ट के लिए काम्य और अस्तित्ववादी दृष्टि से लाभदायक बनाने की ख़ातिर विभिन्न डॉलर-सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, फाउन्डेशन्स तथा उनकी राष्ट्रीय शाखाओं की ओर से अनेक रूपों में जो आर्थिक सहायता बाँटी जाती है, उसने 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' और सामाजिक कार्यों और उद्देश्यों से व्यक्ति (विशेषकर लेखक और कलाकार) की 'असम्बद्धता' को जीवन का सर्वोच्च मूल्य घोषित करनेवाले इन 'विशिष्ट' व्यक्तियों को हर देश में और फिर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शीत-युद्ध के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए 'परिसम्बद्ध' होने यानी राष्ट्रीय आज़ादी, समाजवाद तथा अन्य प्रगतिशील जनवादी उद्देश्यों और विचारधाराओं के विरुद्ध शीत-युद्ध की प्रचार-मशीन का अंग बनने की 'अन्त:प्रेरणा' प्रदान की है और उनके मनोजगत् को इस 'नये भाव-बोध' और एक 'नई संवेदनशीलता' से सम्पन्न बनाया है !

समाजवादी देशों को छोड़कर बाकी सारे संसार में और विशेषकर पाश्चात्य साम्राज्यवादी देशों में, अराजकतावादी दर्शन का इतना व्यापक प्रसार क्यों है ? हर व्यक्ति केवल 'अपनी' 'सुख-सुविधा' के लिए ही अपने को क्यों ज़िम्मेदार समझता है ? वह समाज के जीवन से अपने को विच्छिन्न क्यों महसूस करता है ? आज बुद्धिजीवी-वर्ग में इतनी निराशा, इतना अवसाद, इतनी कुण्ठा और मानव-इतिहास, साहित्य और कला की परम्परा और मानववादी आदर्शों और प्रयोजनों के प्रति इतनी अनास्था और उपेक्षा क्यों है ? सामाजिक मूल्यों और नैतिक मान्यताओं का इतनी तेज़ी से विघटन क्यों हो रहा है ? व्यक्ति की मानवीय संवेदनाओं का क्षेत्र इतना संकीर्ण और आत्म-सीमित क्यों होता जा रहा है ? सेक्स के उत्तेजनापूर्ण क्षणों के अलावा व्यक्ति में जीवित होने का अहसास क्यों खो गया है ? कला में मानव-रूप और भावनाओं की पाशविक-विकृति को ही नई कला का श्रेय क्यों माना जाने लगा है ? मानव के सहज सौन्दर्य-बोध और आनन्द-भावना की परितुष्टि के लिए हिंसा, बर्बरता, नग्नता, अश्लीलता और अबौद्धिकता-जैसी निम्न प्रवृत्तियों और रुचियों को क्यों उभारा जा रहा है ? आज व्यक्ति अपने को इतना निरीह, त्रस्त और आतंकित क्यों महसूस करता है ? क्या यह सारा परिवर्तन स्वाभाविक है ? 'आधुनिकता' का तकाज़ा है ? क्या सांस्कृतिक ह्रास और सामाजिक, मानववादी चेतना का लोप और आत्म-केन्द्रित व्यक्तिवाद की बाढ़, औद्योगीकरण और भौतिक विकास और समृद्धि की एक दुर्निवार अनिवार्यता है, जैसा कि विभिन्न ढंगों से प्रचारित किया जाता है ? या ये विकृतियाँ उस ह्रासोन्मुखी समाज-व्यवस्था की आन्तरिक असंगतियों के परिणाम-स्वरूप पैदा हुई है, जो अपना ऐतिहासिक औचित्य खो बैठी है, किन्तु अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए हर सम्भव उपाय से मनुष्य के विवेक, उसकी न्याय-भावना उसकी सत्यान्वेषी दृष्टि, उसकी मानवीय संवेदना को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धूमिल और कुण्ठित करके उसे संकीर्ण और मानवद्रोही बना देना चाहती है ?

सन् '३६ के आसपास, जब मैंने साहित्य की दुनिया में पहला क़दम ही रखा था, मुझे प्रसिद्ध अमरीकी उपन्यासकार अप्टन सिन्क्लेयर की एक विचारोत्तेजक पुस्तक पढ़ने को मिली। नाम था Money Writes ! (पैसा लिखता है !) इसमें लेखक ने साहित्य के इतिहास से मिसालें देकर बताया था कि पूँजीवादी समाज की विषमताओं और उसके अन्तर्गत अन्याय और भेद पर आधारित मानव-सम्बन्धों की क्रूरता का यथार्थ चित्रण करनेवाले महान् मानववादी और सत्यान्वेषी लेखकों को अनिवार्यतः दुःसह आर्थिक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी हैं और पूँजीपतियों की पत्र-पत्रिकाओं ने अकसर उनको लांछित और बदनाम करके उनके बहिष्कार की मांग की है। मिसाल के लिए, Doll's House (गुड़िया का घर), Hedda Gabler (हेडा गैब्लर), और Pillars of Society (समाज के स्तम्भ) जैसे, पूँजीवादी नैतिकता की वास्तविकता का पर्दाफ़ाश करनेवाले नाटकों के विरोध में उनके महान् लेखक इब्सन को यूरोप के प्रायः सभी देशों के पूंजीवादी अखबारों ने चुन-चुनकर जो गालियाँ दीं, उनको सभ्य समाज में दोहराना भी सम्भव नहीं है। लेकिन इसके विपरीत, अप्टन सिन्क्लेयर ने आँकड़े और तथ्य उद्धृत करके सिद्ध किया कि उन असंख्य घटिया लेखकों को, जिनमें प्रतिभा का अंश नाम-मात्र को ही है, पूंजीवादी व्यवस्था ने अपनी 'विचारधारा' का प्रचार करने के लिए मोटी-मोटी रक़में और तनख्वाहें देकर पाल रखा है।

इससे सिद्ध हो जाता है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत लेखक को विचार और लेखन की 'स्वतन्त्रता' उपलब्ध नहीं है। इसीलिए पूंजीवादी व्यवस्था में एक 'सच्चा', 'ईमानदार' और 'जागरूक' लेखक (लांछन, अपवाद और अभावों से अविचलित रहकर) वर्ग-वैषम्य से पीड़ित मनुष्यों के जीवन की क्रूर वास्तविकताओं का उद्घाटन करके, उस पर कला की भाषा में प्रहार करके समूचे जन-साधारण की स्वतन्त्रता के दायरे को बढ़ाने में योग देता है, जिससे हर 'व्यक्ति' की स्वतन्त्रता का दायरा बढ़ता है, जिनमें 'लेखक' भी शामिल है। समाज में जब इतना दुःख-दैन्य हो, इतनी अशिक्षा और ग़रीबी हो, इतना अन्याय और शोषण हो, तब अलग से 'लेखक की स्वतन्त्रता' सिद्ध नहीं हो सकती, न भावना के स्तर पर जन-साधारण के संघर्षों, प्रगतिशील आकांक्षाओं और लक्ष्यों से उदासीन और असम्बद्ध रहकर ही लेखक ऐसी प्रेरणादायी, मूर्त और मांसल कला-कृतियों की रचना कर सकता है, जो मनुष्य का सौन्दर्य-बोध बढ़ाने के साथ ही चेतना-विकासी भी हों।

पूँजीवादी व्यवस्था में 'लेखक की स्वतन्त्रता' की माँग का अर्थ ही यह है कि लेखक को इस बात का अधिकार हो कि वह शोषित-पीड़ित जनसाधारण की प्रगतिशील, मुक्तिकामी आकांक्षाओं और संघर्षों, उसके दुःख-दर्द को कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके, अन्यायपूर्ण मानव-सम्बन्धों, जर्जर रूढ़ियों, नैतिक मान्यताओं और अबुद्धिवादी विचारपद्धतियों की खुलकर आलोचना कर सके और अपनी कला से नये, उच्चतर मानव-मूल्यों की सृष्टि कर सके। यानी 'लेखक की स्वतन्त्रता' और 'लेखक की प्रतिबद्धता' दो परस्पर-विरोधी विचार-सूत्र नहीं हैं, बल्कि प्रगतिशील सामाजिक उद्देश्यों के प्रति 'प्रतिबद्धता' ही 'लेखक की स्वतन्त्रता' की माँग को गरिमा और सामाजिक औचित्य प्रदान करती है।

लेकिन पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में 'लेखक की स्वतन्त्रता' के प्रश्न को एक सीमित व्यक्तिपरक अर्थ में भी देखा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में फ्रान्स के रिम्ब्राँ, बोद्‌लियर, मलार्मे आदि कवियों ने 'कला के लिए कला' का जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलन चलाया था और उसके फलस्वरूप प्रतीकवाद, बिम्बवाद, अभिव्यंजनावाद आदि योरुपीय काव्य में जो अनेक प्रवृत्तियाँ मुखरित हुईं, वे आरम्भ में साहित्य और लेखन के क्षेत्र में पूँजीवादी व्यावसायिकता के बढ़ते हुए संक्रमण के विरुद्ध, जिसने कलाहीन, प्रकृतवादी उपन्यासों और घिसी-पिटी पद्धति की कविता को कमाई का साधन बना रखा था, संवेदनशील, किन्तु आत्मनिष्ठ रचनाकारों के विद्रोह के रूप में प्रकट हुई थीं।

दुर्भाग्य से यह विद्रोह भाषागत प्रयोगों तक ही सीमित रह गया, जिससे सूक्ष्म भावाभिव्यंजन के नये, अपरिचित सीमान्त तो खुले, लेकिन पूँजीवादी व्यावसायिकता को इस वर्ग की रचनाओं ने न कोई क्षति पहुँचाई और न जन-साधारण में उसके विरुद्ध चेतना ही जगाई। इसके विपरीत, अपनी कला के प्रति पूँजीवादी समाज की व्यंग्यपूर्ण उपेक्षा से इस वर्ग के संवेदनशील लेखक और भी आत्मनिष्ठ होते गये और आगे चलकर उनका व्यक्तिवाद सामाजिक चेतना, सामाजिक जीवन और सामाजिक दायित्वों से विमुख होने को ही 'लेखक की स्वतन्त्रता' की आधारशिला मानने लगा। कलावादियों के 'व्यावसायिकता से विद्रोह' की परिणति जाकर हुई समाज से विद्रोह में, यानी प्रगतिशील सामाजिक लक्ष्यों से लेखक की असम्बद्धता के नारे में। इस दयनीय परिणति के लिए इस वर्ग के लेखकों की आत्मनिष्ठा और व्यक्तिवाद के अलावा, साहित्य और कला को व्यवसाय की वस्तु बनाने वाले प्रकाशकों, फ्रायडीय मनोविज्ञान, अस्तित्ववादी दर्शन और शीतयुद्ध की रणनीति के अनुसार विभिन्न देशों में 'सांस्कृतिक स्वतन्त्रता' और 'प्रजातान्त्रिक रिसर्च' या ऐसे ही आकर्षक नामों से स्थापित प्रचार-केन्द्रों, उनके द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं और सेठाश्रयी अखबारों की ज़िम्मेदारी भी कुछ कम नहीं है। कोरी व्यावसायिकता के युग में पहले घटिया किस्म के लेखक ही फ़रमायशी साहित्य की रचना करते थे लेकिन अब विश्व में समाजवादी विचारधारा के बढ़ते हुए प्रभाव और एशिया-अफ्रीका में प्रगतिशील, मानववादी जीवनादर्शों और प्रजातान्त्रिक लक्ष्यों के अनुकूल अपने पिछड़े आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का पुनर्निर्माण करने में संलग्न जनता की शान्ति-समर्थक नीति से उत्पन्न खतरे से, जो उनकी दृष्टि में लेखक को इन आदर्शों से बलात् सम्बद्ध करके उसके 'व्यक्तित्व' और उसकी 'स्वतन्त्रता' का अपहरण कर लेती है, पुरानी पीढ़ी के अनेक 'क्रान्तिकारी' लेखक और नई पीढ़ी के अनेक 'संवेदनशील' रचनाकार अपने 'व्यक्तित्व' और 'लेखन की स्वतन्त्रता' की रक्षा के लिए 'फ्री-वर्ल्ड' के संरक्षक अमरीकी सैनिक अड्डों की तरह दुनिया-भर में फैले शीत-युद्ध के प्रचार-केन्द्रों में जाकर शरणागत बने हैं। प्रतिभा और स्टेट्स के अनुसार इनमें बख्शीश, वेतन और वज़ीफ़े के रूप में जिसको जितना अधिक धन बाँटा जाता है, जनता की बर्बर, 'टोटेलिटेरियन' शक्तियों और प्रवृत्तियों से 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' और 'आधुनिक सभ्यता' और 'संस्कृति' के लिए उत्पन्न खतरे के प्रति उसमें उतना ही अधिक अहसास बढ़ जाता है। और वह इन प्रचार-साधनों के माध्यम से ऐसे वातावरण की सृष्टि में लग जाता है, जिसमें क्या सच है, क्या झूठ है, क्या शुभ है क्या अशुभ है और क्या सुन्दर है, क्या असुन्दर है, साधारण व्यक्ति में इसका बोध और विवेक ही खो जाय और उसे सभी प्रकार की उदात्त, नैतिक, मानववादी भावनाएँ ऊपर से ओढ़ी हुई बाह्य आडम्बर-मात्र दीखने लगें—यानी अपनी मनुष्यता से ही उसका विश्वास उठ जाए।

निस्सन्देह, Money Writes !

कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह विश्लेषण राजनीतिक है और इसमें लेखक की स्वतन्त्रता और प्रतिबद्धता के प्रश्न को साहित्य के सन्दर्भ में देखने का प्रयास नहीं किया गया। लेकिन हमारी कठिनाई यह है कि लेखक की 'स्वतन्त्रता' को लेखक के सामाजिक 'दायित्व' या उसकी 'प्रतिबद्धता' के विरोध में बलात् खड़ा करके, जैसे दोनों परस्पर-विरोधी स्थितियाँ हों—जिन्होंने पिछले पन्द्रह वर्षों से, अपने वक्तव्यों, विवेचनाओं और रचनाओं द्वारा, मनुष्य की प्रेम, न्याय, त्याग, करुणा-जैसी मानवीय भावनाओं और साहित्य और कला की उन सभी प्रवृत्तियों और विचार-धाराओं और कला-सर्जन की उन सभी प्रक्रियाओं और पद्धतियों की लगातार खिल्ली उड़ाई है, जिनमें सामाजिकता की ज़रा भी गंध मिलती है, उन्होंने अपने समाजवाद (और हमारे देश में नेहरू की निष्पक्षता और शान्ति की नीति)-विरोधी शीत-युद्धीय राजनीतिक मन्तव्यों को छिपाने की कभी कोशिश नहीं की। 'एन्काउन्टर' और 'क्वेस्ट', 'धर्मयुग' और 'ज्ञानोदय' तथा अन्य सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में अकसर प्रकाशित होने वाली ऐसी रचनाएँ और वक्तव्य इस बात के प्रमाण हैं। इसलिए इस प्रश्न के राजनीतिक सन्दर्भ को इस युग के वास्तविक संघर्ष की पृष्ठभूमि में पेश करने की जरूरत थी।

अन्यथा, अगर केवल साहित्य और कला के सन्दर्भ में ही देखा जाय तो हमारी मान्यता है कि 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' जीवन का सर्वोच्च मूल्य है। आदिकाल से मानववादी विचारधाराएँ और दर्शन इस बात को स्वीकार करते आये हैं। लेखक और कलाकार का कार्य चूँकि 'रचनात्मक' होता है, इसलिए उसकी 'स्वतन्त्रता' और भी अधिक स्पृहणीय है।

साहित्य और कला के इतिहास से यह भी प्रमाणित है कि उसमें मूलतः यथार्थवादी और कल्पनावादी—साहित्य में रोमाण्टिक और चित्रकला में अमूर्त—ये दो प्रवृत्तियाँ, कला-निर्माण की ये दो वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ सौन्दर्य-दृष्टियाँ ही किसी-न-किसी रूप में अपने को दोहराती आई हैं, कभी एक, दूसरी की प्रतिक्रिया के रूप में उभरी है, कभी दोनों समानान्तर चली हैं, कभी दोनों की सीमाएँ एक-दूसरे में घुलमिल गई हैं तो कभी दोनों में ज़ोर की टक्कर और विरोध भी हुआ है। और यद्यपि 'आज' की स्थिति में हम चाहे 'यथार्थवादी' प्रवृत्ति को अधिक उपयुक्त मानते हों, लेकिन रोमाण्टिक साहित्य या अमूर्त कला से हमारा कोई विरोध नहीं है। न वे हमें अरुचिकर लगती हैं और न अपने-आप में ह्रासोन्मुखी (डिकेडेण्ट) ही। दोनों में से कोई भी प्रवृत्ति देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों में विकृत होकर ह्रासोन्मुखी भूमिका अदा कर सकती है।

हमारी यह भी मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति आत्मनिरपेक्ष इकाई नहीं है, न परम्परा से असम्बद्ध हो सकता है। दरअसल, हर व्यक्ति जन्म के साथ ही एक संश्लिष्ट कड़ी के रूप में—ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों के ताने-बाने से बुनी परम्परा का वाहक होता है। इस परम्परा और विरासत से वह चाहकर भी मुक्ति नहीं पा सकता। अन्तरस्थ विरासत का यह बीज ही प्रस्फुटित होकर व्यक्ति की कला को सचाई, गहराई और मौलिकता प्रदान करता है। इस अन्तरस्थ विरासत को खोजने-पहचानने की दीर्घ कला-साधना के मार्ग में हम नहीं चाहते कि किसी भी लेखक या कलाकार को किसी प्रकार की बाधा का सामना करना पड़े। उस पर केवल राष्ट्रीय, जातीय या लोक-साहित्य या कला को ही आदर्श मानकर चलने का कोई दुराग्रह या प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे अपनी आन्तरिक रुचि के अनुसार विश्व-साहित्य और कला में जो सर्वश्रेष्ठ है—आज या गत युगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में—उसकी उपलब्धियों और अनुभवों को आत्मसात करने और ग्रहण करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए, ताकि वह राष्ट्रीय विरासत को नया रूप और नई अभिव्यक्ति देकर समृद्ध कर सके; ताकि वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शेक्सपियर की तरह 'राष्ट्र-कवि' भी बन सके और 'विश्व-कवि' भी।

साहित्य समाज का दर्पण और जीवन की आलोचना है—ये पुरानी मान्यताएँ आज भी सही हैं और किसी भी समाज-व्यवस्था में सही रहेंगी। इस दर्पण को मैला करने का अधिकार न लेखक या कलाकार को है और न समाज-व्यवस्था को ही। यानी लेखक और कलाकार की जीवन-सत्य को प्रतिबिम्बित करने की स्वतन्त्रता के हम हामी हैं—बल्कि लेखक से अगर कोई आग्रह है तो यह कि हर परिस्थिति और हर समाज में वह जीवन की वास्तविकता को कलात्मक अभिव्यक्ति दे। ऐसी हर कलात्मक अभिव्यक्ति अनिवार्यत: जीवन की—जीवन को कलुषित, क्षुद्र, अनैतिक, अभाव-ग्रस्त, पाशविक या हिंस्र बनाने वाली प्रवृत्तियों, समाज-व्यवस्थाओं, विचारधाराओं और नीतियों की—आलोचना होती है, स्पष्ट नहीं तो संकेत रूप में। इसलिए उन्नीसवीं शती के महान् यथार्थवादी उपन्यासकारों की तरह, आज भी लेखक निर्भीक भाव से 'सत्य' को रूपायित करें, पूँजीवादी जगत् में ही नहीं, समाजवादी देशों में भी, इससे किसी विचारशील व्यक्ति को आपत्ति नहीं हो सकती।

जिन देशों में व्यक्तिवाद और अस्तित्व-दर्शन ने व्यक्तियों के बीच अहं की दुर्लंघ्य दीवारें खड़ी कर दी हैं और उनमें अपने सुख-दुःख का विनिमय बन्द हो गया है, उनकी सर्जना चाहे व्यापक सामाजिक उद्देश्यों से उद्बुद्ध और उत्प्रेरित न हो पाती हो और उन्हें कामू की तरह लगता हो कि जीवन भी व्यर्थ है और मृत्यु भी व्यर्थ है और यह व्यर्थता की भावना भी व्यर्थ है, और अपने आप से बाहर किसी अन्य की बात सोचना भी 'प्रतिबद्धता' है जो लेखक की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाती है, लेकिन हमारे देश की परम्परा और परिस्थितियाँ इससे मूलत: भिन्न हैं। दीर्घकालीन गुलामी के दौर में रहने के कारण हमारे देश के ईमानदार लेखकों के लिए 'असम्बद्ध' रहकर ऐसी 'स्वतन्त्रता' की कल्पना भी सम्भव नहीं है जो समाजवाद, प्रजातन्त्र और विश्व-शान्ति-जैसे मान्य राष्ट्रीय लक्ष्यों के विरोध में साम्राज्यवादियों के शीत-युद्धीय घृणा-प्रचार का प्रच्छन्न साधन हो।

शिवदानसिंह चौहान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त-विवेचन

हजारीप्रसाद द्विवेदी

सिसृक्षा का स्वरूप—छंद

: २ :

ऊपर हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है (आलोचना २८) कि साधारण गद्यात्मक भाषा में हमें दो प्रकार के अनुशासनों को मानकर चलना पड़ता है—(१) बाह्यजगत् के तथ्यों का और (२) भाषा के व्याकरण और वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी नियमों का। काव्य में एक तीसरा अनुशासन भी है। वह छन्द का, लय का, संगीत का। जो कोई यह दावा करता है कि वह इस तीसरे अनुशासन की उपेक्षा करके भी काव्य लिख सकता है वह ग़लत दावा करता है। या तो उसका ऐसा प्रयत्न काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है या यदि है तो वह छन्द का अनुशासन मानकर चलता है। जो लोग आए दिन उच्च कण्ठ से यह घोषणा करते रहते हैं कि आज की कविता छन्द के बन्धन से मुक्त हो गई है वह वस्तुतः यह कहना चाहते हैं कि उनकी कविता पुराने छन्दःशास्त्रियों द्वारा निर्धारित रूढ़ियों से मुक्त हो गई है। पुराने छन्दःशास्त्रियों ने जो नियम बनाये हैं वे शाश्वत नहीं हैं। न तो वे सभी भाषाओं पर लागू होते हैं न सभी समय में। भाषा मनुष्य के साथ-ही-साथ विकसित होती जा रही है। उसमें नये उपादान आते रहते हैं और बहुत-से पुराने उपादान झड़ते रहते हैं। कालान्तर में वह नयी भाषा के रूप में प्रकट होती है, उसके बोलने और पढ़ने के ढंग में परिवर्तन होते रहते हैं और उसकी स्वर-मैत्री और काकु-विधि में भी अन्तर आता रहता है। नवोदित भाषा में छन्द खोजने के नये प्रयास करने पड़ते हैं। प्रतिभाशाली कवि ही ऐसा कर सकते हैं। नये छन्दों के समझने में साधारण मनुष्य को—विशेषकर जब वह पुरानी पद्धति से परिचित हो—कठिनाई होती है परन्तु धीरे-धीरे उसमें नये छन्द के परिशंसन का अभ्यास होता है। वह घबराकर इसे 'विद्रोह' भी कहता है। परन्तु नवोदित भाषा की स्वर-मैत्री का सन्धान गुण है, निषेधात्मक धर्म नहीं। क्यों यह गुण है, क्यों यह मनुष्यमात्र को प्रभावित करने में समर्थ होता है, यह संगत प्रश्न है।

एक प्रश्न और है। हमने यह भी देखा है कि मनुष्य की बुद्धि ने कलाओं के विशुद्ध रूप में बहुत मिश्रण किया है। कविता (और साधारण गद्यात्मक भाषा भी) कानों का विषय है। वह कालवर्तिनी है और श्रव्य है। चित्रकला देशवर्तिनी और दृश्य है। एक गतिशील है, दूसरी स्थितिशील। परन्तु मनुष्य की बुद्धि ने भाषा को भी (और साथ-साथ कविता को भी) दृश्य और स्थितिशील बनाने का प्रयत्न किया है। लिखकर विविध अक्षर-प्रतीकों के द्वारा भाषा को नयनेन्द्रिय का विषय बनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। यह कठिन कार्य है। उच्चारित वर्णों को लिपिबद्ध करने का प्रयास बहुत सफल नहीं हुआ है। उच्चारित भाषा में प्रकट किए जाने वाले बलाघात और आवेग कम्पन लिपिबद्ध भाषा से ग़ायब हो जाते हैं। कविता में तो और भी विकट समस्या है क्योंकि कविता की भाषा का प्राण ही आवेग है। बहुत पुराने ज़माने से नाना चिन्हों के द्वारा उस बलाघात और आवेग कम्पन को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है। वैदिक मन्त्रों में उदात्त और अनुदात्त आदि के चिन्हों का समावेश इसी प्रयत्न का परिणाम है। आधुनिक भाषा में विराम के, आवेग के, प्रश्न के, स्पष्टीकरण के विभिन्न चिन्हों का व्यवहार करके वक्ता के वक्तव्य को ठीक-ठीक अंकित करने का प्रयत्न किया जाता है पर प्रयत्न आंशिक रूप में ही सफल हो पाया है। कविता में इस प्रकार के प्रयत्न अधिक असफल सिद्ध हुए हैं। पर कवि रुका नहीं, सहृदय पाठक भी अपने प्रयत्नों से विरत नहीं हुआ है।

यह प्रश्न संगत है कि क्यों इस प्रकार के प्रयत्न पूर्णतः सफल नहीं हुए। इसका प्रमुख कारण यह है कि व्यक्ति मानव के चित्र में उठनेवाले आवेगों की अनन्त श्रेणियाँ हैं, समष्टि मानव-चित्त के साधारणीकृत प्रतीक-चिन्ह बहुत थोड़े हैं। उनकी संख्या बढ़ती जा रही है पर सब कुछ इनमें समा नहीं पाता। कभी-कभी धन, ऋण या गुणन के चिन्हों के द्वारा आवेग का दैर्घ्य सूचित करने का प्रयास भी किया जाता है। पर ये भी अन्ततोगत्वा साधारणकृत चिन्ह ही सिद्ध होते हैं। व्यष्टिचित्त का विशेषीकृत आवेग समष्टि चित्त के लिए ग्रहणीय बनाना कठिन कार्य है। न जाने कब से मनुष्य व्यष्टि-चित्त के विशेषीभूत अनुभवों के साधारणीकरण का प्रयत्न करता आ रहा है। इससे भाषा में सूक्ष्म भावव्यंजक शब्दों की वृद्धि होती जा रही है परन्तु अन्तिम विश्लेषण से जाना जाता है कि समष्टि-चित्त की स्वीकृति प्राप्त होने के बाद विशिष्ट भावों के भी जातिवाचक शब्द ही बन पाते हैं। 'ईर्ष्या', 'असूया' आदि शब्द अनेक प्रकार के विशिष्ट भावों के साधारणीकृत प्रतीकमात्र सिद्ध हुए हैं। कवि जब इन शब्दों के द्वारा अपने चित्त की कोई विशिष्ट अनुभूति बताने का प्रयास करता है तो पाठक एक सामान्य भाव ही ग्रहण कर पाता है जो कवि-चित्त की विशिष्ट अनुभूति के थोड़ा दायें-बायें या ऊपर-नीचे तक पहुँच पाता है। बहुत कम पाठक उसके सही-सही सटीक भाव को पकड़ने में समर्थ होते हैं। जो लोग समझते हैं—अर्थात् कवि के हृदय के साथ जिनका हृदय एकाकार हो सकने में समर्थ होता है—उन्हें लोक में 'सहृदय' कहा जाता है। कुछ 'सहृदय' ऐसे भी होते हैं जो कवि के प्रयुक्त शब्दों को 'ठीक-ठीक' समझाने का प्रयत्न करते हैं। सब समय 'सहृदय' होने का दावा करने वालों के मत मिलते नहीं, अर्थात् जो बात अस्पष्ट थी वह अस्पष्ट ही रह जाती है! नये सहृदय इन पुराने सहृदयों की बातों की व्याख्या का प्रयत्न करने लगते हैं। यदि कवि सचमुच उत्तम श्रेणी का होता है तो यह परम्परा दीर्घकाल तक चलती रहती है।

ये प्रयत्न क्या निरर्थक पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र हैं या इनकी गहराई में कोई ऐसी व्याकुलता है जिसे रोका नहीं जा सकता—'दुर्निवार'—है? कवि अपनी विशिष्ट अनुभूति के साधारणीकरण का प्रयत्न क्या करता है, सहृदय पाठक उसकी विशिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूतियों को और भी अधिक 'हृदयंगम' कराने का प्रयास क्यों करता है और उसकी असफलता को जानते हुए भी परवर्ती सहृदय पुनः प्रयास (या और भी ठीक से कहा जाय तो 'पुनः पुनः प्रयास') क्यों करते हैं ? क्या यह उचित न होता कि कवि अपने विशिष्ट अनुभवों को अपने तक ही सीमित रखता और यदि वह ग़लती से प्रकट करने का प्रयास भी करता तो उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता और दुनिया को अपने रास्ते चलने को छोड़ दिया जाता ? कठिनाई यह है कि दुनिया छूटना नहीं चाहती और कवि और सहृदय उसे छोड़ना नहीं चाहते। कवि भी व्याकुल और लाचार है, सहृदय भी व्याकुल और लाचार है और दुनिया भी व्याकुल और लाचार है। इतनी व्याकुलता का कारण क्या है ! इस प्रश्न के उत्तर में ही सिसृक्षा के उस रचनात्मक स्वरूप का रहस्य उद्घाटित होगा जिसे 'छन्द' कहा जा सकता है।

कहीं-न-कहीं मानवचित्त की गहराई में कुछ ऐसा है जो अपने विशेष अनुभवों को सर्व-सुलभ बनाने और दूसरे लोगों के अनुभव को ग्रहण करने के लिए व्याकुल है। बहुत प्राचीन काल से मनुष्य इस बात को नाना रूप में कहता आ रहा है। एक प्रचलित मत यह है कि मनुष्य अपने व्यष्टि-रूप में अलग ज़रूर है पर वस्तुतः वह समष्टि-मानव का एक अंग है, इस समष्टि-रूप (जिसे कभी-कभी 'कामन ह्यूमैनिटी' भी कहा जाता है) की सही-सही जानकारी प्राप्त करने के लिए व्याकुल है। भारतवर्ष के प्राचीन आचार्य और भी आगे बढ़कर कह गए हैं कि वस्तुतः 'एक' से अनेक उत्पन्न हुए हैं और अनेकता या नानात्व के भीतर अब भी पुनः 'एक' होने की व्याकुलता है। नानात्व की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति ग़लत ज्ञान या अविद्या का परिणाम है और 'एक' हो जाने की प्रवृत्ति सही ज्ञान या विद्या से पैदा होती है। जब सही ज्ञान का आनन्द अनुभव होता है तो मनुष्य उसे शब्दों के, रंगों के, और रूपों के माध्यम से प्रकट करता है। जितना ही वह गहरा गोता लगाता है उतना ही बहुमूल्य रत्न उसके हाथ लगता है ! ग़लत जानकारी की अवस्था में वह कृपण की भाँति इन रत्नों को छिपा के रखता है। सही जानकारी होने पर वह दोनों हाथों लुटाने में आनन्द पाता है। कहा गया है कि अन्तिम बहुमूल्य रत्न वह जब प्राप्त करता है तो वस्तुतः चराचर जगत् में अपने को ही पा जाता है और उस आनन्द को लुटाने में वह अपने-आपको ही लुटा देता है। अपने-आपको लुटाने का आनन्द ही चरम आनन्द है। जब तक भेद बुद्धि बनी रहती है तब तक अपने-आपका अधिकांश हिस्सा रोक लिया जाता है, जब समाप्त हो जाती है तो कुछ भी छिपाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अपने को निःशेष भाव से दे देने के रास्ते में अनेक बाधाएँ हैं। उन बाधाओं पर विजयी होने की सफलता के अनुपात में ही मनुष्य की चरितार्थता का हिसाब किया जा सकता है। बड़ा वह है जो दे सकता है, सबसे बड़ा वह है जो अपने-आपको निःशेष भाव से लुटा देता है। अपभ्रंश के कवि ने सामान्य लोकनीति की बात कहते समय कहा था—

साहु विलोउ तडप्फडइ बड्डु तणहो तणेण।
बडप्पणु पुणु पाइयइ हत्थेंहि मोग्गलिदेण।

[सब लोग बड़प्पन पाने के लिए तड़फड़ाते हैं पर बड़प्पन हाथ के खुले रखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अर्थात् लुटाते रहने से, प्राप्त होता है !]

यही बात सौन्दर्यान्वेषियों के लिए ज़रा बदलकर कही जा सकती है। लोक में बड़प्पन पाने का मार्ग है अपनी सम्पत्ति को उचित भाव से लुटाना लेकिन सुकुमार भाव-जगत् में अपने-आपको लुटाने से ही वह प्राप्त होता है। लेकिन यह भी 'साधारण' सत्य है। इसके भी अनेक भेद हैं। काव्य और अन्य शिल्पों के माध्यम से अपने-आपको देना एक विशेष प्रकार का देना है। समाज-सेवक भी अपने को देता है, भक्त भी देता है, तत्त्वज्ञानी भी देता है। इसीलिए आत्मदान एक सामान्य धर्म है, जातिवाचक संज्ञा है। हमें यहाँ कला के माध्यम से किए गए आत्मदान को समझना है।

साधारण मनुष्य की भाँति कवि और कलाकार भी जानता है और अपनी जानी हुई बात को दूसरों तक पहुँचाता है। परन्तु जानकारी के कई स्तर हैं। कुछ जानकारियाँ केवल जड़-जगत् के विषय में सूचना-मात्र होती हैं। उनके द्वारा भी मनुष्य को परिवर्तित किया जाता है। हर नई जानकारी से परिप्रेक्ष्य में कुछ-न-कुछ अन्तर आता है और हर परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के कुछ-न-कुछ भिन्न रूप में दिखने की सम्भावना होती है। कुछ जानकारियाँ प्राणों के व्याकुल आवेग के बारे में होती हैं, वे सुनने वाले के प्राण-स्तर को परिवर्तित करने में समर्थ होती हैं। बहुत-से कवियों में प्राणतत्त्व को हिल्लोलित करने की शक्ति होती है। वे प्राणतत्त्व की पुकार को प्राणतत्त्व तक पहुँचाते हैं। उनसे श्रोता की नसों में झनझनाहट पैदा होती है। फिर, और भी सूक्ष्म जानकारी वह होती है जो मानसिक स्तर पर अनुभूत होती है और श्रोता को मानस-स्तर पर ही आन्दोलित करती है। और भी गहराई में बौद्धिक स्तर की अनुभूति और उसी को प्रभावित करने वाली जानकारियाँ हैं। परन्तु उससे भी सूक्ष्म वे जानकारियाँ हैं जो आध्यात्मिक कही जाती हैं। वे श्रोता को भी उसी स्तर पर अभिभूत करती हैं।

इस प्रकार समूची जानकारी मोटे तौर पर पाँच स्तरों में विभाजित की जा सकती है। ये हैं—जड़तत्त्व, प्राणतत्त्व, मनस्तत्त्व, बुद्धितत्त्व और अध्यात्मतत्त्व के स्तर। सभी स्तरों पर यह जानकारी दो प्रकार की होगी। घटिया क़िस्म की या अविद्याजन्य और बढ़िया क़िस्म की अर्थात् विद्याजन्य। घटिया क़िस्म की जानकारी या भ्रामक जानकारी की विशेषता यह होती है कि वह ज्ञाता के चित्त में अपने को समस्त जगत्-प्रवाह से अलग समझने की बुद्धि जागृत करती है। इस अलगाव की प्रवृत्ति को ही शास्त्रीय ग्रन्थों में 'अहंकार' कहा गया है। सही जानकारी या सच्ची विद्या अहंकार या अलगाव बुद्धि को समाप्त करती है और ज्ञाता को जगत्-प्रवाह के साथ एकमेव होने की वृत्ति जगाती है। जितनी ही अधिक यह वृत्ति जागती है उतनी ही अधिक जानकरी चरितार्थ होती है और उसी मात्रा में उसका सम्प्रेषण उत्तम कोटि का होता है। परन्तु सभी जानकारियों का सम्प्रेषण कला की कोटि में नहीं आता, क्योंकि सभी जानकारियों का देना 'आत्मदान' नहीं होता। अधिकांश ज्ञान सूचनामात्र बनकर सम्प्रेषित होते हैं। 'रचना'-रूप में बदले बिना वे कला की कोटि में नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आते। सूचना, रचना बनकर जब सम्प्रेषित होती है तो ग्रहीता को आन्दोलित और चालित करती है। सूचना केवल ज्ञान की गतिहीन छाप-मात्र है। छन्द के सहारे वह गतिशील होती है—'स्वच्छन्द' चारिणी बनती है। संगीत में, काव्य में, चित्र में, मूर्ति में छन्द का योग होने से गति आती है, प्राण आता है, प्रेषण-वेग आता है। 'छन्द' शब्द का प्रयोग यहाँ बहुत व्यापक अर्थों में किया जा रहा है। उसमें राग, लय, वेग, आवेग सभी का समावेश हुआ है। यह 'छन्द' विश्वव्यापी 'इच्छा'-शक्ति के साथ ताल मिलाकर चलने वाला गति-मात्र या वेग-मात्र (विशुद्ध गति) है। छन्द अर्थात् मनोयोग इच्छा। शास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ थोड़े से छन्दों के नाम गिनाए जाते हैं, वे केवल इंगित मात्र हैं। सब-कुछ वे नहीं हैं, अधिकांश भी नहीं।

ऊपर बहुत-सी बातें एक ही साँस में कह दी गई हैं और अस्पष्ट-सी लगती हैं। उनको अलग विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ स्थान संकोच है इसलिए थोड़े में इस प्रकार स्मरण किया जा सकता है। चेतन प्राणी में—विशेष रूप से मनुष्य में—ज्ञान के तुरन्त बाद इच्छा और प्रयत्न (क्रिया) नाम की दो असमानान्तर शाखाएँ फूटती हैं। 'इच्छा' चेतना के विभिन्न स्तरों पर शब्द (नाद), गति, स्वर आदि के रूप में अभिव्यक्ति पाती है और प्रयत्न या क्रिया विभिन्न स्तरों पर अर्थ (बिन्दु), स्थिति, ताल आदि के रूप में अभिव्यक्ति पाती है। केवल गति, रूप नहीं बन सकती, अनुभवगम्य नहीं हो सकती। स्थिति के द्वारा नियन्त्रित होकर ही वह रूपायित होती है, अनुभव का विषय सिद्ध होती है। स्थिति (ताल, यति, अर्थ) द्वारा नियमित गति से रूपायित होने की प्रक्रिया का ही व्यापक नाम 'छन्द' है। वह भी इच्छा ही है, परन्तु इच्छा की तुलना में वह कम व्यापक है। इच्छा का केवल रचनात्मक रूप छन्द है। जो इच्छा ज्ञान के सूचनात्मक रूप का सम्प्रेषण करती है वह अर्थ या स्थिति की ओर अधिक झुकी होती है, जो रचनात्मक रूप का सम्प्रेषण करती है वह छन्द का रूप ग्रहण करती है। छन्द का सहारा पाकर ही सूचना, रचना बनती है। छन्द ही सिसृक्षा या सर्जनेच्छा है।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री 'आर्ट इम्पल्स' नाम देकर इस छन्दोरूपा इच्छा का स्वरूप समझाने का प्रयत्न करते हैं। साधारणतः इस कला-सिसृक्षा के मूलानुसन्धान के लिए आधुनिक युग में तीन प्रकार के प्रयोगों का सहारा लिया गया है—(१) बालकों की रचना-प्रक्रिया का अध्ययन, (२) आदिम अवस्था में विद्यमान जातियों की कला-प्रवृत्तियों का अध्ययन और (३) बड़े-बड़े कलाकारों की स्वयं कही उक्तियों का अध्ययन। इन अध्ययनों से विभिन्न मनीषी बड़े अद्भुत और उपयोगी किन्तु परस्पर-विरुद्ध-से दिखने वाले नतीजों पर पहुँचे हैं। (१) शिलर और स्पेन्सर जैसे मनीषियों का कहना है कि यह कला-सिसृक्षा मानव-मन की लीलावृत्ति या क्रीड़नेच्छा की उपज है। (२) कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि यह वृत्ति परप्रसादन द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करने की इच्छा का दूसरा रूप है। बताया गया है कि मार्शल ऐसा ही मानते हैं। (३) यह भी कहा गया है कि यह आत्मप्रदर्शन का ही एक रूप है और वाल्डविन इस मत के प्रवर्तक हैं। (४) लेंगफील्ड जैसे विचारकों ने इसे क्रीड़नेच्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दूसरों को आकर्षण करने योग्य आत्मप्रदर्शन का मिलित रूप माना है। (५) कुछ लोग इसे मनुष्य में विद्यमान रचनात्मक वृत्ति का उन्नयन मानते हैं। (६) और दूसरे लोग (फ़ायड आदि) इसे कामवृत्ति से उत्पन्न मनोग्रन्थियों का उन्नयन समझते हैं। जिन लोगों ने आदिम जातियों की कला प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है वे समझते हैं कि आदि मानव की कला-सिसृक्षा सोद्देश्य थी। यह या तो मौन-आकर्षण के लिए या विभिन्न आवश्यक वस्तुओं की अभिवृद्धि कामना से प्रेरित थी। पर इन मतों की जाँच की जाय तो वे मूल कला-सिसृक्षा के भिन्न-भिन्न पहलुओं की पहचान मात्र सिद्ध होंगे।

कला-सिसृक्षा 'सुन्दर' की रचना करती है। 'सुन्दर' क्या है। मैंने 'कालिदास लालित्य-विधान' नामक अपने एक अन्य लेख में जो लिखा था, उसे यहाँ उद्धृत करना असंगत नहीं होगा :

"पश्चिम के कितने ही मनीषियों ने व्यक्ति-चित्त की इच्छा को ही सौन्दर्य का मुख्य हेतु माना है। कहते हैं कि स्पिनोज़ा जैसे मनीषी ने भी कहा था कि हम किसी वस्तु को अच्छी इसीलिए नहीं कहते कि वह अपने-आपमें सचमुच अच्छी है, बल्कि इसलिए कहते हैं कि हम उसे चाहते हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु को हम इसलिए सुन्दर नहीं कहते कि वह अपने-आपमें सुन्दर है बल्कि इसलिए कि हम उसे चाहते हैं, वह हमारी इच्छा-शक्ति की गति के अनुकूल हुआ करती है। इस युग के अन्यतम मनीषी नित्से कह गए हैं कि सुन्दर और असुन्दर की धारणा प्राणतत्त्व की माँग के अनुसार होती है, बॉयोलाजिकल है। हम चीनी इसलिए नहीं खाते कि वह मीठी होती है बल्कि वह इसलिए मीठी लगती है कि वह हमारे प्राणतत्त्व की माँग पूरी करती है, उसमें शक्ति देने का गुण है जो हमारी जिजीविषा के लिए आवश्यक है। असुन्दर वह है जो हमारी जिजीविषा के प्रतिकूल होती है। हमें प्रसन्न और मोहित वह वस्तु करती है जो हमारी प्राणशक्ति की पोषक है, दुर्दम जिजीविषा के अनुकूल है। इस प्रकार के विचारों से समस्या उलझती गई है यद्यपि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इससे व्यक्तिगत इच्छा की महिमा व्यक्त होती है। इस प्रकार की वैयक्तिक इच्छा का कोई अन्त नहीं है। इससे एक प्रकार की अनवस्था की बात उठती है। 'सुन्दर' का कोई निश्चित रूप स्थिर नहीं हो पाता। हर आदमी को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु को सुन्दर और किसी को असुन्दर कहने की छूट मिल जाती है। इस दोष से बचने के लिए दीर्घकालीन आदत, एक ही परिस्थिति में बसने वाली मानव-मण्डली के सामान्य अनुभव आदि बातों की कल्पना करनी पड़ती है। कालिदास के विचार इससे मिलते-जुलते होने पर भी इससे भिन्न हैं। वे व्यक्ति-इच्छा को समष्टि-व्यापिनी इच्छा का विशिष्ट रूप मानते हैं। समष्टि-इच्छा विश्व-व्यापिनी मंगलेच्छा के अनुकूल होने पर भी व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्ति-गत इच्छा उसके प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि-इच्छा चेतन धर्म है। जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है वही सुन्दर है। समष्टि चेतना सर्जनात्मक है—वह सिसृक्षा है। व्यक्तिगत इच्छा उससे अनुकूल रहकर ही चरितार्थ होती है। जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा में अज्ञान है, मोह है, परोत्सादनवृत्ति है वह पाप इच्छा है, वह चित्त में तमोगुण को उद्रिक्त करती है, जड़त्व से अभिभूत होती है, सौन्दर्य उसमें नहीं होता। रूप कभी पापवृत्ति को उकसावा नहीं देता। जो देता है वह रूप नहीं है :

'यदुच्यते पार्वति पाप-वृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।'

[हे पार्वति ! यह जो कहा जाता है कि रूप (सौन्दर्य) पापवृत्ति के लिए नहीं होता, यह वचन आज सही सिद्ध हुआ है।] जो रूप पापवृत्ति को उकसाता है वह जड़त्व की उपज है। वह तामसिक है, उसमें सत्वोद्रेक की शक्ति नहीं होती, इसीलिए वह 'सुन्दर' नहीं कहा जा सकता, व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति का साधन बनने पर भी।

कभी-कभी प्रकृति के सौन्दर्य-निर्माण और मनुष्य के सौन्दर्य-निर्माण में जो विरोध दिखाने का प्रयत्न किया जाता है वह दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानने का परिणाम है। प्रख्यात मनीषी एरिक न्यूटन ने इस विरोध को इस प्रकार प्रकट किया है—कलाकार की वृत्ति यह होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) मेरी इच्छा को सन्तुष्ट कर सकता है' और प्रकृति की वृत्ति यह होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) ठीक-ठीक उपयोगी हो सकता है' (दी मीनिंग ऑफ़ ब्यूटी, पृ० ८६)। कालिदास से पूछा जाता तो वे कदाचित् कलाकार की वृत्ति को इस प्रकार बताते कि 'एकमात्र यही आकार विश्वात्मा की मूल सर्जनेच्छा के अनुकूल है, दूसरा नहीं।' "

सही बात क्या है, यह शपथपूर्वक नहीं कहा जा सकता पर इतना असन्दिग्ध जान पड़ता है कि मनुष्य में अपनी विशिष्ट अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाने की लालसा दुर्निवार है। व्यक्ति-मानव एक-दूसरे से अलग दिखाई देता है पर यह दुर्निवार इच्छा उसे निरन्तर दूसरे व्यक्ति-मानवों से एकमेक हो पाने के लिए व्याकुल करती रहती है। वह अपनी विशिष्ट अनुभूतियों का साधारणीकरण करने को व्याकुल है। जो अदृश्य शक्ति व्यष्टि-मानव की पृथक्-पृथक् अनुभूतियों को साधारणीकरण या सामाजिकीकरण की ओर उन्मुख करती है उसी का नाम प्राचीनों ने 'छन्द' दिया था। एक समष्टिगत इच्छा शक्ति है जो समस्त भेदों को ढँककर आच्छादित किए है। छादन करने के कारण ही उसे 'छन्द' कहते हैं—'छादनात् छन्दांसि।' समष्टिगत छन्द सृष्टि के भिन्न-भिन्न दिखने वाले पदार्थों को छादन करके एक व्यापक सिसृक्षा के सूत्र में पिरोता है। भाषा में अक्षर अलग-अलग बिखरे हैं—असंश्लिष्ट हैं। उनको आच्छादन करके जो उन्हें धारा रूप में 'एक' की गति देता है वह भी छन्द है। जब व्यष्टि का छन्द समष्टिगत छन्द से ताल मिलाकर चलता है तो 'सुन्दर' की सृष्टि होती है, जब उससे विरुद्ध दिशा में जाता है तो 'कुत्सित' का जन्म होता है। बड़भागी मनुष्य को ही उस मूल छन्दोधारा की पहचान होती है। जिस समय वह पहचान जाता है उस समय ज़र्रे-ज़र्रे में उसे देख सकता है, हर चीज़ को वह छन्दोधारा के अनुकूल सजाकर सुन्दर बना सकता है। शब्द में, रेखा में, रंग में, वर्ण में, गन्ध में उस छन्द के परिचय के बल पर ही वह मैत्री और सामंजस्य का भाव ढूंढ़ लेता है। लेकिन छन्द की पहचान केवल आत्मदान की सामर्थ्य देती है, वह स्वयं आत्मदान नहीं है। अगले लेख में उस पर विचार किया जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—डॉ० बेचन

आधुनिकता और लोकचेतना

'आलोचना' त्रैमासिक के (२७ और २८ अंक) के सम्पादकीय अग्रलेखों में हिन्दी के प्रगतिशील आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान ने आधुनिकता के सम्बन्ध में बड़े ज़ोर-शोर से लेखकों और आलोचकों की राय को आमंत्रित किया है। नये लेखक, नये आलोचकों की माँग कर रहे हैं। नये लेखक अपने को आधुनिकता के अन्तर्गत समाता न देखकर नई कहानी, नई कविता और शायद नई आलोचना का सवाल पैदा कर रहे हैं। नये लोगों की शिकायत है कि पुरानी पीढ़ी के आलोचक उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। शिवदानजी ने इन सभी समस्याओं को समझा है और इसी प्रसंग को लेकर आधुनिकता के सम्बन्ध में कई सवाल उठाये हैं। उनका कहना है कि "माडर्न या आधुनिक की व्याख्या करनी होगी क्योंकि नई पीढ़ी में अधिकतर प्रगतिशील चेतना के जो लेखक हैं, वे भी अपने को मॉडर्न या आधुनिक दृष्टिकोण और जीवन-बोध से सम्पन्न बताते हैं और वे भी जो पाश्चात्य की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति की नक़ल करके मानव-द्रोही भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं—। मॉडर्न और मॉडर्निज्म का भेद भी, इसलिए स्पष्ट विवेचना की अपेक्षा रखता है।" यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि कोई भी साहित्य बिना लोकचेतना का स्पर्श किए जीवित नहीं रह सकता। छायावादी काव्य (छायावादी युग नहीं) के प्रति विद्रोह, अनास्था का मूल कारण यही था कि छायावादी काव्य लोक-चेतना का स्पर्श करने में अशक्त था। इसलिए उसका विरोध छायावाद के श्रेष्ठ कवियों ने भी किया। उसके स्थान पर नई कविताएँ लिखी गईं और प्रगतिवाद, जो लोक-चेतनावाद का एक प्रकार से पर्याय है, विकसित हुआ। किन्तु यह भी एक आश्चर्य की बात है कि लोक-चेतना का यह अभाव उस युग के गद्य-साहित्य यथा प्रेमचन्द प्रभृति कथाकारों की रचनाओं में कभी नहीं दिखाई पड़ा—जब कि आज, उस युग की तुलना में—काव्य और कथा दोनों में लोक-चेतना के अभाव से हम चिन्तित हैं। नये साहित्य के विरोध का एकमात्र यही कारण है। यदि ऐसी चिन्ता व्यक्त न की जाती तो नयी पीढ़ी के लेखकों को शायद अपनी शिकायत पेश करने के लिए कुछ नहीं रह जाता। नई पीढ़ी के इन लेखकों को अपनी इस विरासत से सीखना चाहिए, उन्हें यह सोचने की अवश्य चेष्टा करनी चाहिए कि शिल्प के साथ साहित्य के विषय भी बदलते हैं—अतएव शिल्प के साथ-साथ विषयों के चयन और उसका सर्जन-संगठन ही नये साहित्य, आधुनिक साहित्य का उद्देश्य होना चाहिए। शिवदानजी ने ठीक ही लिखा है—"नये को वास्तव में नया होना चाहिए। जीवन के ठोस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नों से सम्बन्धित, जीवन की नयी शक्तियों का प्रतिनिधि।" इसी प्रसंग में शिवदान जी ने एक दूसरी बड़ी बात कही है, जिसका सम्बन्ध नई और पुरानी पीढ़ी के लेखकों की आलोचकों के प्रति अभिव्यक्त दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। उपर्युक्त दो विरोध जो इन विवादों के बीच चलते हैं उससे दो प्रकार के निष्कर्ष भी निकलते हैं—जिनका नामकरण 'आधुनिक' और 'वर्तमान' के रूप में किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि ये वर्तमान पीढ़ी के साहित्यकार नये साहित्य का निर्माण करने के लिए व्याकुल हैं क्योंकि इनके मन में यह भावना काम कर रही है कि हमारा युग कई दृष्टियों से विगत युग के संस्कारों और चेतनाओं से भिन्न है। दूसरी ओर, आधुनिक साहित्यकार इन स्थापनों को पूर्ण रूप से स्वीकार करने में असमर्थ हैं। उनका मत है कि ऐसी कोई वर्तमान प्रवृत्ति उत्पन्न ही नहीं हुई, जिसे मान्यता दी जाय। कलागत विवेचना के लिए कोई ऐसी समस्या पैदा ही नहीं हुई। दूसरी ओर कुछ वर्तमान लेखक प्रगति के प्रति अनास्था-अविश्वास प्रकट करते हैं। उन्होंने विज्ञान को एक ऐसे अभिशाप के रूप में देखा है जिससे मानवीय आस्थाओं के विनाश की संभावना है। आधुनिक लेखकों ने विज्ञान को कला, संगीत, चित्र, और कविता के लिये पोषक तत्व मानते हुए यह स्थापना दी कि कला विज्ञान को सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में परिवर्तित कर उसके बाह्य-स्वरूप को बदल सकती है। कुछ और बहुत-से लेखक हैं जो अपनी लेखन-प्रक्रिया को लेकर किसी प्रकार चलते चले जा रहे हैं और उन समस्याओं से बचते रहे हैं जो बराबर एक पर एक देश, समाज और विश्व में उठीं और उठती रही हैं। इसका यह भी अर्थ नहीं कि उन्हें आधुनिक जीवन-सम्बन्धों के विषय में कहने को कुछ नहीं है। वे कहना भी चाहते हैं तो उसके पीछे आधुनिकता के प्रयास का कोई आग्रह नहीं है। हिन्दी कविता में बच्चन, दिनकर और पन्त की आधुनिक रचनाओं का ऐसा ही स्थान है। लॉरेंस की कविताओं का भावानुवाद और नई लोक-चेतना का स्पर्श दिनकर की रचनाओं में है। किन्तु दिनकर को वर्तमान, यानी नया नहीं कहा जा सकता, वे उस सीमा से अलग हैं—यह नये लेखक और आलोचक का वक्तव्य है। हालांकि इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि दिनकर ने अपनी नयी कविताओं में नई समस्याओं और स्थितियों का परिचय दिया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' इसका सबसे उल्लेख्य उदाहरण है किन्तु इसे नई कविता कहना, नई कविता के लेखकों की दृष्टि में संकुचित अज्ञानता और आलोचकीय पूर्वाग्रह का परिचय देना है। क्योंकि दिनकर ने नई कविता के युग में 'उर्वशी' ऐसे आउट आफ डेट काव्य का सृजन किया। आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम हम नई कविता पर विचार करते हैं—हालांकि नई कविता के सम्बन्ध में बातचीत करने का सिलसिला अब बहुत पुराना पड़ चुका है, नई कविता से भी ज़्यादा पुराना। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि नयी कविता को उसका पुराना रूप मिल चुका है जिसकी वजह से हम उसे क्लासिक (कालसिद्ध) कविता मानने के लिए तैयार हों। आज भी उसमें संभावनाएँ वर्तमान हैं। मुमकिन है कल नई कविता का कोई एक नया रूप सामने आये और आज तक की सारी 'नई' कमाई का दिवाला बोल जाय। नई कविता कहकर नये काव्य का विकास ही सारी अना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थाओं से भरा हुआ था, जिसके प्रति आज अच्छे-अच्छे कवियों को भी अनास्था दीखती है। कुछ लोगों ने ठीक ही उनकी भावनाओं का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि आज का अधिकांश काव्य काव्याभास है। किसी भी अनायास क्षण में लिखी गई कविता में सचमुच ऐसा ही काव्याभास होता है। जहाँ कविता के पीछे दृष्टिकोण का अभाव होता है, वहाँ ऐसा होना स्वाभाविक है। ऐसा यदि नहीं होता तो छायावाद के पतन की घोषणा और छायावाद के प्रत्यावर्त्तन का उल्लेख व्यर्थ ही माना जाता। काव्याभास से भी ज्यादा, यद्यपि अशास्त्रीय शब्द, नई कविता के लिए यह प्रयोग में आ सकता है कि यह फैशनेबुल कविता है। 'फैशन' की कविता, जैसे फैशन बदलते हैं, कविता बदलती चलती है। ये फैशनवादी जरूर नये हैं, चाहे इनकी कविता में कुछ हो या न हो। फैशनधर्मी नई कविता की भाषा में चित्र तो है, क्षण को पकड़ा भी गया है, चौंकाने का प्रयास भी ये कवि करते हैं। इस प्रसंग में लोगों का यह आरोप मुझ ऐसे आलोचक पर हो सकता है कि हम नई कविता समझ नहीं पाते इसीलिये शायद ऐसी बातें बिना समझे-बूझे लिखी जा रही हैं। नामवरजी ने ठीक ही लिखा है कि नई कविता पर लिखने वाले लोग जबरन उस पर लिख रहे हैं, लिखने को कुछ है नहीं और ऐसा लिखने वालों में अधिकाँश रूप से आलोचक नहीं होते। वे कवि होते हैं जो यह सोचते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित नई कविता के ट्रेन्ड को आलोचक पकड़ नहीं पा रहे हैं, जो निस्सन्देह उनकी नज़रों में आउट ऑफ डेट हैं। स्टीफेन स्पेंडर ने अपनी नई पुस्तक "दी स्ट्रग्ल ऑफ दी माडर्न" में कुछ ऐसी ही बातों की विवेचना करते हुए लिखा है कि आज बीसवीं शताब्दी के लेखकों में कुछ तो "समकालीन (कनटेमपोरेरी) हैं और कुछ सचमुच "आधुनिक" (मार्डन) हैं—नये। ये नई कविता के कवि शायद ऐसा ही मानते रहे हैं। नये लोग 'अपरंपरा' की कल्पना करते हैं, क्योंकि इनके संस्कार विगत के साहित्य से बिल्कुल अपरंपरागत हैं। यह अपरंपरा का दावा तथ्य-हीन है या नहीं है, इससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है, लेकिन वे नये हैं। इस तथ्य के अन्वेषण के लिए यदि ऐतिहासिक आलोचना का सहारा लिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि तथाकथित नई कविता के युग में दो प्रकार की कविताओं का प्रचलन हुआ। इन दोनों धाराओं की कविताओं के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। तत्काल यह उल्लेख्य है कि इन कवियों ने अपने को केवल 'आधुनिक' ही नहीं माना बल्कि 'नया'। अपने को नया कहकर वे साहित्य की संभावनाओं के साथ भी प्रश्न-चिह्न लगाने के लिए तत्पर हो गए। परिणामस्वरूप इन कवियों ने समकालीन आलोचकों द्वारा अपनी कविताओं की समीक्षा से सन्तोष नहीं पाया, हालांकि उनके मन में पहले से ही असन्तोष था, इसलिए प्रत्येक कविता के लिए कथ्य से अधिक वक्तव्यों पर ज़ोर दिया जाने लगा। 'सप्तकों' की परम्परा इसका उदाहरण है। हालांकि इन नई कविताओं के दावेदारों ने दबी जबान में ही सही 'सप्तकों' की परम्परा को भी नई कविता कहने से इनकार किया। इसीलिए 'नयी कविता' और आधुनिक कविता के संग्रह निकालने के प्रयास होते रहे। यह बात दूसरी है कि काव्य-धारा की दौड़ में निखालिस ऐसी नई कविताओं का दम टूटा या नहीं। नई कविता का प्रत्येक नया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि एक नया ट्रेण्ड स्थापित करने के लिए बौखला उठा है। कहने का अर्थ यह है कि इन कविताओं का शिल्प भले ही नया हो, किन्तु इनकी संवेदनाएँ आधुनिक हैं। नामवरजी के शब्दों में इनमें महत्वबोध अधिक है। इसी प्रसंग में ऊपर छोड़ी हुई इस बात को स्पष्ट कर रहा हूँ जिसे शिवदानजी ने ही (१) प्रगतिशील और (२) ह्रासोन्मुख कहकर दो वर्गों में बांटा है—इन दो प्रकार की नई कविताओं में एक धारा की विशेषता थी महत्वबोध को प्रश्रय और बोधगम्यता का विकास। उनके शब्द, अलंकार, प्रतीक, वातावरण और संवेदनाएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं। मानवीय उपलब्धियों में इनकी अगाध आस्था है—काव्याभास के ये शिकार नहीं हैं। विश्लेषण के बाद इस धारा के कवियों का सम्बन्ध प्रगतिशील काव्यधारा से जोड़ा जा सकता है। प्रगतिशील काव्य-परम्परा का यह नवीन विकास, एवं द्वितीय चरण है, जिसमें स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय जागरण के बाद की काव्योपलब्धियों, यथा भाव एवं शिल्प का नयापन तथा प्रयोग दिखाई पड़ता है। द्वितीय वर्ग के कवि जो आवश्यकता से अधिक फैशनपरस्त और काव्याभास के चक्कर में पड़े हुए हैं अस्पष्टता और अविश्वास के शिकार हैं मानवीय संवेदनाओं को सहलाना और क्षण की अभिव्यक्ति अर्थात् अनायास लेखन और ग्रहण इनकी विशेषताएँ हैं। सेक्स और घुटन, निराशा और साप्रयास मर्म उत्पन्न करने का प्रयास इन कवियों में मिलता है। कवि-सम्मेलनों और रेडियो से पढ़ी गई इन कविताओं का स्वर शोक-सभाओं में पारित होने वाले गद्य प्रस्तावों की याद दिलाते हैं। इनकी कविताओं को कविता केवल कहने के लिए कह सकते हैं किन्तु हैं ये गद्य के लयात्मक वाक्य-खंड, जैसे राजा राधिकारमण सिंह के औपन्यासिक उद्धरण और प्रवचन हों। इन कवियों का कवि-कर्म शिथिल चेतना और फूहड़ शब्द-शिल्प का शिकार बन रहा है। प्रथम वर्ग के कवि नागार्जुन, रामविलास शर्मा, गिरिजाकुमार आदि की परम्परा के पोषक हैं। दूसरे वर्ग वाले अज्ञेय और धर्मवीर भारती को अपना मसीहा मानते हैं और कभी-कभी जब इनकी उच्छृंखलता बढ़ जाती है तो गुरु की वाणी के विरोध में भी खड़े हो जाते हैं और चरण-चिन्हों को मिटाते हुए आगे बढ़ने वाला शहीद बताते हुए नहीं थकते हैं। अभी कुछ वर्ष पहले 'कल्पना' मासिक में प्रकाशित इस प्रकार के उत्तर-प्रत्युत्तर को बड़े उल्लास के साथ हिन्दी संसार ने आनन्द ले लेकर पढ़ा था।

हिन्दी कविता ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, विश्व-साहित्य की पृष्ठभूमि से भिन्न नये दौर से गुज़र रहा है—कहने का मतलब यह है कि हमारा जीवन-परिवेश जिस प्रकार का है वह अन्य देशों से अप्रतिम है। इसका उपयोग हमारे नये कवि नहीं कर पा रहे हैं। स्टीफ़न स्पेंडर ने ठीक ही कहा है कि ये आधुनिक कवि नये मार्ग का अन्वेषण कर रहे हैं, जो हमारे साहित्य की विगत परम्परा से बिल्कुल भिन्न है। यही नये कवियों की देन है और मौलिकता हो सकती है। यह नयापन तभी जन्म लेगा जब नये कवि परम्परा को अपनी बाँहों में समेटते हुए चलेंगे। ऊपर जिस प्रथम वर्ग का उल्लेख किया गया है उनमें स्पेंडर के अनुसार युग की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जिसे आधुनिक कविता के लिए आवश्यक माना जाना चाहिये। ये आधुनिक कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता करने, गद्य लिखने और बातचीत के लिए अलग ढंग की भाषा नहीं पहचानते। वह ऐसी भाषा लिखता है जो बनावटी नहीं होती, कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण नहीं होती। आधुनिक कवि का व्यक्तित्व कविता लिखते समय, बातचीत करते समय, और संघर्ष के समय भी एक ही होता है" लेकिन ऐसी बात हो नहीं रही है, ये नये कवि अपने व्यक्तित्व का लय कर अपने को "लघु मानव की खोज" में लगा रहे हैं। यही वजह है कि आज नई कविता के द्वारा लघु मानव की खोज तो क्या होगी नई कविता के वास्तविक तथ्य को भी भुला दिया गया है और उसके स्थान पर आत्म-कथात्मक कविता—"मैं" की अभिव्यक्ति होती जा रही है। नया कथा-साहित्य तो जैसे आत्मकथात्मक ही बनता जा रहा है इसीलिए नई कविता का सारा आन्दोलन आज भी उसके तथ्य निरूपण के लिए ही ज़्यादा चल रहा है। इसीलिए शिवदानजी के शब्दों में ही अनास्था को आधुनिकता और नयापन का पर्याय नहीं माना जा सकता। हिन्दी साहित्य में आधुनिकता को सदैव लोक-चेतना के अर्थ में ही समझा जाना चाहिये, जिसका प्रारम्भ सन् १८३६ ई० से ही हो जाता है। यथा, प्रगतिशील आन्दोलन की जनवादी परम्परा और आधुनिकता के बोध को ही आधुनिक (माडर्न) कहा जा सकता है। सन् १९५६ ई० में ही आधुनिकता को ही लक्ष्य कर मैंने लिखा था—"गत कुछ वर्षों से प्रयोगवाद को कुछ व्यापक बनाने के लिए नवयुवक कवियों का एक दल इसे नई कविता नाम से प्रचारित करने लगा है। (द्रष्टव्य—नई कविता—सं० डॉ० जगदीश गुप्त) उनका आग्रह है कि इसे आधुनिक कविता भी नहीं कहा जाय (द्रष्टव्य—बालकृष्ण राव, कल्पना, जनवरी, १९५६)। स्पष्ट है कि प्रयोगवाद से नई कविता तक की उनकी यात्रा विचित्र, कुण्ठित और भ्रान्त यात्रा रही है और वे अज्ञेय के शब्दों में वस्तुतः "मार्ग के अन्वेषी" ही रहे हैं। मेरा विश्वास है कि आगे चलकर आधुनिक नाम ही स्वीकृत होगा और प्रयोगवाद को प्रगतिवादी कविता का एक कुण्ठित अंग मानना पड़ेगा।"

आधुनिक हम उसे कहेंगे जो यह मानकर चलते हैं कि मानव-प्रवृत्ति परिवर्तित हो गई है। यदि ऐसा न भी माना जाय तो वे इतना तो अवश्य मानते हैं कि व्यक्ति का आवेष्टन के प्रति सम्बन्ध परिवर्तित हो गया है। आधुनिकता का यह बोध विचार-णीय तो अवश्य है किन्तु यह कहना कठिन होगा कि क्या सचमुच मानवीय बोध और मानव-प्रवृति में परिवर्तन आया है ? ई० एम० फोस्टर ने एक स्थान पर लिखा है कि "इतिहास विकसित होता है किन्तु कला स्थिर रहती है।" स्पष्ट है कलाकार का शिल्पगत दृष्टिकोण तो बदलता है कलात्मक भाव-बोध का बदलना शायद संभव नहीं।"

आधुनिक कला वही मानी जाती है, जिसमें कलाकार अपरम्परागत स्थितियों, शिल्पों और मुहावरों का प्रयोग करता हो। वह तत्त्व जो तथाकथित आधुनिक कह-लाता है भावों से अधिक टेकनीक में उसका विकास माना जा सकता है। राष्ट्रीय जागरण के युग में विकसित सुमित्रानन्दन पंत, निराला और दिनकर की कविताओं को शायद तथाकथित आधुनिक [नया] नहीं कहा जा सकता। यद्यपि ये कलाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक परिवेश, सामाजिकता और महत्त्व बोध से बराबर सम्बन्ध रखते रहे हैं। इसका मुख्य कारण यह हुआ कि इन कलाकारों में अन्याय, अत्याचार और जुल्म के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति विद्यमान थी, क्योंकि इन्होंने अपने-आपको एक द्रष्टा लेखक के रूप में माना। उनकी संवेदनाएँ केवल उस युग का ही प्रतिबिम्ब नहीं थीं—युग-युग की वस्तु बन गईं।

आधुनिक साहित्य का यह आन्दोलन कई प्रकार के शिल्प और भावगत चेतनाओं की अभिव्यक्ति को लेकर आगे बढ़ा—नई कला के द्वारा आधुनिक अनुभूति के प्रत्यक्षीकरण का प्रयास, प्रत्यक्षीकरण यह आधुनिकता का सबसे बड़ा लक्षण है, जिसके द्वारा आधुनिक युग में हुए नये परिवर्तन को नये शिल्प में ढालने का प्रयास किया जाता है। जीवन के मान-मूल्यों को औद्योगिक नगरों, मशीनों, क्रान्तियों और वैज्ञानिक विचारों ने बदला है। इन नये प्रत्यावर्तनों को भाषा और नये भाव-बोध के द्वारा अभिव्यक्त किया जा रहा है। अतः इन नये साहित्यकारों को युग-बोध की अभिव्यक्ति के लिए नये मुहावरों, नये शिल्पों और नई दृष्टि का परिचय देना पड़ रहा है। प्राचीन रूढ़ियों का विनाश और नई मानवता के स्वर इनमें स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। नागार्जुन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर, डॉ० रामविलास शर्मा आदि आधुनिक कवियों में इस नई भाषा-शैली के दर्शन हमें हुए थे। इन नये साहित्यकारों का स्वर मात्र समाजवादी साहित्यकारों का ही स्वर नहीं था। इनकी संवेदना मानव के मार्मिक भावों का स्पर्श करती है।

आशा और विश्वास की ताज़गी इन आधुनिक साहित्यकारों में हमें मिलती है। नागार्जुन का बलचनमा हो या त्रिलोचन का 'दिगन्त' सबों की अन्तर्धारा में विश्वास की अन्तःसलिला प्रवाहित है। कमलेश्वर, मार्कण्डेय और भैरवजी की कहानियों में भी विश्वास के ये स्वर हैं। इसलिए इन्हें आधुनिक कहा जायगा। जब कि ठीक इसके विपरीत इसी युग में इनके समकालीन कथाकारों के चरित्र निराशावादी, कुण्ठित और अनास्था से भरपूर दिखाई पड़ते हैं। रेणु का नायक जितेन्द्रनाथ भी आस्था का प्रतीक बन जाता है। यह आस्था जीवन से साहित्य का सम्बन्ध बनाने में समर्थवान होती है। अक्सर साहित्य का ऊपरी शिल्प आशावादी दिखाई देता है, किन्तु रहता है उसमें आस्था का खोखला म्यान। इसके उदाहरण के लिए डॉ० भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', सर्वेश्वर का 'सोयाहुआ जल' काफ़ी है।

कला की आस्था का मतलब है कि आधुनिक जीवन के विकेन्द्रित जीवन-प्रसंगों को कलाकार पुनर्स्थापित करे। इस समाज में रहकर कलाकार को देश की असमानता, शोषण आदि का शिकार होना ही पड़ता है, किन्तु वह इसे मिटाने की दिशा में अग्रसर होता है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उसकी दृष्टि शोषितों और शोषकों को पहचानने में किसी प्रकार का पूर्वाग्रह दिखलाये। साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि साहित्यकार, चाहे वे अभिव्यंजनावादी अथवा अति यथार्थवादी हों, अपने को जन-जीवन और लोक-चेतना का प्रहरी, क्रान्तिकारी साहित्यकार मानकर रचना करने की घोषणा करते हैं। यह भी सच है ये अति यथार्थवादी कलाकार आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलकर दो वर्गों में बँटे, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। एक का विश्वास अचेतन की जनतान्त्रिक मानसिक चेतना को उभारने में है, जो आर्थिक समाजवाद के साथ समानता रखने की चेष्टा करता है। दूसरा वर्ग पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार का प्रयोग करता हुआ मात्र कलात्मक रचना की सजल प्रेरणा पर ज़ोर देता है।

आधुनिकता का बोध यथार्थ को आन्तरिक जीवन में परिवर्तित कर देना है जिसकी प्रतिक्रिया सामाजिक बाह्य-जीवन व्यापारों में देखी जा सकती है। भौतिक संसार के अनुबिम्ब आन्तरिक जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति कर सकते हैं। रांगेय राघव का 'मेधावी' काव्य आधुनिक लोक-चेतना और संघटना की पंक्ति में शायद उल्लेख्य होगा। आधुनिकता का बोध अवश्य ही आधुनिक अनुभूति के क्षेत्र का बिन्दु होना चाहिए। कुण्ठा, काम-चेष्टा या कामुकता का चित्रण वास्तविक जीवन-परिधि की इकाई में आना चाहिए और आता रहा है। लॉरेंस ने ऐसी सारी काम-चेष्टाओं को अस्वीकृत कर दिया है, जिसकी कोई संभावना जीवन में है ही नहीं। लॉरेंस ने सामाजिक संघटन को भी इसका एक हिस्सा माना है। अमेरिका के 'बिटनिकों' ने जीवन का ह्रास कला में और कला का ह्रास जीवन में दिखाने की चेष्टा की है, जिसका सम्बन्ध इस बात से है कि कला-सृजन के लिए कलाकार का जीवन अनुशासित और व्यवस्थित होना चाहिए। आधुनिक कला के लक्षणों में 'विकृति' भी एक है। किन्तु यह आधुनिकता और आधुनिक कला में एक नये मोड़ [विकृति] के रूप में माना जा सकता है, जिसे प्रायः आज तक आधुनिक साहित्य के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत समाहित नहीं किया जाता रहा है। यह विकृति अन्तर्मुखी कलाकारों द्वारा अनुभूत बाह्य-सत्य की अभिव्यक्ति का एक मार्ग हैं। 'झूठा सच' उपन्यास में अंकित जीवन के विभिन्न विकृत चरित्र आधुनिकता का स्वीकृत प्रतिमान हैं। आधुनिक कला ने जीवन की क्रान्तिकारी परम्परा को ग्रहण किया है और उसे ऐसी ही परम्परा को ग्रहण करना होगा। नागार्जुन, यशपाल, भैरवप्रसाद गुप्त आदि के उपन्यास आधुनिकता के परम्परागत क्रान्तिकारी सूत्रों के प्रतिमान हैं, जिसे हम अपरम्परागत भी नहीं कह सकते। बलचनमा गोबर की परम्परा का सबल प्रतिनिधि है—आधुनिकता का द्योतक।

अन्त में पुनः कहना चाहूँगा कि आधुनिकता का अर्थ होता है समस्त आधुनिक परिवेश की बहुमुखी अभिव्यक्ति, जिससे आधुनिक महान कृतियों का सृजन हुआ है।

अतएव आधुनिक साहित्य स्वतः लोक-चेतना की अभिव्यक्ति करता रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
८४
दि ३७आ
अं-३०
पुस्तकालय
079558
गुरुकुल कांगड़ी

गोविन्द रजनीश

"पाश्चात्य और हिन्दी की नई कविता में सांस्कृतिक विघटन"

आधुनिक काव्याकाश में उदित विभिन्न सम्प्रदाय प्राय: पाश्चात्य काव्य-जगत् से अनुस्यूत किये गए हैं। पाश्चात्य सिद्धान्तों से अनुप्राणित क्षेत्रों से नये कवि को जो कुछ प्राप्त हुआ उसने उसे स्पृहणीय मान लिया। पहले पाश्चात्य जगत् के स्वच्छन्दतावाद ने हिन्दी कवियों को प्रभावित किया। तत्पश्चात ज्योर्जियन कवियों का संग्रह सन् १९११-१२ में प्रकाशित हुआ, जिसमें रूपर्ट-ब्रुक, डेविस, जार्नड्रिकवाटर, मन्लेकर, गिब्सन, मेसफील्ड, मनरो, टर्डर आदि प्रमुख कवि थे। इस संग्रह से ही पाश्चात्य नई कविता का सूत्रपात हुआ। यथार्थवादी प्रभाववादी (Realistic impressionism) का जन्म इन्हीं से हुआ। इस संग्रह की कविताएँ परम्परागत काव्य-धारा से असम्पृक्त थीं, क्योंकि इनमें सामान्य कथोपकथनात्मक शैली को व्यवहृत किया गया तथा दैनिक जीवन के सामान्य उपकरणों को वर्ण्यवस्तु बनाया गया था। यद्यपि युद्ध की विभीषिका अभी दूर थी, परन्तु यान्त्रिक जीवन की घुटन, निराशा, अवसाद, जीविकोपार्जनार्थ भटकते मनुष्यों की वेदनायुक्त सिसकियों की अनुभूति इन कवियों को भी हुई। गिब्सन ने सम्पूर्ण जीवन को एक मापदण्ड की ओर गतिशील बनाया है, वह लक्ष्य या मापदण्ड है, दैनिक भोजन, जिसको प्राप्त करने के लिए आधुनिक व्यक्ति भटकता है। उदर-पूर्ति ही उसका लक्ष्य है। भौतिक साधनों के पीछे विक्षिप्त मानव आध्यात्मिक ज्ञान को भूला बैठा है। यान्त्रिक सभ्यता से त्रस्त मानव प्रज्ज्वलित भट्टियों से भी आक्रान्त हैं।

> **वे विशाल रक्त वर्ण आँखें,**
> **अपनी लपटों से मुझे जला डालती हैं।**
> **उनकी चमक रात-भर चकाचौंध करती है,**
> **वे कभी सोती नहीं,**
> **मुझे हमेशा घूरती रहती हैं,**
> **निष्पलक—**
> **घूरती हैं, घूरती रहती हैं।[1]**

विश्वविद्यालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

1. The great, red eyes......
They burn me through and through.
They glare upon me all night long;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीसवीं शताब्दी सामान्य जीवन में असन्तोष और बुभुक्षा का युग मानी गई है। उस असन्तोष और बुभुक्षा के पीछे पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों की एक वृहत् सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि रही है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण मानव-मूल्यों में विघटन तीव्रता से हुआ, जिसके कारण सभ्यता और संस्कृति का विघटन प्रारम्भ हो गया। अणु की विध्वंसक शक्ति ने मानवीय चेतना को झकझोर दिया, जिससे यूरोप में प्राचीन मान्यताएँ खण्डित होने लगीं। मानव-मूल्यों के तीव्र विघटन से अनास्था, कुण्ठा, असन्तोष, वेदना के स्वर काव्य में उभरते रहे। प्रथम विश्व-युद्ध की विभीषिका ने इन स्वरों में आहुति दी, परिणाम यह हुआ कि कवियों की जीवननिष्ठा, सौन्दर्यबोध और अनुभूति पर कुठाराघात हुआ और उसका स्थान निराशा, वेदना, अवसाद, कुण्ठा, अनास्था, अनिश्चितता, आकुलता, मानव-द्रोही व्यक्तिवाद ने ले लिया। इस समय का यूरोपीय काव्य कुण्ठाओं, विभीषिकाओं, विघटनशील तत्त्वों का प्रस्फुटन करता रहा। इस सांस्कृतिक विघटन के अच्छादित जाल से अधिकांश काव्य अभिभूत हुआ।

आयरलैंड में हुए गृहयुद्ध ने आयरिश कवियों को भी प्रभावित किया। भय, युद्ध की विभीषिका, सांस्कृतिक विघटन ने 'येट्स' के मस्तिष्क और कल्पना को बुरी तरह जकड़ लिया। उसने अपनी कविताओं में तमसोन्मुख सभ्यता को पतन के गह्वर की ओर जाती हुई बतलाया है। गृह-युद्ध से पूर्व का आयरलैंड सुखी, समृद्धिशाली था, पर अब पक्षधर नाग वहाँ की सभ्यता पर लोट रहा था।

युवावस्था में हमारे पास भी सुन्दर खिलौने थे,
उत्कोच या भय उत्पन्न करने के लिये,
कानून, दोषारोपण या प्रशंसा से तटस्थ था।
इन दिनों ड्रेगन हम पर सवार है,
दुःस्वप्न निद्रा पर सवार हैं; मदिरापान किये सैनिक,
हत्या के बाद एक माँ के शव को उसके द्वार पर छोड़ सकते हैं।[1]

गृह-युद्ध की जन-घटनाओं को देखकर 'येट्स' की वैयक्तिक वेदना में भयंकर आश्चर्य जागृत हो गया—

They never sleep;
But always glove on me
They never even flink;
But stare, and stare......

1. We too had many pretty toys when young;
A law indifferent to blame or praise,
to brike or threat......
Now days are aragon-ridden, the nightmare
Rides upon sleep; a drunken soldiery
Can leave the mother, murdered at her door.
W. B. Yeats.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्ण परिवर्तित हो गया, पूर्णरूपेण परिवर्तन,
एक भयानक सुन्दरता का जन्म हुआ है।[1]

ही ध्वनि येट्स के 'सिक्सटीन डेड मेन' में दृष्टिगोचर होती है—

ओह जैसा कि पहले हमने विशद रूप में कहा था,
सोलह व्यक्तियों की मृत्यु हो गई,
लेकिन आदान-प्रदान की कौन बातें कर सकता है,
कि क्या होना चाहिये, क्या नहीं,
जब कि वे मृत व्यक्ति वहाँ कालक्षेप कर रहे हैं,
उबलते बर्तन का मंथन करने हेतु ?[2]

प्रथम विश्व-युद्ध के २०-२५ वर्ष पूर्व से ही खण्डित मानव-मूल्यों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हुआ। सम्भवतया विश्व-युद्धों ने इन पर अन्तिम प्रबल आघात किया। युद्ध की विभीषिका के सहयोग से विभीषिका और युद्ध जन्य कुप्रभावों का विशद रूप से वर्णन हुआ। लारेंस ने इस ओर संकेत किया है "सन् १९१५ में विश्व की प्राचीनता का लोप हो गया। १९१५-१६ के शीतकाल में प्राचीन लन्दन की आत्मा नष्ट हो गई। लन्दन विश्व का केन्द्र होने पर भी नष्ट हो गया, तथा खण्डित धैर्य, काम-वासना, आशाओं, भय, हाहाकारों का चक्रवात बन गया।[3]

विलफ्रेड ओवेन, सिगफ्रिड़ सैसून, रुपर्ट ब्रूक की कविताएँ इस कथन की साक्षी हैं। ओवेन की वैयक्तिक अभिरुचि, शैली १९वीं शताब्दी की थी। वस्तुतः इलियट और इज़रापाउण्ड की तरह वह साहित्यिक-बौद्धिक नहीं था। युद्ध ने, जो कि असाहित्यिक घटना थी, उसे कवि बन जाने के लिए विवश कर दिया था। ओवेन की कविताओं में सैसून की तरह उग्रता और हिंसात्मकता नहीं है। फिर भी उसने युद्धजनित निराशा, अनास्था का मर्मग्राही चित्रण किया है—

हमारी सशस्त्र सैनिक टुकड़ी,
इस समय उसे ले आई, मृत्यु का वार चूका नहीं।
केवल बहते हुए रक्त को पोंछने के सिवा हम कुछ न कर सके।

---

1. All changed, changed utterly,......
A terrible beauty is born,......IBID.
2. O but we talk at large before,
The sixteen men were shot,
But who can talk of give and take.
What should be and what not
While there dead men are loitering there
To stir the boiling pot...(W. B. YEATS).
3. It was in 1915 the old world ended. In the winter of 1915-1916 the spirit of old London collapsed; the city, in some way, perished, perished from being the heart of the world, and become a vortex of broken passions, lusts, hopes, fears, and horrors. (Lawrence).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या यह दुर्घटना थी ? बन्दूक चूक गई···
क्या अस्त्राघात था ? नहीं, (पोस्ट मार्टम से पता चला कि गोली
अंग्रेजों की थी।)[1]

सेसून ने 'काउण्टर अटैक' में युद्ध की विभीषिका, बर्बरता, हिंसात्मक प्रवृत्तियों का बड़ा यथार्थ एवं रोमांचक चित्र खींचा है। इस युद्धकालीन कविता ने मानवीय चेतना को आक्रान्त कर दिया। सुप्त मानसों को झँझोड़ डाला। समस्त मर्यादाओं, नैतिक धारणाओं, धार्मिक अवस्थाओं को तोड़ डाला। रुपर्ट ब्रुक को मदोन्मत्त सैनिकों के उन भयावह कृत्यों से कोई सहानुभूति नहीं है। तभी वह कहता है :

तुम्हारे स्वप्नों को चीरती पीत वर्ण की बटालियनों में जाते,
जब तुम उन लाखों मृतकों को देखते हो,
उस समय संवेदना के स्वर व्यंजित मत करो,
जैसा कि दूसरों ने किया है,
उनकी प्रशंसा करना भी अनुपयुक्त है,
क्योंकि वह बधिर हैं—कैसे सुन पावेंगे ?
उनके प्रत्येक खण्डित सिर पर क्या यह अभिशापों का पुञ्ज नहीं है ?
अश्रुपात मत करो, क्योंकि मरना सहज है।[2]

यूरोप की सभ्यता और संस्कृति जिस संक्रान्तिकाल में होकर गुज़र रही थी और जिस तीव्रता के साथ उसका विघटन हो रहा था, उसी के अनुरूप काव्य-सर्जन हो रहा था। तभी इजरा पाउण्ड, टी० एस० इलियट जैसे कवियों का काव्य-जगत् में पदार्पण हुआ। सन् १९२२ में प्रकाशित इलियट के 'वेस्टलैंड' (ऊसर भूमि) में उन विघटनशील मान्यताओं को मार्मिक रूप दिया गया है।

'ऊसर भूमि' फ्रेजर के 'इन्द्र धनुष' पर आधारित पौराणिक आख्यान से मण्डित प्रतीकात्मक काव्य है। 'जीवन में मृत्यु' ही इसका कथासार है। यूरोपीय

1. Our down, our wire patrol
Carried him this time, death had not missed.
We could do nothing but wipe his bleeding corgh
Could it be a accident ? refiles go off...
Not suiped ? No.
(later they found the English ball) (Owen).

2. When you see millions of the mouthless dead
Across your streams in pale battalions go,
Say not soft things as other men have said,
That you will remember, for your need not so.
Give them no praise, for deaf, how should they know
It is not curses heaped on each gashed head ?
Nor tears, their blind eyes see not your tears flow
Nor honour, it is easy to be dead. (Brooke)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति के विघटनशील तत्त्वों का बीभत्स, कुत्सित, भयावह वर्णन जैसा 'वेस्टलैण्ड' में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'वेस्टलैण्ड' के निवासी पापी, दुराचारी, व्यभिचारी दुर्बल आत्मा वाले आस्थाहीन हैं। इलियट के भय, अनास्था, विक्षिप्ति, व्यभिचार, दुराचार, पाप और भ्रूणहत्या ने परवर्ती कवियों को ही नहीं वरन् अन्य भाषा के कवियों को अप्रतिम रूप से प्रभावित किया। इलियट के अनुसार वन्ध्यता और वृद्धिरोध से आवेष्टित आधुनिक सभ्यता मृत्यु की आकांक्षी है। 'सिबिल' हमेशा मृत्यु की आकांक्षी बनी रहती है। 'ऊसर भूमि' के निवासियों का व्यक्तित्व भी खण्डित है। प्रकृति भी उनके लिए कठोर बन गई है :

खण्डित बिम्बों का पुञ्ज, जहाँ सूर्य तप्त करता है।
मृत वृक्ष छायाहीन है, झींगुर बेचैन हैं,
एवं शुष्क पाषाणों से रसधार की ध्वनि नहीं आती है।[1]

इलियट के अनुसार उनकी इच्छा-शक्ति कुण्ठित है। उस रूपहीन मानव की शक्ति लकवा से पंगु हो गई है :

रूपहीन आकृति, वर्णहीन छाया,
लकवा से पंगु शक्ति, गतिहीन अंगविक्षेप।[2]

आज का मानव भूलभुलैया में भटक रहा है :

मैं सोचता हूँ हम भटकी राहों में हैं,
जहाँ मृत व्यक्तियों ने अस्थियों के अवशेष खो दिए हैं।[3]

इस विश्व में आस्था के आईसोलडस शिप का कोई चिह्न नहीं है। सर्वत्र रिक्त शून्य सागर है, जो प्रेम के अभाव का द्योतक है। ऊसर भूमि के निवासी वसन्त की अपेक्षा शीत अधिक चाहते हैं। आजकल नगरों का गतिशील जीवन चेतन और अचेतन के मध्य स्पन्दनशील टैक्सी के समान है।[4] आज का व्यक्ति न तो जीवित है, न ही मृत। ज्ञान-शून्य-सा नीरवता के साथ प्रकाश की ओर झाँक रहा है।[5] इसी तरह जगत् समाप्त हो जाता है। लेकिन मनुष्य धूमधाम से नहीं मर सकता, केवल सिसकी-भर निकल सकती है।

---

1. A heap of broken images, where the sun beats,
   And the dead tree gives no shelter, the Cricket no relief,
   And the dry stone no sound of water. (Waste Land)
2. Shape without form, shade without colour
   Paralysed force; gesture without motion. (ibid)
3. I think we are in rats alley,
   Where the dead men lost their bones. (ibid)
4. At the violet hour, where the eyes and back
   Turn upward from the desk, when the human engine waits
   Like a taxi throbbing waiting,
   I Tresias, though blind, throbbing between two lives. (ibid)
5. I was neither living nor dead, and I knew nothing,
   Looking in the heart of light, the silence. (ibid)

REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नि:शेष मानव (The Hollow men) में कवि कहता है : "हम नि:शेष मानव हैं, हमारे दिमाग में भूसा भरा हुआ है।" जो आज के मानव की शून्यता, खोखलेपन की ओर संकेत करता है।

इलियट के परवर्ती कवि इज़रापाउण्ड, इलियट-येट्स की धरोहर को अग्रसर करते रहे। व्यथाओं के युग (एज ऑफ़ एंग्ज़ाइटीज़) में ऑडेन ने युद्धकालीन आधुनिक चेतना, जोकि निर्मूल, एकान्तप्रिय, अरक्षित है तथा भय, लज्जा और असफलता की चेतना द्वारा शासित है, के निर्माण का प्रयास किया है :

हम जर्जर हो जायेंगे, पर बदलेंगे नहीं,
क्षण के 'क्रास' पर चढ़ने की अपेक्षा
हम अपने त्रास में मृत्यु का वरण कर लेंगे,
किन्तु अपने भ्रमजालों को नष्ट न होने देंगे।[1]

ऑडेन ने दूसरे स्थान पर कहा है कि आज के प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे पर बौद्धिक लज्जा झलकती है। उमड़ता हुआ दया का सागर प्रत्येक की आँख में जकड़ गया है तथा जम गया है। ऑडेन मृत्यु, उत्पीड़न से अत्यन्त भयभीत था :

साँझ,
जबकि भय का पहरा बढ़ जाता है,
त्रास के सिंह छाया में से लम्बे डग भरते आते हैं,
और हमारे घुटनों पर उनका थूथुन स्पर्श करता है,
और मृत्यु अपनी पुस्तक बन्द कर देती है।[2]

डगलस ने भी मृत्यु की विभीषिका को लेकर अनेक कविताएँ लिखी हैं :

दृष्टिहीन आकृतियाँ,
कोरों पर स्रवित अश्रु की तरह भग्न आँखें,
एक मृत अकेला तालाब,
झुका हुआ है जहाँ गप्पों का अस्तित्व,
मैं पाषाण के सदृश पैरों को जल के भीतर देखता हूँ,
तर्क की क्षुद्र मछलियाँ जमा होकर गोश्त नोंचती हैं,
यह कल्पना करके कि मैं भी एक मृतक हूँ।[3]

---

1. We would rather be ruined
We would rather die in our dread
Then climb the cross of moment
And let our illusions die. (W. H. Auden)
2. Evening when
Fear gave his watch no look;
The lions of grief leop from the shade
And on our knees their muzzles laid
And death put down his book. (IBID)
3. Faces with sighless doors
For eyes, with cracks like tears,
Oozing at the corners. A dead tank alone

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औद्योगिक युग की कर्कशता ने यूरोपीय काव्य में संवेदनाओं को बहरा बना दिया। बाह्य शान्ति के भीतर विस्फोटक ज्वालामुखी धधकता रहा। नई पीढ़ी उससे आक्रान्त हुई। अमेरिका की 'पराजित पीढ़ी' और इंगलैण्ड के 'क्रुद्ध युवक' इसी प्रकार के काव्य की सर्जना करते रहे। पाश्चात्य जगत् की अनास्था, कुण्ठा, निराशा में फ्रॉयड, एडलर, युङ्ग के मनोविश्लेषणकारी तत्त्वों ने पूर्ण सहयोग दिया। वैज्ञानिक आविष्कारों से जीवन इतना गतिमय हो गया कि नया कवि पुरानी कविता की भाव-संवलित शैली तथा भाव-प्रवणता को छोड़कर बौद्धिकता की ओर उन्मुख हो गया। कल्पना-प्रधान काव्य और वैज्ञानिक प्रगति के मध्य निरन्तर संघर्ष होता रहा जिससे बौद्धिकता प्रबल हुई। जैसे-जैसे बौद्धिकता का प्रसार हुआ वैसे ही ईश्वर और धर्म पर से आस्था उठ गई और अनास्था के स्वर वेग से मुखर होने लगे। मार्क्सवादी विचारधारा ने जहाँ ईश्वर और धर्म का विरोध किया, वहाँ वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने उसके अस्तित्व का पूर्णतया लोप कर दिया। बौद्धिकता से तार्किक शक्ति का अभ्युदय हुआ, जिसने धर्म और ईश्वर के प्रति अनास्था के साथ मिलकर नैतिक बन्धनों को शिथिल कर दिया। व्यक्ति का 'स्व' प्रबल हुआ। मानव-मूल्यों के विघटन के साथ मिलकर इस 'स्व' ने अनेक कलेवर धारण किये। पाश्चात्य जगत् की इन ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों ने हिन्दी के नये काव्य को प्रभावित किया।

दृढ़ता भारतीय संस्कृति की अपनी विशिष्टता रही है। कितने ही विदेशी आक्रमणकारियों का यहाँ प्रभुत्व रहा, लेकिन अभेद्य दुर्ग की तरह भारतीय संस्कृति अटल रही। पाश्चात्य जगत् में व्याप्त सांस्कृतिक विघटन के मूल कारणों ने भारतीय संस्कृति को उतना प्रभावित नहीं किया जितना विघटनजन्य काव्य ने। भारत में पूर्णरूप से औद्योगीकरण नहीं हुआ, न ही दोनों महायुद्धों ने संस्कृति पर कोई आघात किया। केवल आर्थिक व्यवस्था में किंचित् उलट-फेर हुए। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी हिंसा को गौण स्थान प्राप्त हुआ। फलस्वरूप भारत में सांस्कृतिक विघटन होने का प्रश्न ही नहीं था। यद्यपि मानवीय चेतना के जिस धरातल को पाश्चात्यवासी छू सके हैं, उसे अभी तक भारतवासी नहीं। अतः चेतना की लहर धीरे-धीरे भारत की ओर बढ़ रही है। अनुकरण-मात्र के आधार पर ही इलियट, येट्स, सार्त्र, मूनियर, कमिंग्स, इजरा पाउंड से प्रभावित होकर हिन्दी के कुछ कवियों ने सांस्कृतिक विघटन का कृत्रिम वातावरण तैयार कर दिया है। धर्मवीर भारती ने 'अन्धा युग' में विघटनशील तत्त्वों का विशद वर्णन किया है। 'वेस्टलैंड' की तरह 'अन्धायुग' में भी पौराणिक आख्यान के आधार पर आधुनिक कुंठाओं, विकृतियों, निराशाओं का प्रतीकात्मक आधार पर वर्णन किया गया है—

Hears where the gossips stood
I see my feet like stones
Under water, the logical little fish
Converge and nip the flesh
Imagining I am one of the dead. (Douglas)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर,
बीतता नहीं रह-रहकर दोहराता है,
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं,
हर क्षण अन्धियारा गहरा होता जाता है,
हम सबके मन पर गहरा उतर गया है युग,
अन्धियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,
है दास वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की,
अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है ।[1]

वर्तमान युग के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संघर्ष तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की माँग और शून्य हृदय की चीखों और पुकारों ने नये कवि को निराशा और अवसाद के कुहरे से लपेट दिया है। विकलता के बन्धन में बंधा कवि छटपटा रहा है। निराशाजन्य अनुभूतियाँ ही उसके पास व्यक्त करने को शेष रही हैं। आस्थाविहीन समाज किस ओर प्रवृत्त होता जाएगा यह समझ में नहीं आता। नये कवि को न जाने क्या दुःख मिला है। वह जीवित रहते हुए भी अपने को मृतक समान मानता है।[2] टीस, निराशा, कसक, वेदना, अन्तर्द्वन्द्व, अवसाद, उदासी, दुःख, विकलता, असहायता, विवशता से आबद्ध कवि मानस अपने को नदी-तल की रेत के समान तुच्छ मानता है, जो किसी भी क्षण बह जाने की अवस्था में हैं।[3] कभी मानसिक क्लेशों की घनीभूत पीड़ा असमय में ही जर्जर वृद्धपन ला देती है, जिससे तन, मन, धन की समस्त चेतना अवरुद्ध हो जाती है।[4] कभी वह भयावह कल्पना करने लगता है—

एक दिन जब,
मेरा माथा टूट जायेगा,
आँखें सूख जायेंगी,
छाती दरक जायेगी,
हाथ फूट जायेंगे,
पैर गल जायेंगे,
नदी-वेग से बह जायेगा, रक्त
धज्जियों से उड़ जायगा मांस
एक दिन जब।[5]

इसके अलावा हिन्दी की नई कविता में अभिव्यंजना-रुढि अपना गहरा असर कर चुकी है। एक ने 'अन्धा युग' लिखा, दूसरे 'अन्धी पुत्रियों,' 'अन्धी आस्थाओं,'

---

१. धर्मवीर भारती, 'अन्धायुग,' पृष्ठ १३० ।
२. अज्ञेय, 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये,' पृष्ठ ७६ ।
३. धर्मवीर भारती, सात गीत वर्ष, पृष्ठ १२३ ।
४. धर्मवीर भारती, ठण्डा लोहा, पृष्ठ ४१ ।
५. अशोक वाजपेयी, कल्पना [illegible] ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अन्धी गली, 'अन्धी प्रतीक्षाओं,' से सम्बन्धित कविताएँ लिखना प्रारम्भ कर देते हैं। उनके वक्तव्यों में 'हम नये-छोटे लोग,' 'हम सब बौने हैं,' 'हम लघु हैं,' 'हम नगण्य हैं,' 'हम जारज हैं,' 'हम भ्रूण हैं,' हमारे हाथों में 'टूटी तलवार की मूठ है' की ध्वनि उनकी विघटन प्रवृत्तियों की ओर संकेत करती है। जहाँ तक समाज के प्रतिबिम्ब का प्रश्न है, ये कविताएँ उससे बहुत दूर हैं। पूरा समाज तो जारज, भ्रूण नहीं है, या उसका मांस धज्जियों से नहीं उड़ रहा है, फिर नये कवि क्यों इस प्रकार पाश्चात्य कविता की अन्धाधुन्ध नक़ल कर रहे हैं? यूरोप में सांस्कृतिक विघटन की जो अवस्था चल रही थी, उससे भारत काफ़ी दूर है। चीनी-आक्रमण के पश्चात् भी भारत में वह अवस्था नहीं आने पाई है। प्रथम तो ये कविताएँ सत्यम् से सम्बन्धित नहीं हैं, फिर 'शिवं,' 'सुन्दरं' की कल्पना तो करना ही व्यर्थ है। हिन्दी की इस ह्रासोन्मुख कविता ने भारत में सांस्कृतिक विघटन का जो कृत्रिम चित्र खींचा है, वह किसी भी प्रकार समाज के लिए उपादेय नहीं हो सकता। संतोष इस बात का है कि यह कविता जन-सामान्य से असम्पृक्त है तथा जन-सामान्य के भावों के साथ इसका साधारणीकरण नहीं हो पा रहा है, अन्यथा विष-वमन दूर तक फैल चुका होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—डॉ० सुरेश सिनहा

सामाजिक कथा नायिकाओं का विकास क्रम

: १ :

उपन्यास में पात्र योजना कथावस्तु के अनुसार की जाती है। उपन्यास की कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक होगी, तो उसकी पात्र-योजना भिन्न प्रकार की होगी। सामाजिक उपन्यासों की पात्र-योजना और प्रकार की होगी। उपन्यास में यदि नारी-समस्या को उठाया जाएगा, तो उसकी पात्र-योजना भिन्न होगी। इस पात्र-योजना में नारी-पात्रों की प्रमुखता हो या पुरुष-पात्रों की, उनका परस्पर अनुपात क्या हो, यह कथानक के स्वरूप पर निर्भर करता है। पर प्रायः होता यही है कि उपन्यासों में पुरुष पात्रों के साथ नारी पात्रों को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया जाता है। शायद ही कोई ऐसा उपन्यास हो, जिसमें मात्र पुरुष पात्र ही हों और उनमें नारी-पात्रों का पूर्णतया बहिष्कार हो। इसके कारण स्पष्ट हैं। हम यह स्वीकृत करते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज की सीमाओं में ही टूटता-बनता है। उसकी आस्थाएं मान्यताएं और विचारधाराएँ सामाजिक परिवेश में ही जन्म लेती हैं, विकसित होती हैं या विच्छिन्न होकर बिखरती हैं। उसकी कल्पनाएँ समाज में ही प्राण पाती हैं और उसके स्वप्नों तथा उसकी आकांक्षाओं की साकारता भी समाज में ही सिद्ध होती है। अर्थात् मनुष्य और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। बिना मनुष्यों के समाज कैसा और बिना समाज के मनुष्य क्या और उसका महत्व क्या? इस समाज में केवल पुरुष ही नहीं नारियाँ भी हैं। दोनों से मिलकर ही समाज की रचना पूर्ण होती है। फिर उपन्यास तो हमारे मानवीय जीवन के प्रतिबिम्ब होते हैं। हम जो जीवन जीते हैं वही उपन्यासों में चित्रित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए जब उपन्यास की पात्र-योजना निश्चित की जाती है, तो उसमें नारी-पात्रों को भी समान भाग दिया जाता है।

ऐसी भी सम्भावना उठाई जा सकती है कि उपन्यासों में नारी-पात्रों की नितान्त रूप से आवश्यकता नहीं है और बिना नारी-पात्रों के भी उपन्यास लिखे जा सकते हैं। ऐसी सम्भावना प्रकट करने वाले अपने मत के समर्थन में यह तर्क उपस्थित करते हैं कि युद्ध आदि की पृष्ठभूमि में लिखे जाने वाले उपन्यासों में नारी-पात्रों को रखना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा, क्योंकि नारियों का युद्ध आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है और नारियों की अभी तक कोई सेना भी नहीं तैयार हुई है, जो मोर्चे पर जाकर युद्ध में सम्मिलित हो सके और उन नारी सैनिकों एवं कमाण्डरों आदि के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रण उपन्यासों में किया जा सके। पर यह तर्क हास्यास्पद है। इसे किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। युद्ध की पृष्ठभूमि में लिखे जाने वाले उपन्यासों में भी अस्पताल की नर्सों आदि के रूप में नारी-पात्रों की अवतारणा करके उपन्यास की पूर्णता सिद्ध की जा सकती है। साहित्य पुरुष तथा नारी के परस्पर सम्बन्धों की अटूट शृंखला है। साहित्य कभी भी नारियों की उपेक्षा नहीं कर सका। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक साहित्य और प्रत्येक प्रगतिशील कलाकार ने नारी की महत्ता स्वीकार की है। यद्यपि दृष्टिकोण में विभिन्नता हो सकती है, पर इस दृष्टिभेद के कारण ही नारियाँ कभी साहित्य में उपेक्षणीय नहीं रही हैं। हम अपने मानव-सृष्टि के पूरे इतिहास को उठा-कर अवलोकन करें तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि नारियाँ हमारे साथ सदैव किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में रही हैं। वे हमसे निकृष्ट नहीं रही हैं क्योंकि पुरुषों की तुलना में नारियाँ भिन्न मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से सम्पन्न हैं। नारी का व्यक्तित्व उतना ही महान एवं महत्वपूर्ण होता है, जितना पुरुषों का। हमारे राजनीतिक तथा आर्थिक संघर्ष में नारियाँ किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में बराबर भाग लेती रही हैं। सामाजिक रचना में भी उनका बराबर भाग होता है। हमारे अपने ही स्वाधीनता संग्राम में असंख्य नारियों ने बराबर महत्वपूर्ण भाग लिया है। पौराणिक आख्यानों में भी इस प्रकार के प्रसंग भरे पड़े हैं, जब हमारे सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष में नारियाँ अपने उत्तरदायित्व को हृदयंगम कर महत्वपूर्ण भाग लेती रही हैं। फिर उपन्यासों की पात्र-योजना में नारी-पात्रों की सम्भावना किस प्रकार अस्वीकृत की जा सकती है, जबकि उपन्यास मानव जीवन का ही प्रमुख रूप से चित्रण करते हैं।

नारी-पात्रों में नायिका का प्रमुख स्थान होता है। यहाँ नायिका का वही अर्थ ग्रहण किया गया है, जो अंग्रेज़ी में heroine शब्द का है। उपन्यास में नायिका ही सर्वप्रमुख नारी-पात्र होती है। सामान्यत: उपन्यास के नायक की प्रेयसी अथवा पत्नी ही नायिका कहलाती है। पर यह प्रत्येक अवस्था में आवश्यक नहीं है और न कोई अनिवार्य नियम ही। नायिका की सर्वथा भिन्न सत्ता हो सकती है और वह इस रूप में चित्रित की जा सकती है कि नायक से उसका कोई विशेष सम्बन्ध ही न हो। उप-न्यास में नायक और नायिका दोनों का होना भी अनिवार्य नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि उपन्यासकार उपन्यास में नायिका को महत्व प्रदान करे और अनिवार्य रूप से उसकी सृष्टि करे। प्रेमचन्द के 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' आदि उपन्यासों में जन-जीवन के चित्रण और घटनाओं को जितना महत्व दिया गया है, उतना नायिका को नहीं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' कृत 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', वृन्दावनलाल कृत 'संगम' 'प्रत्यागत', 'कुण्डलीचक्र', प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विकास', भगवतीचरण वर्मा कृत 'तीन वर्ष', 'भूले बिसरे चित्र'; यशपाल कृत 'देश-द्रोही', आदि कुछ ऐसे ही उप-न्यास हैं, जिनमें नायिकाओं को विशेष महत्व नहीं प्रदान किया गया है। इनमें या तो पुरुष-पात्रों को प्रधानता देते हुए प्रसंगवश ही नारी-पात्रों को स्पर्श भर कर लिया गया है या घटना-वैविध्य को ही महत्व प्रदान किया गया है। पर नारी-पात्र पूर्णतया उपेक्षित नहीं रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ स्वभावतः प्रश्न उठता है कि नारी पात्रों में नायिका का स्थान किसे प्रदान किया जाए ? अर्थात् नायिका की परिभाषा क्या हो ? उपन्यास के नारी-पात्रों में कोई-न-कोई नारी ऐसी होती है, जो कथानक का नेतृत्व करती हुई उसे अन्तिम उद्देश्य तक ले जाती हुई प्रतीत होती है। उसका व्यक्तित्व उन सभी नारी पात्रों के सामान्य स्तर से ऊपर उठा हुआ प्रतीत होगा। वह पाठकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित करती चलती है और पाठकों को यह अनुभव होता है कि उपन्यासकार किसी विशेष दृष्टिकोण से उस नारी-पात्र को प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही वह उसके चरित्र-चित्रण की ओर उसके व्यक्तित्व को निखारने, सँवारने में विशेषरूप से प्रयत्नशील रहता है। जिस प्रकार किसी कमरे के गहन अन्धकार में हीरे की चमक समाप्त नहीं हो जाती और उसका प्रकाश अपनी पूर्णता के साथ जगमगाता रहता है, उसी भाँति नारी-पात्रों के समूह में वह नारी अपना विशेष स्थान रखती और उन सबसे भिन्न दिखाई पड़ती है। इसी प्रमुख नारी पात्र के इर्द-गिर्द कथानक का चक्र निर्मित होता है और कथानक में घटनाएँ इस प्रकार संगुफित की जाती हैं कि वह प्रमुख नारी पात्र उसका नेतृत्व करती प्रतीत होती है। वह कथानक के प्रत्येक मोड़ पर उपस्थित रहती है और नायक के समान वह भी घटनाओं के घटित होने में प्रमुख भाग लेती है। कभी-कभी वह प्रधान पुरुष-पात्र से भी अधिक महत्वपूर्ण भाग घटनाक्रम में लेती है और अनेक दृष्टान्त तो ऐसे हैं, जिनमें बिना किसी प्रधान पुरुष-पात्र के इसी एक प्रमुख नारी-पात्र को लेकर उपन्यास के कथानक का ताना-बाना बुना गया है। उपन्यासों का कोई-न-कोई उद्देश्य होता है। वस्तुतः भाषा की प्रकृति ही ऐसी है कि जब भी किसी परिस्थिति के अर्थ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है, उसमें इसके पहले कि वस्तु विशेष स्पष्ट हो, यह ध्वनि सन्निहित रहती है कि वह वस्तु किस प्रकार की है। उद्देश्यहीन उपन्यासों का अपना कोई महत्व नहीं होता! उपन्यास का जो भी उद्देश्य होता है, उसका अन्त इसी प्रमुख नारी-पात्र से सम्बन्धित होता है और फलागम की स्थिति इसी प्रमुख नारी-पात्र को प्राप्त होती है। इसी प्रमुख नारी-पात्र को नायिका कहते हैं और उसकी परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है : नायिका का उपन्यास के कथानक के विकासक्रम में सर्वप्रमुख स्थान होता है और उपन्यास के फलागम की स्थिति उसे ही प्राप्त होती है।

नायिकाओं की विभिन्न श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं। वस्तुतः कथानक की घटना-प्रक्रिया की माँग के अनुसार ही उनका निर्वाचन होता है। सच तो यह है कि जिस प्रकार मानवीय जीवन में विविधता है, उसी भाँति उपन्यास की नायिकाओं में भी विविधता है। नारी-जीवन के जितने भी रूप हो सकते हैं, उपन्यास की नायिकाएँ उन्हीं का प्रतिनिधित्व कर उपन्यास-संसार में यथार्थ जीवन की नारियों की स्थिति की अभिव्यक्ति करती हैं। हिन्दी उपन्यासों के प्रारम्भिक काल से ही नायिकाओं की परिकल्पना-सम्बन्धी उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में निरन्तर विकास होता रहा है, जिसे युगीन प्रवृत्तियों एवं समाज में परिवर्तित होने वाली नारी की स्थिति ने विशेषरूप से प्रभावित किया है। इस विकास-क्रम को हम तीन कालों में विभाजित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर स्पष्ट कर सकते हैं।

(क) पूर्व-प्रेमचन्द काल।

(ख) प्रेमचन्द काल।

(ग) उत्तर-प्रेमचन्द काल।

: २ :

हिन्दी में उपन्यास-साहित्य वस्तुतः सुधारवादी दृष्टिकोण ही लेकर आया था। इस काल में समाज पूर्णतया विशृंखलित हो गया था, नैतिक मान्यताएँ टूट-फूट गई थीं और प्राचीन परम्पराएँ जर्जरित हो रही थीं। उनका स्थान ले रही थी, पश्चिम की वह शक्तिशाली भावना, जो मृगतृष्णा की भाँति भारतवासियों की चेतना पर छाती जा रही थी। लोग अपना धर्म भूलते जा रहे थे। धार्मिक रूढ़ियाँ अब उन्हें अपमानजनक प्रतीत होती थीं। वे अब पश्चिमी संस्कारों को ग्रहण करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। पारिवारिक व्यवस्था विच्छिन्न हो चुकी थी और संयुक्त परिवार की प्रथा समाप्त होती जा रही थी। ऐसे समय में उपन्यासकारों ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में एक आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया, जिसमें उनकी उपदेशक नीति भी सम्मिलित थी। वे वस्तुतः समाज को पतन के गर्त से बचाना चाहते थे विस्मृत होने वाली धार्मिक परम्पराओं में पुनः विश्वास जीवित करना चाहते थे, जीवन-गत मर्यादाओं को जागरित कर जीवन स्तर उच्च करना चाहते थे और लोगों को नैतिक उत्थान की ओर अग्रसर करना चाहते थे।

इस काल में नारियों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें सामाजिक और राजनीतिक सम्मान प्राप्त नहीं थे। शिक्षा से वे वंचित थीं, उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त थी और न उनकी स्थिति में सुधार-हेतु प्रयत्न की दिशा में कोई उत्साह ही था। स्वामी दयानन्द से पूर्व यद्यपि राजा राममोहन राय नारी-उत्थान के प्रति अपनी आवाज़ उठा चुके थे और उन्हींके प्रेरणास्वरूप लॉर्ड विलियम बैंटिक ने सती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, तथापि वह केवल एक महान अनुष्ठान का प्रारम्भ-मात्र था। इस अन्यतम लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में अभी यथेष्ट-कार्य करना शेष था। स्वामी दयानन्द ने पुनः पूर्ण शक्ति से नारियों की स्थिति में सुधार लाने और नारी-शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। आर्य समाज-आन्दोलन ने नारियों के कल्याण के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। विधवा विवाह का प्रचलन तो उसने किया ही, विधवा आश्रमों की स्थापना का भी प्रयत्न किया। उस समय नारी-शिक्षा की ओर किंचित-मात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता था और लड़कियों की उच्च-शिक्षा तो हिन्दू समाज में एक अप्रत्याशित बात समझी जाती थी। आर्य समाज आन्दोलन ने ही हिन्दू समाज की इस भ्रान्ति का निराकरण कर नारी-शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार किया और उसी का परिणाम यह था कि धीरे-धीरे नारी-शिक्षा का प्रसारण होने लगा। थियोसॉफिकल सोसयटी के माध्यम से श्रीमती एनी बेसेन्ट सदृश महिलाओं ने हिन्दू नारियों के समक्ष ऊँचे आदर्श प्रस्तुत कर नारियों की रूढ़ियों और आडम्बरों को समाप्त कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें नवीन-चेतना का संचार किया तथा उन्हें उनके वास्तविक उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य के प्रति सचेत किया। जागरण आन्दोलन में सर्वाधिक लाभ नारियों का हुआ। अभी तक वे अत्यन्त उपेक्षिता थीं एवं शिक्षा तथा नवीन विचारधारा से वंचित केवल भोग की सामग्री समझी जाती थीं। शिक्षा का प्रचार उनमें न होने के कारण उन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान न था, न उन्हें अपनी वास्तविक परिस्थिति का ही परिचय था। उन्हें समाज में कोई विशेष प्रतिष्ठा न प्राप्त थी और न राजनीति के क्षेत्र में उनका कोई स्थान था। जहाँ तक नारी-प्रेम का प्रश्न था, समाज का अनुशासन उस पर कठोर रूप से था। वासनात्मक नैतिकता का पतन उनमें नहीं था और विवाह-संस्था के टूटने के कोई आसार नहीं लक्षित हो रहे थे। माता-पिता द्वारा निश्चित विवाह लड़कियों को मान्य थे और उनमें विद्रोह की भावना नितान्त रूप से भी न थी।

सामंती व्यवस्था ने नारियों के ऊपर इस काल में अनेक अत्याचार किए। उनमें इतनी प्रगतिशीलता न थी कि वे अपने पाँवों पर खड़ी होकर अपनी आर्थिक परतन्त्रता, अपने शोषण एवं पूँजीवादी-व्यवस्था का विरोध कर सकें। सामंती प्रभाव समाज पर गहनतम रूप से छाया हुआ था और उसने जनमानस को पूर्णतया कुंठित कर दिया था। सामंती-व्यवस्था के प्रतिनिधि साम्राज्यवादी पिट्ठू थे, जो प्रगति शब्द से घबराते थे, इसीलिए इस काल में नारियाँ दासता का जीवन व्यतीत कर रही थीं। यह आश्चर्य का विषय है कि ऐसे समय में हिन्दी उपन्यासों का जन्म होने के बावजूद वह समकालीन नारियों की परिस्थितियों से पूर्ण सामंजस्य न स्थापित कर सका। प्रारम्भिक उपन्यासकार तत्कालीन स्थिति से पूर्णतथा परिचित तो थे, पर वे यथार्थ के ऊपर आदर्श का लेप लगाकर एक ऐसी सृष्टि का निर्माण करना चाहते थे, जो प्रगति से कोसों दूर हो। वे केवल नैतिकता का उत्थान चाहते थे और ऐसी सामाजिक-व्यवस्था चाहते थे, जो नारियों और पुरुषों को कठोरता से नियन्त्रित कर सके और उन्हें उच्छृङ्खलता से बचा सके। अर्थ-व्यवस्था के वैषम्य, सामंती-पूँजीवादी-व्यवस्था में नारियों के शोषण आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। वे जटिलता में न फँसना चाहते थे। सीधे-सादे ढंग से रमणीयता में वास करना ही उनका लक्ष्य था, जिस पर उन्होंने सुधारवादिता का आवरण डाल लिया था, पर यह सुधारवादी दृष्टिकोण था भी कैसा? शताब्दियों पुराना! वे चाहते थे सृष्टि फिर से पीछे चलकर पौराणिक काल या वैदिक काल में पहुँच जाए। उन्होंने उपन्यासों के माध्यम से एक मृगतृष्णा का निर्माण करना चाहा था, पर वे अपने दुराग्रहों के कारण उस मृगतृष्णा का भी निर्माण सफलतापूर्वक न कर सके। उनके सुधारवादी दृष्टिकोण को थोड़ी और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करना उचित होगा। वे चाहते थे :

(१) नारियों में उच्च-शिक्षा का प्रसार न हो। वे स्कूल-कॉलेज न जाएँ और घर पर ही मामूली रूप से पढ़-लिख लें।

(२) नारियों का क्षेत्र केवल परिवार तक ही सीमित हो। घर की चार-दीवारी के बाहर आकर खुली वायु में साँस लेना श्रेयस्कर नहीं। इससे नैतिकता का घोर पतन होगा और समाज में अनाचार फैलेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) नारियों को विवाह के पूर्व प्रेम करने का कोई अधिकार नहीं। विवाह और प्रेम-सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करना गौरवहीन है।

(४) विवाह के दो-एक वर्ष में ही यदि पति की मृत्यु हो जाए, तो नारियों को विवाह न कर पति की भक्ति में सदा जीवन व्यतीत कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में विधवा-विवाह न होने चाहिए।

(५) वेश्याएँ समाज का कलंक हैं। वे अस्पृश्य हैं। उनकी तरफ आँख उठाकर भी न देखना चाहिए। वेश्या-विवाह की तो वे कल्पना भी न करते थे।

यह था पूर्व-प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों का तथाकथित सुधारवादी दृष्टिकोण, जिसे वे समाज में प्रसारित करना चाहते थे। अतः पूर्व प्रेमचन्द काल की नायिकाओं की परिकल्पना अधिकांश रूप से इसी पृष्ठभूमि पर की गई, जो परम्परागत, रूढ़ एवं प्रगतिशीलता की प्रबल विरोधी थी। ऐसे उपन्यासकारों में गोस्वामीजी अग्रगण्य थे : यद्यपि उन्होंने काफी उपन्यास लिखे और उनमें विषय-सम्बन्धी विविधता प्राप्त होती है, पर नारी-चित्रण सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण का परिचय अधिकांश रूप से सामाजिक उपन्यासों में प्राप्त होता है। वे कट्टर सनातन धर्मी थे और नारी-शिक्षा के विरोधी थे। उन्हें भय था कि शिक्षा से नारियों में स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता जैसी बातें आएँगी और उनका चारित्रिक पतन होगा। उनके विचार से नारी की सबसे बड़ी शिक्षा उसके स्वभाव एवं चरित्र को आदर्शरूप प्रदान करना मात्र है। एक स्थल पर इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं, "अपने देश के भाइयों से इस बात के लिए सविनय अनुरोध करता हूँ कि वे सबसे पहले कन्याओं का सुधार करें, क्योंकि यदि सुकन्या समय पाकर सुगृहिणी होगी तो वही एक दिन सुमाता भी होगी और उसका पुत्र सुपुत्र अवश्य ही होगा।"[१] उनके इस विचार के अनुरूप ही 'त्रिवेणी' (१८८८) की नायिका त्रिवेणी को कोई शिक्षा नहीं प्रदान की जाती, जिसके परिणामस्वरूप वह गहन कूपमण्डूकता के आवरण में लिपटी रहती है और यदि स्थान-स्थान पर स्वयं उपन्यासकार ही उपस्थित होकर उसे न उबारता तो उसका जीवित रहना भी कठिन था। "माधवी-माधव वा मदन मोहिनी" (१९१६) में माधवी के पिता सनातन धर्म के अनुयायी होने के कारण मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् उसका नाम स्कूल से कटवा देते हैं, क्योंकि वह ग्यारह वर्ष की हो चुकी थी और अब उसका पढ़ना-लिखना धर्म एवं आचरण की दृष्टि से उचित न था। माधवी माधवप्रसाद नामक युवक को खाना खिलाते समय आकर्षित होती है और उससे प्रेम करने लगती है। माता-पिता यह जानकर विवाह की अनुमति दे देते हैं और आदर्श रूप से यह प्रेम विवाह में परिणत हो जाता है। इसमें गोस्वामीजी ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि, "मेरी तो यह राय है कि लड़कियाँ कभी भी घर के बाहर अर्थात् पाठशाला में पढ़ने के लिए न भेजी जाएँ और उन्हें घर पर ही हिन्दी और संस्कृत तथा गृहकार्य की विधिवत शिक्षा दी जाए। यद्यपि मेरी इस राय पर स्त्री-शिक्षा के घोर पक्षपाती अवश्य रूष्ट होंगे परन्तु जो मर्मज्ञ पाठक स्त्री-

१. किशोरीलाल गोस्वामी : माधवी माधव वा मदन मोहिनी (१९१६) वृन्दावन, पृष्ठ २२०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा की अयोग्यता का प्रत्यक्ष कुफल देख रहे हैं वे मेरी राय पर कभी खड्ग न उठावेंगे। जो लोग यह देख रहे हैं कि अयोग्य स्त्री-शिक्षा के ही कारण एक बंगालिन एक पंजाबी की पत्नी बनती है, एक 'राजरानी' एक शुद्ध किए हुए 'हिन्दू अंग्रेज़' की भार्या बनती है, गोरी नारी एक हिन्दू नरेश की पटरानी बनती है और एक ब्राह्मणी एक शूद्र की जोरू बनती है, तो यह कहना ही पड़ेगा कि स्त्रियों को उच्च-शिक्षा किंवा अयोग्य शिक्षा कभी न देनी चाहिए और उन्हें पाठशाला या स्कूल कभी न भेजना चाहिए। "पश्चिमी वैज्ञानिकों का यह मत है कि यदि स्त्री को पुरुषों के समान बहुत पढ़ाया लिखाया जाएगा तो वे स्त्री-धर्म से च्युत हो जाएँगी, फिर या तो उन्हें सन्तान न होगी और यदि होगी भी तो वह जिएगी कदापि नहीं।"[१] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लेखक का दृष्टिकोण कितना संकुचित एवं रूढ़ था। वह सुधारवादी भले ही हो, वह भी लेखक के अपने मतानुसार, पर निश्चय ही यह विचारधारा प्रगतिशीलता पर ज़बर्दस्त आघात करने वाली थी, और उसका मार्ग कुंठित करती थी। उन्हें पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव एवं नारी की आधुनिकता से चिढ़ थी। वे किसी भी रूप में नहीं चाहते थे कि नारियाँ नए युग में पदार्पण कर आधुनिकता को आत्मसात कर लें और अपनी प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं को भूल जाएँ।

गोस्वामीजी ने धर्म के आधार पर एक विचित्र से दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जिसे पढ़कर आश्चर्य होता है। वह है, उनका पुरुष के बहु-विवाह का ज़ोर-दार समर्थन करना। ऐसा प्रतीत होता है कि वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् बढ़ती हुई प्रगतिशीलता और परिवर्तनोन्मुख समाज की नब्ज़ पहचानने में या तो सर्वथा असमर्थ थे या पहचानते हुए भी धर्म की रूढ़ियों में इस सीमा तक जकड़े हुए थे कि उससे मुक्त हो पाना उनके लिए सहज सम्भव न था। उनके अनुसार एक पुरुष अपनी पत्नी के होते हुए भी यदि किसी अविवाहिता नारी से प्रेम करने लगे और वह नारी पवित्र हो, तो दोनों को विवाह कर लेना चाहिए। 'पुनर्जन्म या सौतियाडाह' में सुशीला की परिकल्पना उन्होंने इसी आधार पर है। वह एक स्थान पर कहती है, "धर्मशास्त्र में स्त्री के लिए केवल एक ही विवाह की व्यवस्था है पर पुरुष असंख्य विवाह कर सकते हैं। अतएव मैंने जब यह बात जानी कि तुम दोनों (उसका पति और उसकी प्रेमिका) निष्कलंक हो, तब मुझे क्या उज्र हो सकता था कि मैं तुम्हारे सुख में व्यर्थ काँटे बोती। सुनो तो प्यारे। क्या बहिन-बहिन और सहेली-सहेली एक साथ नहीं रहतीं। और क्या, आज तक दो सौतिनें कभी आपस में मिलजुल कर नहीं रही हैं।"[२] इस उपन्यास में सुशीला सज्जनसिंह की पत्नी है, फिर भी अपने पति और सुन्दरी को प्रेम करते देख और सारी शंकाओं का निवारण होने पर वह स्वयं ही दोनों का विवाह करा देती है। उनके एक अन्य उपन्यास 'कनक-कुसुम वा मस्तानी' में भी ऐसा ही हुआ है, जिसमें

१. वही, पृष्ठ ७५-७६।
२. किशोरीलाल गोस्वामी : पुनर्जन्म वा सौतियाडाह, (१९०७), काशी, पृष्ठ २२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायक बाजीराव की पत्नी काशीबाई अपने पति का विवाह मस्तानी से करने की सहर्ष अनुमति प्रदान करते हुए कहती है, "लीजिए अब व्यर्थ के सोच-विचारों को छोड़िए और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इस गुणवती, देवी समान, सुशीला, यवन कुल-बाला को ग्रहण कीजिए।"[1] वास्तव में वे नारी को आदर्श की पात्री समझते थे और उसे अपनी मर्यादा एवं परम्पराओं की सीमा में आबद्ध रहते देखना चाहते थे। वैसे तो अच्छाई-बुराई कहाँ नहीं होती ? पर यह सोचना कि, "दुनिया की सभी औरतें ख़राब होती हैं, महज़ गलत और वाहियात है।"[2] वे चाहते थे, नारियाँ आदर्श प्रेम में विश्वास करें और अपने सतीत्व की रक्षा करें। 'लवंगलता वा आदर्श-बाला' (१८८४) में नायक मदनमोहन की बहकी-बहकी बातों पर अत्यन्त दुःखी हो लवंगलता कहती है, "किन्तु उस प्रेम को मैं दूर से ही प्रणाम करती हूँ जिसमें गुरु-जनों के बड़प्पन और आदर का भाव न हो।"[3] लवंगलता के चरित्र का विकास इसी पृष्ठ भूमि पर होता है और अपनी पवित्रता, गौरव एवं मर्यादा की रक्षा के लिए वह जीवनपर्यन्त जूझती रहती है। गोस्वामीजी गृहस्थ सुख को सामाजिक सुख का मूल-भूत आधार स्वीकार करते थे। 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८९), 'लीलावती वा आदर्श सती (१९०४) की नायिकाएँ कुसुम और लीलावती भी गोस्वामीजी के इन्हीं परम्परागत विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। पर उनके इस प्रकार के रूढ़ विचारों को उस युग में विशेष समर्थन नहीं प्राप्त हुआ। इसके कारण स्पष्ट थे। यह युग साहित्य की ही दृष्टि से नहीं वरन् सभी दृष्टियों से नवोन्मेष का युग था और प्रत्येक दिशा में परिवर्तन हो रहे थे। आधुनिकता का उदय हो रहा था और भारत-वासियों में नवीन चेतना प्रसारित हो रही थी। ऐसी स्थिति में गोस्वामीजी का दृष्टि-कोण सर्वसम्मत न हो सका। वह इस योग्य था भी नहीं।

मेहता लज्जाराम शर्मा भी पूर्णतया परम्परागत सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाकर अपनी नायिकाओं की परिकल्पना करने वाले उपन्यासकार थे। इस युग की सुधारवादी प्रवृत्तियों में, जिनमें अभी भी पर्याप्त रूप से कट्टरता व्याप्त थी, शर्माजी का पूर्ण विश्वास था। वे पर्दा-प्रथा के पूर्ण समर्थक थे और इस प्रथा का समाप्त होना श्रेयस्कर नहीं समझते थे, क्योंकि इससे नारियों में उच्छृंखलता आने का भय था और उनके भ्रष्ट हो जाने की संभावनाएँ उत्पन्न हो जाती थीं। 'आदर्श हिन्दू' (१९१४) की प्रधान नारी पात्र प्रियंवदा से उन्होंने कहलाया है, "उनका सुख उन्हें ही मुबारिक रहे। हम पर्दे में रहने वालियों को ऐसा सुख नहीं चाहिए। हम अपने घर के धन्धे में ही मग्न हैं।"[4] प्रियंवदा का चरित्र इसी दृष्टिकोण पर विकसित होता है। वह पर्दे में ही नहीं, घर की चारदीवारी के भीतर बन्द रहती है और जीवनपर्यन्त यह नहीं समझती कि परिवार के अतिरिक्त समाज में भी उसकी कोई

१. किशोरीलाल गोस्वामी : कनक कुसुम वा मस्तानी, (वृन्दावन). पृष्ठ ५१।
२. किशोरीलाल गोस्वामी : लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा, (१९१७), वृन्दावन, पृष्ठ ८२।
३. किशोरीलाल गोस्वामी : लवङ्गलता वा आदर्शबाला, (१८८४), वृन्दावन, पृष्ठ ४१।
४. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१९१४), प्रयाग, पृष्ठ ६-७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति है। अपने अन्य उपन्यास 'सुशीला विधवा' में अपने इस दृष्टिकोण को और भी स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "मेरी समझ में पर्दा-प्रणाली अच्छी है। जो लोग पर्दा-प्रणाली की निन्दा करते हैं वे भूलते हैं, झक मारते हैं।"[1] शर्माजी का यह दृष्टिकोण पूर्णतया रूढ़ एवं एकांगी था तथा नारी पर उनके अविश्वास का द्योतक है। ऐसा प्रतीत होता है कि आने वाली प्रगतिशीलता को आत्मसात करने में वे भी सफल नहीं हो पाए थे। यहाँ तक कि वे नारी को पति की दासीमात्र समझते थे। वे नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व के घोर विरोधी एवं पुरुष की सत्ता के पूर्ण समर्थक थे। 'आदर्श हिन्दू' में प्रियंवदा का चरित्र दासी के समान ही चित्रित किया गया है। उसे यह सिखाया गया था कि वह पति की दासी बनकर रहे। पति को ही अपना जीवन-सर्वस्व समझे। पति चाहे काना हो, कुरूप हो, कलंकी हो, कोढ़ी हो, कुकर्मी हो, क्रोधी हो, स्त्री के लिए पति के सिवाय दूसरी गति नहीं। संसार में परमेश्वर के समान कोई नहीं, किन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है। सनातन धर्म में विश्वास रखने के कारण शर्माजी नव-जागृति के समर्थक नहीं थे। वे नारी-शिक्षा के भी विरोधी थे, क्योंकि इससे नारी के उच्छृंखल और स्वतन्त्र हो जाने का भय था। वे नारियों की स्वतन्त्रता नहीं चाहते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में नारियों के लिए स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व-जैसी बातें करना प्रत्येक दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त था। 'सुशीला विधवा' में सुशीला की परिकल्पना यही प्रदर्शित करने के लिए की गई है। सुशीला किसी पुरुष से बातचीत नहीं करती थी और उसका यह पक्का सिद्धान्त था कि स्त्रियों का स्वतन्त्र हो जाना हिन्दू समाज के लिए विष है। वह सदा सबको यही उपदेश दिया करती थी कि स्त्रियों को बालपन से ही माता-पिता के वश में रहना चाहिए। विवाह होने पर पति की दासी होकर उसकी आज्ञा बिना कोई काम नहीं करना चाहिए। उन्होंने इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपने एक अन्य उपन्यास 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' में भी व्यक्त किया है, जिसमें रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा नारियों की स्वतन्त्रता उनकी परतन्त्रता के समक्ष नगण्य बताई गई है। 'बिगड़े का सुधार' (१९०७) में भी यही भावनाएँ प्रतिपादित हुई हैं, जिसमें सुखदेवी और एक मेम के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सनातन हिन्दू समाज की नारी का गौरव प्रतिपादित किया गया है। उसके अनुसार नारी अपनी सेवा, सतीत्व के बल पर कुछ भी कर सकती है। यहाँ तक कि दुराचारी पति भी सदाचारी बन सकता है। नारी को परम्परावादी, सहिष्णु, दयाशीला एवं धैर्यवान होना चाहिए। सुखदेवी की परिकल्पना इस उपन्यास में इसी उद्देश्य से हुई है। वह अशिक्षित थी, किन्तु उसमें आर्यनारी के सभी गुण विद्यमान थे, जिसके बल पर ही वह अपने कुमार्गी पति को सत्पथ पर लाती है और आदर्श पति बनाती है।

विधवा नारियों को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए एक स्थान पर शर्माजी ने कहा है, "पति के मरने पर सबसे बड़ा धर्म तो यही है कि उसकी चिता में भस्म होकर पति का साथ दे,

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : सुशीला विधवा, (१९०७), प्रथम, पृष्ठ [illegible]।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु आजकल ऐसा ज़माना नहीं रहा, इसीलिए जब तक जिए, सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली, कभी पराए पुरुष का स्वप्न में भी ध्यान न करने वाली विधवा मरने पर स्वर्ग में पति को पाती है और फिर कभी दम्पति का साथ नहीं छूटता।"[1] वे विधवा विवाह के ज़रा भी पक्षपाती नहीं थे क्योंकि, "जो हिन्दू समाज में विधवा विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते है, वे दम्पति के प्रेम पर वज्र मारना चाहते हैं।"[2] उन्हें वेश्यावृत्ति से घृणा तो है, पर समाज में उसके चलते रहने की वे आवश्यकता भी मानते हैं। "बेशक रंडियाँ समाज में एक बला हैं—परन्तु इससे आप यह न समझ लीजिए कि ये समाज से निकाल देने लायक हैं, फ़िज़ूल हैं और इन्हें बन्द कर देना चाहिए। नहीं, इनकी भी समाज के लिए दो कारणों से आवश्यकता है। एक यह है कि जब गाने-बजाने और नाचने का पेशा करने वाली हमारी सोसायटी में न रहेंगी तब कुल-वधुएँ इस काम को ग्रहण करेंगी। और दूसरे, जैसे बड़े नगरों में सड़क के निकट जगह-जगह पनाले बने हुए हैं, यदि न बनाये जाएँ, तो चित्तवृत्ति को, शरीर के विकास को न रोक सकने पर लोग बाज़ार और गलियों को खराब कर डालें, उसी तरह यदि वेश्याएँ हमारे समाज से उठा दी जाएँ तो घर की बहू-बेटियाँ बिगड़ेंगी।"[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि कट्टर सनातनधर्मी होने के कारण ठीक गोस्वामीजी की ही भाँति शर्माजी का दृष्टिकोण भी अत्यन्त रूढ़ एवं पुरातनवादी था। वे परिवर्तनशीलता एवं आधुनिकता के पूर्ण विरोधी थे। नवोन्मेष की दिशा उन्हें अन्धकारपूर्ण प्रतीत होती थी और प्राचीन भारतीय संस्कृति और धर्म को वे पुनः ज्यों-का-त्यों बिना युगीन परिस्थितियों को ध्यान में रखे और समकालीन माँग का विचार किये प्रतिष्ठित कर देना चाहते थे। यह पूर्णतया हास्यास्पद था। वास्तव में युगीन परिस्थितियों को स्वीकार कर आगे बढ़ना उपन्यासकार का प्रमुख दायित्व होता है। वह उनकी पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता। शर्माजी का सुधारवादी दृष्टिकोण कुछ हद तक तो स्वीकार किया जा सकता है, पर उसकी रूढ़िता एवं कट्टरवादिता किसी भी रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। उन्होंने नारी-जीवन की विभिन्न समस्याओं पर अपने जिस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त कर अपने उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना की है, और उनके व्यक्तित्व का विकास जिस प्रकार किया है, वह कठपुतली का एक तमाशा मात्र प्रतीत होता है। उन्होंने उन नायिकाओं के रूप में नारी की पूर्ण हत्या ही कर दी है। मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण सबसे बड़ा सामाजिक अभिशाप होता है, चाहे वह नारी की स्वतन्त्रता हो या पुरुष की।

नारी-सम्बन्धी यही धारणा थी, जिसने इस युग के उपन्यासकारों को एक सीमित परिवेश में सोचने को बाध्य किया और उन्होंने अपनी नायिकाओं की कल्पना इस प्रकार की, जिनमें स्वाभाविकता तो नाममात्र को भी न थी, आदर्श और परम्पराएँ उनमें ठूँस-ठूँसकर भरी हुई थीं। ठाकुर जगमोहनसिंह के 'श्यामा स्वप्न' (१८८८)

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : 'सुशीला विधवा' (१९०७), प्रयाग, पृ० १५२।
२. मेहता लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' (१९१४), प्रयाग, पृ० ९५।
३. वही, पृ० २१८-२१९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नायिका श्यामा, टीकाराम सदाशिव तिवारी कृत 'पुष्पकुमारी' (१९१७) की नायिका पुष्पकुमारी, देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय कृत 'सुन्दर सरोजिनी' (१९१३) की नायिका सरोजिनी, गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'लक्ष्मीदेवी' की नायिका लक्ष्मी, रामप्रसाद सत्याल कृत 'किरणशशि' (१९०९) की नायिका किरणशशि, कृष्णलाल वर्मा कृत 'चम्पा' (१९१६) की नायिका चम्पा तथा जैनेन्द्र किशोर कृत 'कमलिनी' (१८९१) की नायिका कमलिनी आदि सभी नायिकाओं की परिकल्पना किशोरीलाल गोस्वामी और मेहता लज्जाराम शर्मा द्वारा स्थापित मान्यताओं के आधार पर हुई है। ये दोनों ही इस युग के उपन्यासकारों के नेता थे और उसकी विचारधारा का अनुसरण आँख मूँदकर किया जा रहा था। पर जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, इस काल की नायिकाओं में इतने आदर्श हैं कि तत्कालीन परिस्थितियों में उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उनके व्यक्तित्व का उस युग के साथ कोई मेल नहीं बैठता। यह युग नारी-उत्थान की दृष्टि से संक्रान्ति काल का था। वे एक ऐसे दोराहे पर खड़ी थीं जिसके एक ओर परम्पराएँ थीं, रूढ़ियाँ थीं, आडम्बर थे। दूसरी ओर नवीनता थी, स्वतन्त्रता और प्रगतिशीलता थी। समकालीन नारी मनःस्थिति दूसरे मार्ग पर तीव्रता से चलने का प्रयत्न कर रही थी। पर उपन्यासकारों ने जान-बूझकर इस यथार्थ की उपेक्षा करते हुए प्राचीनता को आत्मसात् करने का प्रयत्न किया जो उनका दुराग्रह मात्र ही था। उनकी नायिकाएँ कृत्रिमता एवं अस्वाभाविकता की कहानी स्वयं कहती हैं।

: ३ :

मानव-समाज की मूल पृष्ठभूमि में नारी विद्यमान है। मानव सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास वस्तुतः नारी की स्थिति के विकास से ही प्रतिबिंबित होता है। समाज प्रेरणा, शक्ति, प्रेम एवं विश्वास आदि सभी कुछ नारी से ही प्राप्त करता है। जीवनगत स्थिरता को समाप्त कर मानव समाज की परिवर्तित परिस्थितियों तथा सामाजिक मानव मूल्यांकन के साधनों में नारी सर्वप्रमुख है। समाज में नारी और पुरुष का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। वह समाज में पुरुषों से कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखतीं। प्रायः सृष्टि के प्रारम्भ से ही हम देखते आ रहे हैं कि मानव जब भी जीवन-संघर्ष में असफल हुआ है, जब भी वह सभ्यता की दौड़ में पिछड़ा है, जब भी मानसिक अशांति से वह आक्रान्त हुआ है और जब भी वह पीड़ा तथा अवसाद की लहरों पर डूबता-उतराता रहा है, नारियों ने सदैव पुरुषों को सहायता प्रदान कर परिस्थितियों को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। पुरुष ने अकेले ही निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण नहीं की है। सत्य स्थिति तो यह है कि पुरुष अराजकता उत्पन्न कर सभ्यता की लम्बी दौड़ में वास्तविक संस्कृति को जन्म देने में सदैव असफल रहा है।[1] इसके विपरीत नारियों ने पुरुषों को बराबर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा

1. Woman must realise that man has utterly failed in the long process of civilisation to produse true culture. Anarchy. chao

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी है। पुरुषों को अपना ममत्व, अपना आत्म-विश्वास तथा अपनी जीवन-संवेदना प्रदान कर वे सभ्यता के विकास का प्रयत्न करती हैं क्योंकि पुरुष केवल अपने जीवन की व्यक्तिगत बातों के सम्बन्ध में ही सोचता है और वास्तविक मूल्यों की जीवन में अवहेलना करता है। पुरुषों का जीवन निर्दोष तथा श्रेष्ठ कभी नहीं स्वीकृत किया गया है। वास्तव में पुरुषों में थोड़ी पशुता होती है, जिसका निराकरण वह पूर्ण निश्चय करके भी नहीं कर पाता। वह पशुता ही उसे पुरुष का रूप प्रदान करती है। विकास-क्रम में वह नारी से कहीं पीछे है। जिस दिन वह विकास के चरमोत्कर्ष को स्पर्श कर लेगा, वह भी पूर्णतया नारी रूप हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया, इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है और ये नारियों के सर्वप्रधान गुण हैं।[1] यही नहीं नारी वफा और त्याग का सजीव प्रतिबिम्ब है, जो अपने मूक त्याग से अपने अस्तित्व को पूर्णतया मिटाकर अपने पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। तन पुरुष का रहता है, पर आत्मा वस्तुतः नारी की ही होती है। पुरुष अपना अस्तित्व इसलिए नहीं मिटाता कि उसमें इसका सामर्थ्य ही नहीं है। यदि वह अपने को मिटाएगा तो शून्यता की स्थिति में पहुँच जाएगा।[2] नारी की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। अतः स्पष्ट है कि मानव जीवन की पूर्णता नारी को लेकर ही है। नारी के अभाव में समाज अपूर्ण है, मानव जीवन अपूर्ण है। यह सृष्टि मूल्यहीन है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य का वास्तविक रूप प्रेमचन्द के आगमन के पश्चात् ही निखरा अतः मानव जीवन के साथ उपन्यास का निकटतम सम्बन्ध तभी स्थापित हो पाया था और तभी उपन्यासों में मानव जीवन का प्रतिबिम्ब सत्य अर्थों में प्रस्तुत किए जाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ था। अतः प्रेमचन्द के आगमन के पश्चात् एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। इस नए युग में नारी के ऊपर से उस भोंडे, कृत्रिम और अविश्वासपूर्ण आवरण को उतारकर, जिसे पूर्व-प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों ने अपनी तथाकथित आदर्शवादिता एवं सुधारवादिता के जोश में आकर पहना दिया था और जिसके फलस्वरूप नारी का स्वरूप बोझिल ही नहीं हो गया था, आडम्बरपूर्ण और अविवेकपूर्ण-सा प्रतीत होने लगा था। नारी की आत्मा को उसकी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। इस काल में नारी समाज के सम्मुख एक भीषण प्रश्न चिन्ह के रूप में उपस्थित थी। दहेज-प्रथा अपने भयंकर रूप में सामाजिक अभिशाप बनकर नारियों के सुखमय जीवन में विष घोल रही थी। वैधव्य और वेश्यावृत्ति की भयानक छायाएँ अलग नृत्य कर रही थीं जिसकी आवाज में नारी की कल्पनाएँ उनके सुनहरे भविष्य और सुख-सन्तोष की भावनाएँ डूबकर निष्प्राण हो गई थीं। समाज अट्टहास कर रहा था और नारियाँ

---

and discontent and the achievements of the man, because he has not understood the true importance and value of human being."
—वाई० एम० रीग : व्हीदर वुमन, (१९३८), लन्दन, पृ० २७५।

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि, (१९३२), बनारस, पृष्ठ २०६।
२. प्रेमचन्द : गोदान, (१९३६), बनारस, पृष्ठ १५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनमेल विवाह का शिकार बन अभिशप्त जीवन व्यतीत कर रही थीं। यद्यपि शिक्षा का प्रसार नारियों में हो रहा था, पर उसे वह गति नहीं प्राप्त हो रही थी, जो प्राप्त होनी चाहिए थी। नारी की आर्थिक परतन्त्रता ज्यों-की-त्यों विद्यमान थी और वे पुरुषों के ऊपर आश्रित थीं। परिवार टूटते जा रहे थे और उस विशृङ्खलता में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उभर रहा था। इन समस्याओं को प्रेमचन्द के नेतृत्व में युगीन उपन्यासकारों ने चित्रित करने का प्रयत्न किया, पर उनके चित्रण में दुर्भाग्य से यथार्थवादी छाया कम है, आदर्शवादी लेप अधिक। पर पिछले काल की तुलना में यह आदर्शवादी लेप अत्यन्त न्यून मात्रा में था और केवल समस्याओं के समाधान तक ही सीमित था, समस्याओं को प्रस्तुत यथार्थवादी ढंग से ही किया गया।

पर इस न्यून मात्रा में प्रयुक्त आदर्शवाद ने भी नायिकाओं के स्वरूप को यथेष्ट मात्रा में प्रभावित किया और यदि विकास क्रम की दृष्टि से परिलक्षित किया जाए तो इस काल की नायिकाएँ पिछले काल की नायिकाओं से, जहाँ तक आदर्शवाद का प्रश्न है, कुछ विशेष भिन्न नहीं हैं। हाँ, यदि कोई अन्तर है तो मात्र इतना ही कि उनका स्वरूप काफ़ी जाना-पहचाना सा प्रतीत होता है और यदि उन्हें यान्त्रिक न बनाया गया होता, तो कदाचित् वे साहित्य की अमर नायिकायें होतीं। इस सन्दर्भ में कुछ नायिकाओं के चरित्रांकन पर विचार करना उचित होगा। 'सेवासदन' (१९१६) की नायिका सुमन के रूप में तत्कालीन नारी-समस्या को प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रेमचन्द ने किया था। भारतीय समाज में नारी कितनी पराधीन थी, उसकी स्थिति पशुओं की-सी थी और उसका जीवन विवशतापूर्ण था—इस प्रश्न को प्रेमचन्द ने अपने अन्य उपन्यासों की अपेक्षा सुमन के माध्यम से अधिक सशक्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। वैसे इसमें वेश्या-समस्या भी आ जाती है, पर सुमन वेश्याओं की प्रतिनिधि नहीं उस पीड़ित नारी-वर्ग की प्रतिनिधि है, जो समकालीन संकट को ज़बर्दस्ती झेलकर मर-जी रही थी। वह एक मध्यम वर्ग की नारी थी और उसे परिस्थितिवश वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ी थी, पर सुमन के रूप में वेश्या-समस्या की भयंकरता नहीं चित्रित की गई है। वेश्याओं की दयनीय स्थिति, उनके आन्तरिक भावों, उनकी विवशता तथा उनकी उपेक्षणीय जीवन-भावनाओं को प्रेमचन्द ने भाषणों के बीच छोड़ दिया है और वास्तव में चित्रित करने का प्रयत्न किया है कि वस्तुतः लड़कियों की शिक्षा किस प्रकार होनी चाहिए और किस प्रकार के वातावरण में उनका पालन-पोषण होना चाहिए। उनके विचार से यदि लड़कियों को ढंग से परिवार सँभालने, सद्गृहिणी बनने और अपने मातृत्व की भावना का विकास करने, अपनी सौजन्यता, स्नेह आदि प्रदर्शित करने की शिक्षा न दी जाए, तो वे उसी प्रकार पथ-भ्रष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार सुमन। वे नारी-शिक्षा के हिमायती थे और बराबर उसकी वकालत करते थे। 'निर्मला' (१९२२-२३) की नायिका निर्मला एक ऐसी नारी के रूप में चित्रित की गई है, जो अपने अनमेल विवाह के कारण जीवन-भर पीड़ित एवं दुःखग्रस्त रहती है। इस असंगति के कारण एक भरा-पूरा हंसता परिवार विनाश की कालिमा के नीचे ढँक जाता है, उसकी मुसकान निःशब्द हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द की मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रतिभा निर्मला के रूप में ही मुखरित हुई है और प्रथम बार हिन्दी उपन्यास-जगत् में एक ऐसी नायिका का स्वरूप प्राप्त हुआ, जिसके आन्तरिक भावों एवं विवशतापूर्ण परिस्थितियों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर समझने में पाठक सफल हुआ। यह एक नए विकास-क्रम का सूचक था, जिसका विकास उत्तर-प्रेमचन्द काल में हुआ। वास्तव में प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं और उनका उपन्यास 'निर्मला' हिन्दी का प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यास है—यह असन्दिग्ध है। प्रेमचन्द को इस गौरव से वंचित करना दुराग्रह-मात्र है। निर्मला के चरित्र की दो बातें मुख्य हैं। उसके एक ओर कर्त्तव्य है, दूसरे ओर प्रेम। धैर्य एवं सहनशीलता के साथ वह अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई कर्त्तव्य की ओर उन्मुख होती है। निर्मला का चरित्र सचमुच बहुत ही आकर्षक, मार्मिक और आँखें खोलने वाला है। वह एक टाइप है, जो समाज में नारियों के उस वर्ग की प्रतिनिधि बनकर आती है जो दहेज-प्रथा के कुप्रभाव, अनमेल विवाह और असंगतियों के कारण जीवन-भर असन्तोष, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती रहती है और अन्त में उसी में मर जाती है। निर्मला के रूप में हम उस नारी को पाते हैं, जो कर्त्तव्य-पथ पर चलकर अपना जीवन समाप्त करती है। उसका न तो अपना अहं है, न अपनी लालसा। सभी-कुछ ऐसा है, जैसे वह कर्त्तव्य की पुतली बन गई हो। निर्मला की परिकल्पना का स्रोत भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्पराओं में निहित है, जिनमें नारी पति और परिवार के लिए ही जीवित रहती है और मरती है। साथ ही विवाह की कुप्रथा भी, जिनमें नारियों को विवाह-सम्बन्धी स्वतन्त्रता न प्राप्त थी। उसकी आर्थिक दासता, सामाजिक परवशता और परम्पराओं के कुप्रभाव आदि ने मिलकर ही निर्मला के सृजन की प्रेरणा दी थी। 'ग़बन' (१९३०) की नायिका जालपा के रूप में प्रेमचन्द ने नारियों के आभूषण-प्रेम, राह से भटककर हट जाने पर वापस आने की प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। प्रेमचन्द नारी-मनोविज्ञान के कुशल ज्ञाता थे और प्रथम बार इस काल में नायिकाओं के रूप में पाठकों को नारी-मनोविज्ञान से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ।

वृन्दावनलाल वर्मा ने नारी की सामाजिक समस्याओं को अपने कुछ उपन्यासों में यद्यपि चित्रित करने का प्रयत्न किया है, पर वे नायिकाविहीन उपन्यास हैं। जिन उपन्यासों में उन्होंने नायिका की परिकल्पना की है, उनकी प्रेम-समस्या को ही उन्होंने मुख्य रूप से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। 'कचनार' (१९४६) की नायिका कचनार दासी है और उसे प्रचुर-मात्रा में सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। महाराज दलीपसिंह उससे प्रेम करते हैं, यद्यपि कचनार प्रारम्भ में इसे स्पष्ट नहीं करती पर अस्वीकृत भी नहीं करती। वह अत्यन्त गम्भीर स्वभाव की आत्माभिमानी युवती है। उसमें संयम और विवेक की कमी नहीं है और भावुकता में आकर जीवन की मर्यादा और गौरव का त्याग नहीं करती। प्रारम्भ में कचनार में अहं की प्रधानता है। उसमें विचित्र-सा अहं है, जो धीरे-धीरे प्रेम-सूत्र में उन्मीलित होता है। वस्तुतः नारी प्रेम में अपनी पराजय नहीं स्वीकार करना चाहती तथा साथ ही वह अपने अहं को टूटकर बिखरते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी नहीं देखना चाहती। भारतीय नारियाँ प्रेम में एक पवित्रता चाहती हैं तथा विवाह को ही प्रेम की अन्तिम परिणति मानती हैं। प्रेम को जीवन में मनोरंजन का साधन नहीं समझतीं। कचनार के माध्यम से वर्माजी ने यही सफलतापूर्वक चित्रित करने का प्रयत्न किया है। 'झाँसी की रानी' (१९४६) की नायिका लक्ष्मीबाई की परिकल्पना का उद्देश्य एक ऐसी नायिका का चित्रण करना था, जो नारियों को फिर से उनके गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिला सके और उनमें ओजपूर्ण भावनाएँ भर सके। जिस समय इस उपन्यास की रचना हुई थी, भारतीय नारियों में काफ़ी आत्म-पतन हो चुका था और वे पश्चिमी रंग में अपने को पूर्णतया रंगती जा रही थीं। राष्ट्र अभी भी दासता की शृंखलाओं को विच्छिन्न नहीं कर पाया था। ऐसी अवस्था में नारियों के नैतिक उत्थान, उनमें वीरता एवं ओज की भावना भरकर दायित्व-निर्वाह की अनुपम प्रेरणा प्रदान करने के उद्देश्य से ही लक्ष्मीबाई का चित्रण किया गया है। वर्माजी की नायिकाओं में आदर्शवादी दृष्टिकोण ही प्रमुख रूप से चित्रित हुआ है, जो प्रेम की पवित्रता एवं गौरव के प्रति आस्थावान् हैं। उन्होंने विधवा समस्या पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं और उनके दृष्टिकोण से इस भीषण समस्या का एकमात्र समाधान विधवा का पुनर्विवाह है। पिछले काल में कोई उपन्यासकार ऐसा सोच भी नहीं सकता था। 'अचल मेरा कोई' (१९४७) में निशा एक विधवा शिक्षित युवती है। उसमें तीव्र चेतना एवं कुशाग्र बुद्धि है। वह अचल से विवाह कर समाज के सम्मुख सफल विवाहित जीवन का अनुपम आदर्श उपस्थित करती है। वर्माजी के विचार से विधवा-विवाह में पुरुष त्याग नहीं करता, स्वयं नारियाँ ही त्याग करती हैं। नारी अपने आत्मसम्मान के सम्मुख नहीं झुकती। इसी उपन्यास में कुन्ती के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है। प्रेम की पवित्रता, जीवन की मर्यादा एवं गौरव तथा नारी मूल्यों को 'प्रेम की भेंट' में चित्रित किया गया है। उन्होंने ऐसी भी नारियों का चित्रण किया है जो पातिव्रत धर्म का पालन करती हैं। वर्माजी के अनुसार नारी के सतीत्व एवं पवित्रता में बड़ा बल होता है। 'कुण्डली चक्र' में रतन के जीवन का चरम लक्ष्य पतिसेवा ही है और कुछ नहीं। वह पति के लिए अपना निजत्व मिटा देने का प्रयत्न करती है। यहाँ तक कि उसको दूसरा विवाह करने की भी अनुमति दे देती है, क्योंकि वह समझती है—नारी का व्यक्तित्व उसके पति के व्यक्तित्व के समक्ष शून्य है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'त्यागमयी' (१९४०) में ललिता के माध्यम से एक ऐसी नारी का चित्रण किया है, जिसका निष्कर्ष है कि जिस नारी के जीवन में त्याग नहीं है, सहानुभूति और मातृत्व नहीं है, उसका जीवन व्यर्थ है। वह नारीत्व के उच्चासन पर अधिष्ठित होने की अधिकारिणी नहीं है। निराला ने 'निरूपमा' (१९३६) की नायिका निरूपमा का स्वरूप भी परम्परागत आदर्शों पर ही प्रस्तुत किया है। उसका हृदय बड़ा सरल है। मानव सुलभ दृढ़ता एवं निश्चय का उसमें पूर्ण अभाव है। उसे मानव मात्र के प्रति चरम सहानुभूति है और पारिवारिक शृंखलाओं को विशृंखलित करने और रूढ़ियों को तोड़ने में वह अपने को पूर्णतया असमर्थ पाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने पर भी वह रूढ़ियों से ग्रस्त है। यह निराला के परम्परागत मोह का ही परिणाम है। प्राचीन हिन्दू संस्कार उसमें भरे पड़े हैं, और वह जान-बूझकर प्रगतिशीलता को नहीं आत्मसात करना चाहती। निराला के एक अन्य उपन्यास 'अलका' (१९३३) की नायिका शोभा में भी यही विशेषताएँ लक्षित होती हैं। एक कृषक युवती से वह सुशिक्षित आधुनिक चेतना-सम्पन्न युवती बन जाती है—यह वस्तुतः समकालीन नारी-विकास की ही कहानी है। अलका का चरित्र एक छोटे-से, धूल में लिपटे हुए बीज के निखरने की कहानी के सदृश ही है। अलका का चरित्र और भी स्पष्ट होकर निखरता तथा उसकी प्रभावशीलता में और भी वृद्धि होती, यदि लेखक उसे अपने हाथों की कठपुतली न बना डालता। उसके चरित्र का स्वतन्त्र विकास कहीं नहीं हो पाया है। वह लेखक की दिशाओं में संकेतों के अनुसार ही घूमती रहती है। वास्तव में अलका की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में लेखक का उद्देश्य भारतीय नारियों के समक्ष यह आदर्श रखना था कि उनमें तीव्र प्रतिभा एवं चेतना सोई हुई है, जिसका देश के कल्याण के लिए उन्हें विकास करना होगा। वे आधुनिकता की ओर चाहे जितना बढ़ सकती हैं, पर उसका तात्पर्य यह नहीं कि वे अपने परम्परागत आदर्शों को भी त्याग दें और उच्छृङ्खलता की सीमा का अतिक्रमण कर दें। वे उस आधुनिकता से भी अलका की भाँति अपनी पवित्रता एवं सतीत्व की रक्षा कर सकती हैं। अलका की परिकल्पना कदाचित् तत्कालीन कट्टरपन्थियों के लिए विचित्र लगी होगी, पर तब उपन्यासकार नवीनता के प्रति अपना अधिक आग्रह प्रकट करने लगा था और प्राचीनता के प्रति आस्थावान् रहकर अपनी प्रगति कुण्ठित नहीं करना चाहता था। अलका भारतीय नारी के विकास की कहानी ही है, जो तत्कालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में कुशलतापूर्वक प्रस्तुत की गई है। आर्थिक परवशता को स्वयं झेलने और उसका निराकरण करने का चित्रण सर्वप्रथम प्रसाद ने 'तितली' (संवत् १९९१) की नायिका तितली के रूप में किया। अपने पति मधुबन की अनुपस्थिति में वह अपने पुत्र मोहन का पालन-पोषण स्वयं कमाकर करती है और दोनों का पेट पालती है। यह नायिकाओं के एक नये विकास का सूचक था और आर्थिक दृष्टि से उनके स्वावलम्बी बनने की दिशा में किये जाने वाले प्रयत्न का प्रथम चित्रण था। वेश्या नारी को पहली बार इस युग में सहानुभूति प्राप्त हुई और उसका यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न किया गया। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'माँ' (१९२९) में यह स्पष्ट किया गया है कि कोई वेश्या मात्र वेश्या ही नहीं होती, वरन् वह पहले नारी होती है, फिर कुछ और। वह सतीत्वहीन होते हुए भी स्त्रीत्वहीन नहीं होती। इसी उपन्यास में पहली बार वेश्या-विवाह का चित्रण और समर्थन हुआ है।

इस प्रकार प्रेमचन्द-काल में हमें नायिकाओं का ऐसा स्वरूप प्राप्त होता है, जो पिछले युग की नायिकाओं की अपेक्षा अधिक विकसित है, साथ ही सत्य भी। उसमें काल्पनिकता का समावेश पिछले युग की भाँति नहीं है और वे युग-जीवन के अधिक निकट हैं। पर इस निकटता पर आशंका, संकोच एवं दुराग्रहपूर्णता की छाया भी अंकित है, यह स्वीकार करना होगा। सुमन के जीवन की समस्याओं का समाधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्रम में नहीं, विद्रोह में था। ऐसा विद्रोह जो समाज की व्यवस्था को उलट-पलट सकता है, जो नारियों के भीतर सुलग रही थी, पर प्रस्फुटित नहीं हो रही थी और जिसके लिए नेतृत्व की आशा थी। निर्मला के मन का विद्रोह भी ज़बर्दस्ती नियन्त्रित किया गया है। यही स्थिति तितली आदि की भी है। यह परम्परागत मोह के कारण ही हुआ है। प्रेमचन्द अपने विचारों में प्रगतिशील तो थे, पर प्रारम्भ में काफ़ी समय तक वे अपने परम्पराओं के मोह को नहीं तोड़ पाए थे। सुमन का विवाह सदनसिंह से वे इसीलिए नहीं करा पाए, क्योंकि वेश्या-विवाह को अच्छा समझते हुए भी वे समाज में विद्रोह नहीं उपस्थित करना चाहते थे। इस कार्य को 'माँ' में कौशिकजी ने किया, जब बन्दीजान वेश्या की दोनों बेटियों का विवाह हो जाता है। विधवा-विवाह को भी परम्पराओं के ऊपर ज़बर्दस्ती नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया। 'प्रतिज्ञा' में पूर्णा का विवाह न कराकर विधवाश्रम की स्थापना की गई है। इस काल में, वास्तव में, उपन्यासकारों में पर्याप्त प्रगतिशीलता का संचार हो रहा था, पर परम्पराओं एवं आदर्शों के मोह को यथार्थवाद के समक्ष तोड़ने को वे कदापि तैयार न थे, यद्यपि उसकी ज्वालाएँ फूट रही थीं, और आगामी युग की पृष्ठभूमि निर्मित हो रही थी।

: ४ :

उत्तर-प्रेमचन्द-काल में मनोविज्ञान की नवीन विचारधाराओं ने उपन्यासकारों को एक नवीन दृष्टि दी और उनमें एक नवीन नारी-भावना का जन्म हुआ। अभी तक नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत परम्परागत रूपों में अथवा समाज की समस्याओं में निहित था, पर अब उपन्यासकारों ने पश्चिमी मनोवैज्ञानिक विचारकों एवं मनोविश्लेषणवादी आचार्यों को अपना आदर्श बनाया और नायिका की परिकल्पना का सम्बन्ध मनोविज्ञान के इन नवीन सिद्धान्तों से सूत्रबद्ध किया। उन्होंने अब केवल नायिका के बाह्य क्रिया-कलापों अथवा मात्र गौरवपूर्ण परम्पराओं को ही अपने चित्रण का उद्देश्य नहीं बनाया, वरन् अब नायिकाओं की मनःस्थिति और उनके अन्तरमन की भावनाओं का अध्ययन कर उनके चरित्रों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया। फ्रायड ने नारियों में सेक्स ईर्ष्या के परिणामस्वरूप ईर्ष्या, द्वेष तथा सामाजिक अन्याय की प्रवृत्ति पाई थी। उनमें पुरुषों से अधिक आत्मप्रेम होता है तथा उनमें सांस्कृतिक कार्यों को करने के प्रति उत्साह नहीं होता। उनके उदात्तीकरण में वे सर्वथा असमर्थ रहती हैं। नारी परिवार में सेक्स जीवन से सम्बन्धित हितों का प्रतिनिधित्व करती है। सभ्यता के विकास का उत्तरदायित्व पुरुषों पर ही होता है। वह नारी के अधिकार-सीमा के बाहर होता है। इसमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं तथा नैसर्गिक प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण की नितान्त आवश्यकता होती है, जिसे कार्यान्वित करने में नारियाँ असमर्थ रहती हैं और पुरुष प्रयास द्वारा उसे सम्भव कर दिखाता है। सभ्यता के विकास का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है, इसीलिए पुरुष उसे सम्पादित करता है। क्योंकि उसमें प्रखर चेतना-शक्ति होती है और सारे महत्त्वपूर्ण कार्य वही करता है, नारियाँ उसे नहीं कर सकतीं। अतः सभ्यता के विकास में पुरुषों की अपेक्षा अपने को उपेक्षणीय पाकर उनके प्रति उनमें ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्युत्पन्न होती है। वास्तव में मनोविश्लेषण की सहायता से मनुष्य अपने को और भी भली-भाँति समझने और स्वयं अपना अध्ययन करने की लालसा प्रकट करता है और इसी के आधार पर जब नारियों ने अपने मन में पुरुषों की अपेक्षा हीनता के भाव (Inferiority Complex) को जन्म लेते देखा, तो उनके मन में सभ्यता के अधिकारों के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता है। नारी के आकर्षण का सर्वप्रमुख केन्द्र उसका परिवार और काम-भावना (Sex Complex) ही है। फ्रायड ने यौन-इच्छाओं को स्वाभाविक और अनिवार्य बताया था और जीवन के विकास में उसकी सापेक्षता प्रमाणित की थी। उसके विचार से कामवासना के आधार पर निर्मित पाप-पुण्य, नीति-अनीति आदि की मान्यताएँ असत्य एवं भ्रमोत्पादक हैं। कामभावना जीवन की अनिवार्यता है, जिससे मानव, विशेषतया नारी विमुख नहीं हो सकती। अतः फ्रायड के विचारों के फलस्वरूप सामाजिक बन्धन उत्तरोत्तर शिथिल होते गए और कामभावना की गोपनीयता समाप्त होकर उसकी स्पष्टता सिद्ध होती गई। लुडोविची ने नारी की मूल प्रेरणा-शक्ति (Primus Mobile) पर बल देते हुए बताया है कि इसके परिणामस्वरूप नारी में जीवन के संरक्षण और पोषण के तत्त्व प्रधान हो जाते हैं, जिससे जीवन में गतिशीलता का भाव उत्पन्न हो जाता है और उसका विकास होता है।

फ्रायड के अनुसार नारी के स्वभाव में अनेक तत्त्व प्रमुख होते हैं। उसे कोमलता, स्वभावगत ईर्ष्या, सामाजिक चेतना और न्याय की न्यूनता, साधारणतया दुर्बल नैतिक भाव, हीनतापूर्ण सामर्थ्य, उदात्तीकरण के प्रति सीमित दृष्टिकोण (विशेषतया सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रति) मनोवैज्ञानिक विकास का प्रारम्भिक नियन्त्रण, परिवार और वासनात्मक जीवन के रूप में सभ्यता के प्रति विनाशपूर्ण दृष्टि, अति लज्जाशीलता तथा गर्व की भावना आदि इस प्रकार का रूप प्रदान करते हैं कि उसका चरित्र विचित्र प्रकार की प्रवृत्तियों का समन्वय-सा बन जाता है। मनोविश्लेषणात्मक प्रक्रिया के माध्यम से यह बात प्रायः निश्चित-सी है कि सभी नारियाँ इस बात का अनुभव करती हैं कि बाल्यावस्था में उनकी भावनाओं को आघात पहुँचा है और अपने किसी भी दोष के न होने के बावजूद भी वे अपने स्वाभाविक विकास से वंचित रह गई हैं। अधिकांश लड़कियों को अपनी माँ से मात्र इसी कारण घृणा हो जाती है कि उन्हें इस सृष्टि में लड़के के बजाय लड़की के रूप में उन्होंने क्यों जन्मा? आयुवृद्धि के साथ नारी में वासनात्मक जीवन (Sexual Life) के प्रति अभिरुचि भी वृद्धि प्राप्त करती जाती है, विशेष रूप से जब वह एक बच्चे की माँ हो जाती है। समाज में नारी की निम्नावस्था से नारी में हीनता की ग्रन्थि (Inferiority Complex) उत्पन्न हो जाती है। वह उन सारी विषमताओं तथा बाधाओं की प्रतीक है, जो हमारी प्रगति तथा सामाजिक सफलता को अवरुद्ध करती हैं। लज्जाशीलता, जिसे नारियों का सर्वप्रमुख गुण माना गया है, 'सभ्य' एवं 'आधुनिक' मान्यताओं में उसकी नवीन व्याख्या इस प्रकार की गई है कि नारियों में लज्जाशीलता का यह गुण केवल इसलिए होता है, जिससे वह अपनी कमियों और दोषों को छिपा सके। वास्तव में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविश्लेषण सिद्धान्त के अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया कि लड़कियाँ अपने बाल्यावस्था में अपने अन्य भाइयों तथा पिता को देखकर यह निष्कर्ष निकालती हैं कि उनमें कुछ ऐसी 'प्रमुख' विशेषताएँ हैं, जिनसे वे वंचित हैं। इसका उनकी चेतना-शक्ति पर गहन् प्रभाव पड़ता है, जो उनके स्वाभाविक विकास तथा चारित्रिक निर्माण की प्रक्रिया पर अमिट प्रभाव छोड़ जाता है। अधिकांश रूप से बिना अत्यधिक मानसिक शक्ति व्यय किये उन्हें नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। उनके जीवन में वासना के आधिक्य के प्रति कहा गया है कि वस्तुतः वही उनका जीवन है और उनकी जीवन-प्रक्रियाओं का एकमात्र उद्देश्य वासना तृप्ति ही रहता है। पर बाद में इस धारणा में परिवर्तन हुआ और यह विचार प्रकट किया जाने लगा कि वस्तुतः नारी सर्वप्रथम अपने को व्यक्तिगत रूप में ही देखती है, वासनापरक भावनाओं की पूर्ति की दिशा में साधन रूप में नहीं। अतः वासना के आधिक्य को वैज्ञानिक ढंग से सोचा जाना चाहिए। यहाँ तक कहा गया कि नारियों में क्षीण स्मृति होती है तथा वह अपने अतीत के प्रति कभी दुःखी नहीं होती, उन्हें खेद भी नहीं होता। जीवन के स्थायी और शाश्वत मूल्यों के प्रति उनकी कोई रुचि नहीं होती। बस उनके जीवन में वासना की प्रधानता तथा पुरुषों के प्रति द्वेष की भावना होती है। छोटी लड़की का अपने पिता के प्रति, अधिक आयु की स्त्री का अपने बड़े पुत्र के प्रति आकर्षण तथा एक पुत्र के जन्म होने पर माँ की सन्तुष्टि इसी द्वेष की भावना की अभिव्यक्ति करती है। वास्तव में नारी अपनी हीनता की ग्रन्थि का निराकरण कर अपने को उच्चता की भावना से ओतप्रोत करना चाहती हैं।

मनोविज्ञान-सम्बन्धी इन नई मान्यताओं ने उत्तर-प्रेमचन्द-काल में उपन्यासकारों के नायिका-सम्बन्धी परिकल्पना को विशेष रूप से प्रभावित किया। नारी के स्वरूप के सम्बन्ध में अभी तक जो परम्परागत प्रतिमान थे, उनमें इन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रक्रियाओं ने परिवर्तन उपस्थित कर दिया। अब नारी के आदर्श पत्नी, माँ, भगिनी रूप या विधवा एवं वेश्या रूप के प्रति उपन्यासकारों की विशेष रुचि न रही। उन्होंने नारी के चरित्र की आन्तरिक वृत्तियों का उद्‌घाटन करके उसके मनोविज्ञान की व्याख्या करने का प्रयत्न किया और उसमें यथार्थ का रंग भरने का भी प्रयत्न किया। नारी का मात्र आदर्शवादी परम्परागत रूप अब नायिकाओं के स्वरूप में नहीं प्रतिफलित होता था, वरन् उसके स्थान पर नारी का जो यथार्थ रूप था, नवीन चेतना के अधीन उसका जो मनोवैज्ञानिक स्वरूप था, तथा उसकी ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, प्रेम तथा वासना का स्पष्ट चित्रण होने लगा और एक प्रकार से नैतिकता और अनैतिकता का संकोच उपन्यासकारों में समाप्त होने लगा। इसके कारण स्पष्ट थे। फ्रायड ने व्यक्तियों में वासना की जिस प्रवलता को प्रबल तर्कों द्वारा सिद्ध किया था उसके प्रति आधुनिक उपन्यासकार विशेष रूप से आस्थावान् हो गया था और परम्पराओं के प्रति उसका मोह समाप्त हो गया था। इसी प्रसंग में एक बात और भी उल्लेखनीय है कि नायिकाओं की परिकल्पना के स्वरूप परिवर्तन की दिशा में उत्तर-प्रेमचन्द-काल में फ्रायड अथवा उनके सहयोगियों का ही प्रभाव नहीं पड़ा, अपितु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं भारतीय समाज में नारियों की परिवर्तित परिस्थितियों का भी मुख्य हाथ था। समाज में नैतिक तथा सांस्कृतिक मर्यादाएँ खण्डित हो रही थीं तथा पश्चिम के प्रभाव से एक विचित्र-सी उच्छृंखलता, नग्नता-प्रदर्शन, कामोत्तेजक हाव-भावों के प्रदर्शन, अतिशय फ़ैशनपरस्ती और विलासिता, चित्रपट का प्रसार एवं लोकप्रियता तथा दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली के कारण नारियों का ग़लत दिशा में प्रयाण आदि ने नायिका की परिकल्पना के सम्बन्ध में नई मान्यताएँ स्थापित कीं। इन्हें निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) परम्पराओं एवं आदर्शों के प्रति गहन आस्था का भाव।
(ख) आत्मपीड़न सहन करने का भाव।
(ग) विद्रोह का भाव।
(घ) अतीव वासनात्मक।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत शुद्ध रूप से परिकल्पित नायिकाओं की संख्या इस काल में न्यून ही है। पिछले काल के आदर्शवादी और परम्परागत उपन्यासकार भी इस युग में अपने दृष्टिकोणों में यथेष्ट मात्रा में परिवर्तन ला चुके थे, यद्यपि पिछले प्रभाव को वे पूर्णरूपेण समाप्त कर सकने में असमर्थ थे। कुछ नए उपन्यासकारों ने भी इस प्रभाव को आंशिक रूप से ग्रहण किया। इस प्रकार अन्य दो वर्गों (ख और ग) के अन्तर्गत ऐसी अनेक नायिकाएँ हैं, जिनमें परम्पराएँ एवं आदर्श तथा नारीत्व की मर्यादा आंशिक रूप से सुरक्षित प्राप्त होती है। भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्रकुमार, उषादेवी मित्रा, सियारामशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा आदि की अनेक नायिकाएँ इन्हीं आदर्शों को आंशिक रूप में ग्रहण किये हुए ही चित्रित की गई हैं।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की गई, जिनमें एक के पश्चात् एक ठोकर सहते रहने से एक विचित्र-सी तटस्थता का भाव आ जाता है और जो आत्मपीड़न में ही अपना जीवन व्यतीत करना चरम लक्ष्य समझती हैं। न उनमें विद्रोह का भाव रहता है और न ऐसे भावों को वे उत्पन्न होने देती हैं। अपनी पीड़ा, अपनी कुंठाओं तथा व्यथा को चुपचाप पीते रहने में ही वे अपने जीवन की सार्थकता समझती हैं। इस वर्ग में परम्परागत नारी रूपों का पूर्ण तिरस्कार नहीं हो पाया था, अपितु नायिकाओं की परिकल्पना पर परम्परा तथा नवीन नारी मनोविज्ञान का साथ ही प्रभाव पड़ा था, और एक प्रकार से उनमें दोनों का विचित्र प्रकार का सामंजस्य स्थापित हो गया था। जैनेन्द्रकुमार के 'परख' (१९२९) की नायिका कट्टो चार वर्ष की विधवा है, तथा समाज की रूढ़ परम्पराओं का शिकार है। वह जितनी ही सरल है, उतनी ही उसमें त्यागवृत्ति भी कूट-कूटकर भरी हुई है। व्यथा में ही भगवान बसते हैं और व्यथा को स्वयं चुपचाप पीते रहने और दूसरों को सारा विश्वास दे उनके सुख-सन्तोष की राह गढ़ना ही जीवन है। यही जैनेन्द्रकुमार का विश्वास है, और कट्टो इससे अलग नहीं है। वह इसी के लिए ही बनी है। कट्टो की परिकल्पना का स्रोत वे गौरवशाली परम्पराएँ हैं, जिनमें आत्म-पीड़न ही नारी का चरम लक्ष्य होता है। उसकी परिकल्पना का उद्देश्य नारी के गौरव रूप का चित्रण करना ही था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनेन्द्र गांधीवादी हैं और जीवन में पर्याप्त गम्भीरता और सौम्यता उन्हें प्रिय है। कट्टो इसीलिए इतनी सहिष्णु बन पाती है और उसकी सहिष्णुता ही उसे सत्यधन से दूर ले जाती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कट्टो के मूल में उसका वैधव्य और आर्थिक परतन्त्रता ही मुख्य रूप से क्रियाशील है। उसके परिवार की आर्थिक व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय थी। उसके अल्हड़ जीवन में भी अपने भविष्य के प्रति चिन्ता घुली-मिली थी, जिससे उसमें एक हीनता की ग्रन्थि उत्पन्न हो गई थी। यद्यपि जैनेन्द्रकुमार ने इसे अधिक स्पष्ट न कर उस पर अपने दर्शन, आध्यात्मिकता और प्रेम की लीपा-पोती की है, जिससे कट्टो अस्वाभाविक-सी लगती है। वास्तव में कट्टो की हीनता की ग्रन्थि ही इतने त्याग और सबसे ऊपर उठकर श्रद्धा की पात्री बनने का कारण है। इसे न स्पष्ट कर जैनेन्द्र ने कट्टो के प्रति घोर अन्याय किया है।

जैनेन्द्रकुमार के एक अन्य उपन्यास 'सुनीता' (१९३६) की नायिका सुनीता में बौद्धिक पक्ष अत्यन्त प्रबल है, इसीलिए वह अपनी भावनाओं, अपनी परिस्थितियों तथा अपनी विवशताओं से पीड़ित रहती है। उसमें विद्रोह भी प्रस्फुटित होता है तो वह उसका दमन कर देती है। वह जिस प्रकार हरि प्रसन्न को जीवन की राह पर वापस लाने के लिए स्वयं अपने पति द्वारा प्रयुक्त की जाती है, वह इस युग के लिए सर्वथा नई बात थी और जैनेन्द्र के 'नारी त्याग' की चरम सीमा भी। सुनीता का चरित्र दो अन्तर्विरोधों के मध्य निर्मित हुआ है। एक ओर वह पति-परायणा है, विवाह संस्था को भी नहीं तोड़ना चाहती, क्योंकि वह निबाहने योग्य संस्था है और ईश्वर में विश्वास रखती है। दूसरी ओर अपने 'प्रेमी' को उचित राह पर लाने और सही माने में पुरुष बनाने में भी कोई कसर शेष नहीं रखती। यहाँ तक कि यदि वह कामाग्नि से उत्पीड़ित हो संघर्ष कर रहा है, तो उसकी कामवृत्ति को सन्तुष्ट करने को तत्पर हो जाती है। लेकिन अन्त में अचेतन की विजय होती है। सुनीता की परिकल्पना के पीछे लेखक का उद्देश्य परस्पर-विरोधी परिस्थितियों में नारी को रखकर उसकी परीक्षा करना, तथा उसका आत्मविश्वास, उसकी पवित्रता एवं पातिव्रत धर्म का पालन की उत्कट लालसा को प्रकट करना था। 'त्यागपत्र' (१९३७) में नारी की आर्थिक परतन्त्रता एवं कथा को भावुकता की आधारभूमि पर मृणाल के माध्यम से उठाया गया है। प्रारम्भ से अन्त तथा मृणाल का चरित्र आत्मत्याग पर ही निर्भर करता है। जीवन-शक्ति का मूल स्रोत आत्मव्यथा में है। दुःख उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों और पीड़ा उत्पन्न करने वाले वातावरण से घृणा न करनी चाहिए। विषाद कोई अभिशाप नहीं है और उससे दूर न भाग उसमें आनन्दोल्लास की सम्भावना खोज निकालना ही अहिंसा का चरम लक्ष्य है। अभुक्त वासना को संजोकर रखना नहीं बल्कि उसका वितरण करते रहना भी अहिंसा के अन्तर्गत है। मृणाल को इसीलिए अपनी मुक्ति का एकमात्र मार्ग आत्मसमर्पण में ही दृष्टिगोचर होता है। वह यह पूछती है कि नारी क्या इसीलिए प्रताड़ित है, निर्दयता का शिकार है कि वह आर्थिक रूप से परतन्त्र है, पुरुष के आश्रित है ? मृणाल की परिकल्पना का स्रोत वे भारतीय परम्पराएँ हैं, जिनके शिकंजे में नारी कुछ इस तरह जकड़ी हुई थी कि उसका अस्तित्व दासी के अतिरिक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ और न रह गया था । 'कल्याणी' (१९३२) की नायिका कल्याणी की परिकल्पना तत्कालीन समाज में पति-पत्नी के मध्य परस्पर अन्तर्विरोध का परिणाम है । पश्चिमी शिक्षा के प्रसार से नारियों में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रखने की प्रबल भावना जन्म ले रही थी, पर साथ ही वे अपनी परम्पराएँ भी नहीं त्यागना चाहती थीं । ये दो परस्पर-विरोधी बातें थीं, क्योंकि भारतीय परम्परा में नारी पति के सम्मुख अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सकती । वह अपने पति की पूर्ण रूप से सहचरी होती है । पुरुष नारी पर अपना पूर्ण नियन्त्रण चाहता है, चाहे वह जैसा भी हो । वह नारी को अपनी दासी समझता है, और चाहता है कि नारी प्रत्येक क्षेत्र में उसकी आज्ञाओं का पालन करे । नारी में जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता जा रहा था, इस भावना के विरुद्ध उसके मन में विरोध भी उत्पन्न होता जा रहा था । फलस्वरूप ऐसे विवाहित जीवन अशान्तिपूर्ण और हलचलों से व्याप्त रहते थे । लेखक का उद्देश्य कल्याणी के रूप में भारतीय उच्च शिक्षित नारी के इस परिवर्तित जीवन को चित्रित करना था । इस प्रकार जैनेन्द्र की अधिकांश नायिकाएँ एक की पत्नी और दूसरे की प्रेयसियाँ हैं । कर्तव्य और प्रेम के मध्य उन्होंने विशृंखलित जीवन और संघर्ष को चित्रित करने का प्रयत्न किया है । उनमें पतिव्रत धर्म का पालन, गृहस्थी की रक्षा एवं संचालन, पति-भक्ति और प्रेम के साथ अज्ञात के प्रति अव्यक्त उत्कंठा है । वे सभी आत्मव्यथा तथा पीड़ा सहन करने वाली हैं, पर उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी तथा अहंवादी है । उनके अहं का धीरे-धीरे घुलना भी परवशता की विचित्र प्रक्रिया है । उनमें बुद्धि तथा हृदय का संघर्ष है तथा विजय हृदय पक्ष की होती है ।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत नारियों में परम्परा के प्रति स्पष्ट विद्रोह की भावना प्राप्त होती है । उनमें वासना के बन्धन भी कुछ मात्रा तक शिथिल हैं तथा उनमें अनैतिकता अथवा नैतिकता के प्रति संकोच की भावना न्यून है । प्रत्येक व्यक्ति में अपना अहं, अपना आत्मसम्मान होता है । कुछ उसे महत्त्व देते हैं, कुछ नहीं । जहाँ तक नारियों का सम्बन्ध है, जब तक उनमें नवीन चेतना और जागृति नहीं हुई थी, उनकी शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार नहीं हुआ था, तब तक स्वयं उन्हें कदाचित यह नहीं ज्ञात था कि व्यक्ति का अहं और उसका आत्मसम्मान भी कोई चीज़ होती है, जिसे व्यक्ति अधिकांशतः अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानता है । पर ब्रिटिश शासन के पश्चात् धीरे-धीरे स्थिति में जब परिवर्तन हुआ तो नारियों में भी अपने अहं एवं आत्मसम्मान की भावना उदित होने लगी और वे पुरुषों की अपेक्षा अपने को अधिक प्रगतिशील एवं तीव्र चेतना-शक्ति सम्पन्न सिद्ध करने की चेष्टा करने लगीं । यह भावना यहाँ तक शक्ति प्राप्त करने लगी कि नारियों में विद्रोह की भावना भी व्याप्त होने लगी और वे किसी भी मूल्य पर अपने को पुरुषों के समक्ष नहीं पराजित होते देखना चाहती थीं, चाहे वे उनके पति ही क्यों न हों । वे पति के सम्मुख भी अपने स्वाभिमान एवं आत्मसम्मान की रक्षा तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने की चेष्टा करने लगीं । उत्तर-प्रेमचन्द-काल में नारियों का स्वतन्त्र अस्तित्व यथेष्ट मात्रा में विकसित हो चला था और अपने अधिकारों के प्रति वे पूर्ण रूप से सजग हो चुकी थीं । उनमें एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पनपने लगा था और विवाह संस्था में वे आमूल परिवर्तन की माँग करने लगी थीं। वे केवल पति की दासी नहीं, वरन् दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की भाँति अपना जीवन-यापन करना चाहती थीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में एक-दूसरे का हस्तक्षेप उन्हें पसन्द न था। अंचल के 'चढ़ती धूप' (१९४५) की नायिका ममता इन्हीं भावनाओं की चरम अभिव्यक्ति करती है। अपने विवाहित जीवन में अपने पति की अपेक्षा वह प्रेमी को अधिक महत्त्व प्रदान करती है, प्रेमी की मृत्यु पर चूड़ियाँ तोड़कर अपने को विधवा स्वीकार कर लेती है। वह अपने पति से यहाँ तक कह देती है कि उसका प्रेमी अब भी चाहे तो उसे किसी कोठे पर बिठा वेश्यावृत्ति करा सकता है। विद्रोह का यह भाव अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी, की शशि के रूप में और 'देशद्रोही' की राजदुलारी खन्ना के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ है।

इलाचन्द्र जोशी के अनेक उपन्यासों की नायिकाओं में भी यही विद्रोह भाव परिलक्षित होता है। 'प्रेत और छाया' की मंजरी पुरुषों के अत्याचार को ठुकरा-कर स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करती है। 'पर्दे की रानी' में निरंजना तथा 'निर्वासित' में नीलिमा भी इन्हीं भावनाओं को व्यक्त करने वाली नायिकाएं हैं। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' की नायिका चित्रलेखा की समस्या यद्यपि स्पष्ट विद्रोह की तो नहीं है, पर उसमें व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है।

अतीव वासनात्मक रूप का चित्रण अधिकांश रूप में अज्ञेय और यशपाल ने किया है। 'दादा कामरेड' की नायिका शैल में परम्परा के प्रति ज़रा भी मोह नहीं है। वह अपने प्रेमी के समक्ष पूर्ण रूप से नग्न हो जाती है, क्योंकि वह मौत के मुख में पड़ा हुआ है। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' में भी यही होता है। वास्तव में यह विश्वास कर लिया गया कि नारियों में पुरुषों की अपेक्षा वासना की प्रबल इच्छा होती है और उनके सारे कार्य-व्यापार केवल एक ही उद्देश्य-वासना की पूर्ति के लिए होते हैं। ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना करने वाले उपन्यासकार उच्छृङ्खलता, असंयमशीलता, भोगवादी तथा पाप-पुण्य की सीमाओं के प्रति अत्यन्त असहिष्णु होते हैं और वैयक्तिक जीवन की निराशाओं (Frustrations) का प्रतिबिम्ब वासनात्मक नायिकाओं में चित्रित होता है। उनका प्रबल यौनोत्पीड़ित (Sex-obsession) वासना-सम्बन्धी रहे-सहे नियमों को शिथिल ही नहीं एक प्रकार से समाप्त कर देता है और वह सेक्स-सम्बन्धी स्वतन्त्रता की मांग करता है, जिससे सभ्यता का पूर्ण विकास (या पतन ?) हो सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० *सियाराम तिवारी*

नयी कविता की भाषा : शब्द-प्रयोगों पर एक विहंगम दृष्टि

१. 'अज्ञेय' ने 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में स्वीकार किया है कि नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से सम्बन्ध रखता है। अतएव नई कविता की भाषागत उपलब्धि स्वभावतः ही सबसे अधिक है।

नई कविता के कवि काव्यभाषा को नया कुछ देने के लिए सभी दिशाओं में गए हैं; बोली से लेकर शब्द-कोश तक चक्कर लगाया है, अन्य भाषाओं का आश्रय लिया है तो शब्दों का निर्माण भी किया है।

बोली के शब्दों का प्रयोग

२. अनुभूति को सही अभिव्यक्ति देने के लिए नई कविता के कवियों ने बोलियों से पर्याप्त शब्द लिये हैं।

टरकाऊँगा **इसे जैसे भी हो आने-दो आने देकर !**

—रणधीर सिनहा, आधार, फरवरी, १९६१।

'टरकाना' का खड़ी बोली में कोई पर्याय नहीं है। आगन्तुक अथवा याचक को उसके मनोनुकूल या उसका प्राप्य न देकर नाम-मात्र के लिए उसे कुछ देकर विदा कर देने के लिए बिहारी बोलियों में 'टरकाना' का प्रयोग होता है।

यही तोसरे, आँक रहे जो
मांस-पेशियों में कितना है श्रम-बल
(बिना छुए या *टोये* **जैसे चूजे को गाहक** *टोता* **है।)**

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ३७।

'टोना' बोली का शब्द है जो 'छूने' और 'पकड़ने' के बीच का अर्थ देता है। ऐसा स्पर्श जिसमें कुछ पता लगाने का भाव सम्मिलित हो, टोना है।

बनाकर ठूंठ छोड़ गया पतझार
उलंग **असगुन-सा खड़ा रहा कचनार**

—नागार्जुन, सतरंगे पंखोंवाली, पृष्ठ १८।

'उलंग' का अर्थ है 'बेढंगा'। ऐसी जगह पर कोई चीज़ रख देना कि उससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी प्रकार के खतरा होने की सम्भावना हो, 'उलंग' कहते हैं। 'पतझार' के पश्च पत्रहीन, डंठलयुक्त कचनार का पेड़ मनुष्य के लिए उलंग नहीं तो क्या होगा?

घंटों हँस-हँस *बतियाती* ले खुली खिलखिलाहट बालाएँ

—प्रभाकर माचवे, स्वप्न-भंग, पृ० ४

घण्टों निष्प्रयोजन गप्प करने के लिए 'बतियाना' शब्द बड़ा व्यंजक है।

बाहर एक तरफ कोने में
लेटा लेटा *औंघाता* है!

—केदारनाथ अग्रवाल, युग की गंगा, पृष्ठ ४

नींद से मत्त होकर झुकने का बोध कराने के लिए 'ऊँघना' से 'औंघा उपयुक्ततर है।

३. नई कविता के कवि इसकी विपरीत दिशा में भी गए हैं, अर्थात् ऐसे श का भी प्रयोग किया है जो साधारणतया प्रचलित नहीं हैं।

अभी सुन पड़ी नहीं *परभृता* की कूक,
अभी कहीं कँपी नहीं है चातकी की हूक,

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ५६

'कोकिला' के लिए 'परभृता' शब्द साधारण प्रचलन में नहीं है, इसे कोश ढूंढ़ा हुआ ही कहा जाएगा।

नयी कविता में विदेशी शब्द

४. नये युग की नई अनुभूति को व्यक्त करने के लिए नई कविता के कवि ने बोलचाल में प्रचलित अंग्रेज़ी की शब्दावली को ग्रहण कर लिया है।

इंजिन के *हेड लाइट*-सा शोर गुल के बीच सूरज निकल गया

—मदन वात्स्यायन, आयाम, पृ० १४

सात रंगों के घोड़ों से जुते हुए और अरुण नामक सारथी के द्वारा हाँके रथ में सूर्य का निकलना, नई कविता का कवि नहीं देख सकता। सूर्य के गोले इंजिन के हेड लाइट से उपमित करना उचित और चमत्कारपूर्ण दोनों है। यहाँ तो हेड लाइट का अनुवाद कर और न किसी अन्य शब्द के द्वारा ही इस अनुभूति अभिव्यक्ति हो सकती थी।

किन्तु निम्नांकित पंक्तियों में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग प्रमादपूर्ण ही क जाएगा—

जैसे इन सबसे उसे कतई नहीं *इराटरेस्ट*
पूँछ फिर झंडे-सी हिलती है
धीरे से बाहर चला जाता है
अराडर प्रोटेस्ट।

—ठाकुर प्रसाद सिंह, वासंती, जून '६१

५. नए शब्द गढ़ने की दिशा में नई कविता के प्रायः सभी कवि अग्रसर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यही नहीं, उन्होंने अपनी शक्ति का सर्वाधिक व्यय इसी प्रयास में किया है। अतएव उन दिशाओं का अध्ययन आवश्यक है जिनमें चलकर शब्द बनाये गए हैं।

पुराने शब्दों को खरादना

६. यह शब्द-निर्माण की पहली दिशा है। संयुक्त शब्दों के अग्र अथवा पश्च भाग को एवं उपसर्ग-प्रत्यय के योग से बने शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय को झाड़कर शब्दों को नई चमक देने का प्रयत्न किया गया है।

_शप्त_ जग की तप्त धरती पर झुलसते पैर

—भारतभूषण अग्रवाल, ओ अप्रस्तुत मन, पृ० ६४।

'अभिशप्त' का 'अभि' उपसर्ग झाड़कर 'शप्त' बनाया गया। यों भी 'शाप' से 'शप्त' बन जाता है, किन्तु प्रचलित 'अभिशप्त' ही है।

तुम्हारा हृदय भी है उसी सागर की तरह गम्भीर, _द्वेलित_

—वही, पृ० ६६।

'उद्वेलित' का आरम्भिक 'उ' हटाकर 'द्वेलित' रखा गया। यहाँ ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि उत्कर्ष-सूचक 'उत्' उपसर्ग को हटाकर मूल शब्द को मूल भाव प्रकट करने के लिए रखा गया है, क्योंकि 'उद्वेलित'='उत्'+'वेलित', अतः 'उत्' को हटा लेने पर 'वेलित' बचेगा।

उपसर्ग-प्रत्यय जोड़कर शब्द गढ़ना

७. हिन्दी के अपने उपसर्गों और प्रत्ययों के अतिरिक्त संस्कृत और उर्दू के उपसर्ग और प्रत्यय भी प्रयुक्त होते हैं। नई कविता के कवियों ने शब्द गढ़ने में इनका प्रभूत उपयोग किया है।

(१) **मैं उन्हें _निर्वैर_ एकांत प्यार दूँ, अनासक्त**

—श्रीराम वर्मा, नई कविता ५-६, पृ० २३०।

(२) **पत्ते भी खड़े चुपचाप सीने तान—**
अपनी _व्यक्तिमत्ता_ के सहारे जो चले हैं प्राण,

—गजानन माधव मुक्तिबोध, तार सप्तक, पृ० ४३।

(३) **मालव की संध्याएँ**
_मेघल_ अवसाद लदी।

—प्रभाकर माचवे, तार सप्तक, पृ० ५३।

(४) **झुरमुटों पर मृगनयन-सी तालियाँ उड़ती हुई**
_साँझिल_ हवा—
सब कह रही हैं।

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० १०।

(५) **_सँझवायी_ लहरों पर गतिशील सदा को चले गये।**

—वही, पृ० १८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) हवाओं की नील गीली पन्नियाँ
उड़ रहीं भींगे, *सँझाये* शहर-शिखरों पर;

—वही, पृ० २३।

(७) मदिर *मधुमान*
श्रम संगीत से
हम
हर तबाही के
अभेदे दुर्ग तोड़ेंगे !

—महेन्द्र भटनागर, संतरण पृ० २।

(८) मेरी वासनाएँ
हिमालय से प्रवाहित
वेगगा भागीरथी की
शुभ्र धारों की तरह !

—वही, पृ० ४२।

'वैर' में 'निः' उपसर्ग जोड़कर 'निर्वैर' बना। 'बुद्धिमत्ता' के सादृश्य पर 'व्यक्तिमत्ता' बनाया गया है, पर 'व्यक्तित्ववत्ता' शब्द उपयुक्त होता, क्योंकि भाव-वाचक संज्ञा में 'मान्' या 'वान्' लगाकर विशेषण और फिर उस विशेषण के अन्त्य को क्रमशः 'मत्ता' अथवा 'वत्ता' बनाकर उसे संज्ञा में परिणत किया जाता है। इस-लिए 'व्यक्ति' शब्द से नहीं, 'व्यक्तित्व' शब्द से शुरू करना होगा और अकारांत होने के कारण 'वान्' और तब 'वत्ता' लगेगा। 'मेघ' में 'ल' प्रत्यय लगाकर 'मेघल' शब्द बनाया गया है जिसका अर्थ है, 'मेघ के समान' या 'मेघयुक्त'। नरेश मेहता ने 'साँझ' के तीन विशेषण उपर्युक्त उदाहरणों में प्रयुक्त किये हैं—साँझिल, सँझवाई और सँझाये। तीनों स्थानों पर तीनों शब्दों से नए-नए चमत्कार प्राप्त किये गए हों, ऐसा तो कुछ नहीं लगता। एक 'साँझिल' से सर्वत्र काम चल सकता था और 'साँझ' का यही एक विशेषण उपयुक्त है भी। शब्द-रूपों की यह स्वच्छन्दता वांछनीय नहीं। 'मधु' में 'मान्' प्रत्यय लगाकर मधुमय' का अर्थ देनेवाला 'मधुमान' शब्द बना है। 'वेग' के साथ गत्यर्थक 'गम्' धातु का 'गा' (स्त्रीलिंग) रूप जोड़कर 'वेगगा' शब्द बना, जिसका अर्थ है 'तेज़ चलनेवाली'।

संज्ञा से क्रिया बनाना

८. बोलियों की यह एक विशेष प्रवृत्ति है जिसका नई कविता के कवियों ने अत्यल्प सार्थक और अत्यधिक निरर्थक उपयोग किया है।

(१) जागो
और खोओ
स्मृति में *अनुरागो*।

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृ० ५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) वर्षा
जिसने कर्षक को *आकर्षा* ।
स्वस्थ, मस्त बूँदों ने आकर,
विपद्ग्रस्त धरती को *स्पर्शा* ।

—प्रभाकर माचवे, तारसप्तक, पृ० ५५ ।

(३) गर्मी से घबड़ा *सृष्टि* ईश्वर ने *निर्मी*,
कहते हों मर्मी, पर हे ईश्वर ! यह गर्मी !!

—वही, स्वप्न-भंग, पृ० १४ ।

(४) जब सुभाष ने अग्रगामि-दल नगर बम्बई में *स्थापा* था

—वही, पृ० ८४ ।

(५) शेष गायन गा रहे सुधि हंस
सह संगीतती संज्ञा, वनपाखी ! सुनो !!

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० २१ ।

प्रचलन के अनुसार 'अनुराग' संज्ञा में 'करना' जोड़कर उसे क्रिया बनाएँगे; किन्तु सीधे 'अनुराग' को ही क्रिया-रूप में चलाने में, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि बिलकुल खटक न होगी, पर बहुत खटक इसलिए न होगी कि इस संस्कृत शब्द को बोली का रूप देने में इसे बदलने की ज़रूरत न पड़ेगी। इसके विपरीत 'आकर्षण', 'स्पर्श', 'निर्माण', 'स्थापना', ये शब्द बोली में इसी रूप में नहीं चलेंगे। अतः बोली का व्याकरण लगाने के पहले, (इन संज्ञा शब्दों को क्रिया-रूप देने के पहले) इन्हें बोलियों के अनुरूप ढालना होगा। उदाहरणार्थ 'स्थापना' बोली में 'थापना' और उसका भूतकालिक रूप 'थापा' होता है। 'स्थापा' और 'थापा' का अन्तर स्पष्ट है। 'स्थापा' में एक प्रकार का अजनबीपन है, जो 'थापा' में नहीं है। इसी तरह 'सहसंगीत' से 'सहसंगीतती' चलाना ज़्यादती है।

क्रिया-पद भाषा के प्राण होते हैं, अतएव ये सदैव भाषा की प्रकृति के अनुकूल ही होंगे। इस क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रमादपूर्ण प्रयोग करना प्रकृति को बदलने का दुस्साहस है।

क्रिया से संज्ञा

नयी कविता के कवियों ने विपरीत प्रयोग भी किया है, अर्थात् क्रिया-पद से संज्ञा-पद भी बनाये गए हैं।

मेल मुझे लेकर उड़ती जाती थी,
... ...
कितनी ही पर्वत-माला की *घूमों* में से।

—गिरिजाकुमार माथुर, तारसप्तक, पृ० ४४ ।

'मोड़' का बोध कराने के लिए 'घूमना' क्रिया से 'घूम' संज्ञा बनाई गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञा से क्रिया बनाने की अपेक्षा क्रिया से संज्ञा बनाना आसान है, पर इसकी ओ
कवियों का ध्यान कम गया है।

संज्ञा से विशेषण

१०. जिन संज्ञाओं के विशेषण नहीं बनाये गए थे, उनसे भी नई कविता
कवियों ने विशेषण बनाए हैं।

(१) **शिखर *वस्त्रित* वायु की वन बोलियाँ**

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० २

(२) **सियाह लहरों में नहा रहीं**
***किरनीली* मूर्तियाँ—**
मेरी ही स्फूर्तियाँ

—गजानन माधव मुक्तिबोध, कल्पना, १३

(३) **दक्षिण-पश्चिम से हहर-हहर अरबी सागर**
उद्दाम स्वन, *ज्वारित* अखंड, बहती जिस पर

—प्रभाकर माचवे, स्वप्न-भंग, पृ० २

(४) **जैसे स्वयं मेरी ही *ममतालु* बालिका हो**

—प्रयागनारायण त्रिपाठी, तीसरा सप्तक, पृ० ४

(५) **तुम्हारी यह *दंतुरित* मुसकान**

—नागार्जुन, सतरंगे पंखोंवाली, पृ० ४

'वस्त्रित', 'किरनीली', 'ज्वारित', 'ममतालु', इन नवनिर्मित विशेषण
हिन्दी का शब्द-भांडार बढ़ा है। 'दंत' से 'दंतुर' विशेषण बनता है अतः 'दंतु
अति-प्रयोग ही कहलाएगा।

११. तद्भव शब्दों को संस्कृत व्याकरण के अनुसार ढाला गया है।

जाने कैसे विद्युत्कर्षण से *परसित* है तन-मन-अणु-अणु।

—प्रभाकर माचवे, तार सप्तक, पृ०

'परस' संस्कृत 'स्पर्श' का तद्भव रूप है, जिसका विशेषण होता है 'स्प
किन्तु यहाँ 'परस' का विशेषण संस्कृत का 'इत' प्रत्यय लगाकर 'परसित' ब
गया है।

१२. प्रचलित शब्दों के साहृश्य पर नये शब्द गढ़े गए हैं।

तेरा वरद, मेरा *अभयद*, यों हमारे हाथ हैं।

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृ०

'वरद' के साहृश्य पर 'अभयद' बना, जो उचित ही है।

१३. विशेषण का संज्ञा की तरह और संज्ञा का विशेषण की तरह
हुआ है।

शब्दों का निर्माण यही नहीं है कि शब्दों को काट-छांटकर या उनमें
जाड़कर उन्हें नया रूप दिया जाए। शब्दों का नया प्रयोग भी उनका नव-निर्माण है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) तब उसने जो सब *रिक्तों* में भरा हुआ है
अपने भेद कहे।

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ७९।

(२) ग्वालिन-सी ले दूब मधुर
वसुधा हँस-हँसकर गले मिली
चमका अपने *स्वर्ण* सींग वे
अब शैलों से उतर चलीं

—नरेश मेहता, दूसरा सप्तक, पृ० १२५।

पहले उदाहरण में 'रिक्त' विशेषण का संज्ञा की तरह और दूसरे उदाहरण में 'स्वर्ण' संज्ञा का विशेषण की तरह प्रयोग हुआ है।

पुंलिंग से स्त्रीलिंग

१४. दोनों जातियों का बोध करानेवाले पुंल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग-रूप दिया गया है।

(१) कोई तब कहता है—
पक्षिणियाँ सचमुच अपार्थिव हैं।

—गजानन माधव मुक्तिबोध, कल्पना, पृ० १३१।

(२) खड़ी खेत के बीच *किसानिन* कजरी गाये री

—भवानीप्रसाद मिश्र, दूसरा सप्तक, पृ० १७।

'पक्षी' और 'किसान' दोनों व्याकरण से पुंल्लिग हैं, परन्तु दोनों का स्त्रीलिंग-रूप बनाया गया है।

निपात

१५. पीछे कहा जा चुका है कि नयी कविता के कवियों ने नयी अभिव्यंजना देने के लिए शब्द गढ़े हैं। बल्कि प्रतीत तो ऐसा होता हैं कि नयी कविता के कवि शब्द गढ़ने के लिए आकुल हैं और इस आकुलता में उन्होंने व्याकरण का ध्यान ही भुला दिया है तथा निपातों की संख्या बढ़ाई है।

(१) *जन्मवधि* मधुऋतु-विजय···
हम मृत्यु के भी पार
देखें !

—श्रीराम वर्मा, वासंती, दिसम्बर '६०।

(२) रुकना नहीं है तुम्हें अब *अधबीच* में !

—भारतभूषण अग्रवाल, ओ अप्रस्तुत मन, पृ० १२६।

(३) जो देय था वह दे चुके,
जो गेय था, *छंदित* चुके;

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० १९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) अच्छी है किसी दुखियारे की सहायता
बेकार पोथा भर लिखना हाय-*हायता*

—प्रभाकर माचवे, स्वान-भंग, पृ० ५१

पहले उदाहरण में 'जन्मवधि' शब्द विचारणीय है। जन्म+अवधि 'जन्मावधि' होगा। 'जन्मवधि' का व्याकरणिक औचित्य तो नहीं ही है, इस शब्द के पीछे कवि का कोई अभिप्राय हो सकता है, यह भी समझ में नहीं आता। 'बीच' का अर्थ है 'आधा' और 'आधा' का अर्थ है 'बीच', तब 'अधबीच' क्या ? नरेश मेहता ने 'छंदबद्ध' के अर्थ में 'छंदित' का व्यवहार किया है। 'छंद' का व्युत्पत्यर्थ होता है 'छिपाना', अतः 'छंदित' का अर्थ हो जाता है 'छिपाया हुआ'। इस अर्थ में भी 'छंदित करना' या 'छंदित होना' प्रयोग चलेगा, 'छंदित चुकना' नहीं। विस्मयादिबोधक अव्यय 'हाय' से 'हायता' संज्ञा बनाना अनुचित है।

नरेश मेहता ने प्रचलित शब्दों का अप्रचलित प्रयोग कर उन्हें अव्याख्येय बना दिया है—

मेघराजा !
जलों को छोड़ो,

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० ४३

द्रव्यवाचक संज्ञा का बहुवचन नहीं होता, यह एक साधारण नियम है। इस साधारण नियम को तोड़कर कवि ने कौन-सा नया चमत्कार दिया, यह समझ में नहीं आता।

महुआ फूला, बेरें आयीं

—वही, पृ० ५१।

'बेर' निर्विवाद रूप से पुल्लिंग है, पर कवि ने उसका स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है। अनर्गल शब्दों और अनर्गल प्रयोगों से 'वनपाखी सुनो' के पृष्ठ भरे पड़े हैं। 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है—"...और जिन्होंने उसे (शब्द को) नया रूप देने के आग्रह में पुराना बिलकुल मिटा दिया है, वे ऐसे देवता हैं जो भक्त को नया रूप दिखाने के लिए अन्तर्धान ही हो गए हैं।" यह कथन नरेश मेहता पर हू-ब-हू लागू है।

संकर समास

१६. संकर समास वैयाकरणों द्वारा तो अवांछनीय समझे ही जाते हैं, स्वरूप वाले शब्दों के मेल में एक प्रकार का अटपटापन आ जाता है। हास्य-व्यंग्य के लिए ऐसे शब्द उपयुक्त हो सकते हैं, पर गम्भीर प्रसंगों के लिए ऐसे शब्द प्रतिकूल पड़ते हैं। नागार्जुन ने अपनी व्यंग्य कविताओं में ऐसे शब्दों का खूब प्रयोग किया, किन्तु अन्य कवियों ने प्रसंग का विचार किये बिना ऐसे शब्दों का प्रयोग कर डाला।

तभी सुन *किरनाश्वों* की टाप,
भर गई उन नयनों में बात,

—नरेश मेहता, दूसरा सप्तक, पृ० १२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'किरण' के तद्भव रूप 'किरन' के साथ 'अश्व' को समस्त किया गया है।

सुनते हैं कोकिलाएँ गाती हैं इस मौसिम
कोठी पर चाँदनी ये *साराम* लेटे हैं !

—प्रभाकर माचवे, स्वप्न-भंग, पृ० ६५।

'साराम' का अर्थ है 'आराम के साथ'। विश्राम-बोधक 'आराम' शब्द फ़ारसी का है, जिसके साथ संस्कृत का 'साथ' बोधक 'स' लगाकर यह समास बनाया गया है। संस्कृत में 'आराम' शब्द तो है, किन्तु वहाँ उसका अर्थ 'वाटिका' है।

देख आया *चन्द्रगहना*।

—केदारनाथ अग्रवाल, युग की गंगा, पृ० ९।

'चन्द्रगहना'—इस षष्ठी तत्पुरुष में 'चन्द्र' तो संस्कृत शब्द है और 'गहना' 'ग्रहण' का तद्भव। इसका एक अनौचित्य यह भी है कि 'गहना' शब्द हिन्दी में आभूषण के लिए प्रचलित है।

शब्दों का विवरण-परिवर्तन

१७. नयी कविता के कवियों ने शब्दों के प्रचलित विवरण को बदला है। संस्कृत के अनेक तत्सम शब्द अपने सही रूप में आज उच्चरित नहीं होते। तब भी उनका मूल रूप में ही लिखा जाना अस्वाभाविकता की सृष्टि करता है। पर यह अस्वाभाविकता गद्य और पद्य, दोनों में अनुभव की जानी चाहिए। एक ही शब्द को गद्य और पद्य में भिन्न-भिन्न रूप में लिखना दोनों की भाषा में पार्थक्य पैदा करना है, अतः यह वांछनीय नहीं है।

१८. ऐसा होते हुए भी कहीं-कहीं पर शब्दों के परिवर्तित विवरण से जो चमत्कार उत्पन्न हुआ है, उसको मानना ही पड़ता है।

(१) यह महीन मलमल की *सारी*
उसके नीचे नरम गुलाबी चोली से ये कसे हुए
पीनोन्नत स्तन

—प्रभाकर माचवे, तारसप्तक, पृ० ६०।

(२) हहर हहर घहराया
काला *बद्दल* :
लेकिन पहले आया
झक्कड़

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृ० २६।

'साड़ी' के स्थान पर 'सारी' के प्रयोग में जो व्यञ्जना है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'साड़ी' से 'सारी' में पारदर्शिता का भाव अधिक है और यहाँ जो प्रसंग है उसमें 'साड़ी' की पारदर्शिता दिखा देने से इन पंक्तियों का सौन्दर्य बढ़ जाता है। दूसरे उदाहरण में 'बद्दल' शब्द से उसके कालेपन को और बढ़ाया गया है। 'बादल' में 'ब' की दीर्घ मात्रा कालेपन को फैलाकर कम कर देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९. साथ ही ऐसे स्थलों की संख्या अनन्त है जहाँ शब्दों के विवरण बदले का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। न तो लय-रक्षा के लिए उनका वहाँ औचि है और न व्यंजना में ही उससे कोई चमत्कार हासिल हुआ है।

(१) *मधुरितु* रानी महान्

—प्रभाकर माचवे, तारसप्तक, पृ० ५२।

(२) धरती के ताप, मेरे तप के *प्रमान* रे !

—भारतभूषण अग्रवाल, ओ अप्रस्तुत मन, पृ० ८८।

(३) *रैण* डूँगरी उतर गये, *सप्तर्षी* अपने वरुण देश में !

—नरेश मेहता, दूसरा सप्तक, पृ० १२९।

(४) बड़ा मासूम होता है गुनाहों का *समर्थन* भी !

—धर्मवीर भारती, दूसरा सप्तक, पृ० १८५।

इन सभी उदाहरणों में चिह्नित शब्द अपने प्रचलित विवरण से भिन्न विवर रखते हैं और इसके लिए कोई औचित्य इनके साथ नहीं है।

लय-योजना के लिए शब्द का तोड़-मरोड़

२०. नयी कविता के कवियों को लय-योजना के लिए भी शब्दों का तोड़ मरोड़ करना पड़ा है। यही नहीं, ऐसा करने में इन लोगों ने मध्यकाल के कवियों क भी मात कर दिया है।

(१) उतरी उन सरसों के खेतों पर *मायाविनि*
हलके-हलके-हलके।

—प्रभाकर माचवे, तारसप्तक, पृ० ५२।

(२) वही सत्य उस एक हँसी में उतरा है प्रयोग निखरा है।
जबकि नित्य जग के हाटक में मृषा आँसुओं का *बिक्रा* है।

—प्रभाकर माचवे, स्वप्न-भंग, पृ० २७।

(३) हम तो सबसे बड़े राष्ट्रवादी हैं, देशभक्ति-उद्गाता
कभी रूस की, कभी चीन की, अमरीका की *अस्तुति* गाता !

—वही, पृ० २३।

(४) तुम्हीं अपनी दामिनी मायाविनी की
लेखनी *अमरत्वदायिनि* से
उन्हें परसो।

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ५७।

(५) फूले अधखिले *कुमुदिनि* कुमुद के गौझ

—कीर्ति चौधरी, कविताएँ, पृ० १९।

(६) लावण्य सिमट आया था
भूमी का, झरनों का पानी बनकर।

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० २५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७) *प्रतीती* दे रहा यह नारियल परिवार

—वही, पृ० ४७।

(८) चीन देश की वसुधा अपने स्तन से दूध पिलाती उस टापू को
ज्वालामुखि मस्तक है जिसका

—नरेश मेहता, दूसरा सप्तक, पृ० १३५।

(९) धर्म-घृणा की इस ज्वाला में जले-भुने वे देव
स्वर्ग में मनुज धरा पर,
आज मात्र *शरणार्थि* बन गये।

—वही, पृ० १३७।

(१०) मरा पड़ा है एल्वा बनकर मूक *समाधी*।

—वही, पृ० १४२।

(११) रह न पाये स्तम्भ पुल के नग्न
दूधिया पानी बना उसका रजत परिधान

—नागार्जुन, सतरंगे पंखोंवाली, पृ० ४७।

(१२) बाले दीप
चतुर *नारि* ने
पिय आगमन को।

—शमशेर बहादुर सिंह, दूसरा सप्तक, पृ० १०२।

(१३) मँजी गगरियों पर से किरणें घूम-घूम
छिपती जाती पनिहारिन के हाथों की *चुड़ियों* में

—रघुवीर सहाय, दूसरा सप्तक, पृ० १७१।

(१४) अगर अंगूर की परतें
प्रणय में निभ नहीं पातीं कभी इस तौर की *शरतें*

—धर्मवीर भारती, दूसरा सप्तक, पृ० १८७।

(१५) दिन भर *अधरम* करनेवाले,
पर नारी को ठगनेवाले;
पर *सम्पति* को हरनेवाले

—केदारनाथ अग्रवाल, युग की गंगा, पृ० २५।

(१६) *कानपूर* की सारी सत्ता—
श्रमजीवी की ही सत्ता है।
कानपूर की सारी माया—
श्रमजीवी की ही माया है !!

—वही, पृ० ३५।

छन्दों का बन्धन नहीं होने पर भी नई कविता के कवियों को लय की रक्षा के लिए शब्दों को तोड़-मरोड़ करना पड़ा है। यह इनकी सबसे बड़ी अक्षमता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्त्य प्रयोग

२१. नई कविता में ऐसे प्रयोगों की संख्या बहुत अधिक है जो हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल हैं अथवा व्याकरण के अत्यन्त साधारण नियमों की उनमें अवज्ञा है अथवा शब्द-विवेक का अभाव या मात्र प्रमाद है।

पर रस की *प्यास नहीं सूखी।*

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० २१

'प्यास' में स्वयं सूखने का भाव है, इसलिए 'प्यास सूखना' प्रयोग खटकता है। 'प्यास मिटना' ही हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है।

एकाकियों की राह ?
वह भी है
मगर तब जबकि वह
सबके लिए *तोड़ी गई हो।*

—वही, पृ० ५१।

'राह बनाना' ही हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है, 'राह तोड़ना' नहीं।

नदी की बाँक
गोरी चमक **बालू की**

'उजली चमक' के लिए 'गोरी चमक' खटकता है।

क्योंकि तुमने *तुम्हारा* **शेष कष्ट भोगने के लिए मुझे चुना :**

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृ० ३६।

यहाँ 'तुम्हारा' अँगरेज़ी भाषा के प्रयोग के अंधानुकरण के कारण है। हिन्दी के अपने प्रयोग के अनुसार 'तुम्हारा' के स्थान पर 'अपना होता।'

ढेर महासभा जब जुटी यह खोजने कि सत्य तथागत का
कौन-कौन **मत-सम्प्रदायों में बिला गया ?**

—वही, पृ० ४२।

मूल सार्वनामिक विशेषण 'कौन-कौन' के स्थान पर यौगिक सार्वनामिक विशेषण होना चाहिए था—'कौन-कौन' का विकारी बहुवचन रूप होता—'किन-किन'।

नारिकेलों पर थमे हैं
भाद्रपक्ष के मेघ कजरारे,
नील *आकाशे* **खिंचे हैं**
जलधुले नव क्षितिज उजियारे;

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० २०।

अपने प्यारे को अगोरती
यौवन *द्वारे*
बाले दीप रे

—शमशेर बहादुर सिंह, दूसरा सप्तक, पृ० १०२

इन दोनों उदाहरणों में हिन्दी के अधिकरण कारक का प्रयोग न कर संस्कृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अधिकरण कारक का प्रयोग कर दिया गया है।

अनुक्षण;
अरे ओ क्षुद्र मन !
और तुम हमको
एक अपनी वाणी भी *हो*
सौंप नहीं सकते ?
सौंपता हूँ।

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृष्ठ १६।

संयुक्त क्रिया 'सकते हो' का 'हो' 'सकते' से इतनी दूर है कि यह खटकता है।

तुम्हें *अग्रिम बयाना*···

—रवींद्र भ्रमर, नयी कविता ५-६, पृ० २०५।

जिन्दगी करती रही *नीरव इशारे*
हम धनी ये शब्द के।

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ३३।

दोनों उदाहरणों में विशेषण का निरर्थक प्रयोग है। 'बयाना' अग्रिम होता ही है और 'इशारा' भी नीरव ही होता है।

मैंने बातें करीं।

—शंकुत माथुर, नई कविता ५-६ पृ० २२८।

खड़ी बोली के अनुसार यह वाक्य इस प्रकार होगा। मैंने बातें कीं। 'कीं' के स्थान पर 'करीं' रख देने से एक फीलयाँवी वाक्य के अलावा और कुछ हासिल नहीं होता।

स्याही के काँटे
घर-घर बोते फिरना,
खुद आग लगाकर
दूर *तमाशा तकना*,
मकड़ी-सा सब पर जाला ताने जाना।

—कीर्ति चौधरी, कविताएँ, पृ० ६४।

'तमाशा देखना' प्रयोग चलता है। 'तमाशा तकना' में अनुप्रास का चमत्कार भले ही हो, अर्थ का कोई चमत्कार नहीं है।

२२. नई कविता में शब्द प्रयोगों की ये कुछ प्रमुख दिशाएँ हैं। गहनतर अध्ययन से नई दिशाएँ खोजी जा सकती हैं और विकासमान नई कविता में सदैव खोजी जाती रहेंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो० धनञ्जय वर्मा

आचार्य वाजपेयी का निराला-विषयक विवेचन

हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी साहित्य की एक स्थूल सीमा-रेखा सन् '२० से सन् '४० तक मानी जा सकती है। इस अवधि में हिन्दी-काव्य में एक युगान्तर आया। इसका पहला दशक तो स्वच्छन्दतावादी जागरुक और चेतन-प्रयास की दृष्टि से प्रारम्भिक सूचनाएँ मात्र देता है और विशेषकर समीक्षा के क्षेत्र में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन का धनी नहीं है। इस दशक में प्रसाद, निराला, पन्त ने भले अपने काव्य की अभि-सूचना के लिए औपचारिक रूप से कुछ नई दृष्टि और सिद्धान्तों की बातें की हों, लेकिन उससे समीक्षा के क्षेत्र में किन्हीं निश्चित विचारों या पद्धति का उद्भव नहीं होता। वे सैद्धान्तिक या व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से प्रसंगवश ही महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी समीक्षा के इतिहास में और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के स्वरूप-निर्धारण की, दृष्टि से उनका उतना महत्त्व नहीं है, जितना अंग्रेज़ी के सन्दर्भ में कालरिज या वर्ड्सवर्थ की स्थापनाओं का। यह सच है कि उसने काव्य को नयी दृष्टि प्रदान की लेकिन समीक्षा का नया प्रतिमान या समीक्षात्मक विचारों की नई दिशा वह नहीं दे पाया। इसका एक कारण है। व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन कुछ विशिष्ट एवं नई धारणाएँ लेकर चला था। काव्य की द्वन्द्वात्मक, ऐतिहासिक और प्रतीकात्मक धारणा, एक आनुभविक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि और भावनात्मक स्वरूप उसके कुछ आवश्यक उपकरण थे जो पश्चिमी देशों में फलीभूत हुए। (हिस्ट्री ऑफ़ माडर्न क्रिटिसिज़्म : नेवेलेक : ३) लेकिन यह व्यापक आन्दोलन हर देश और साहित्य में एक ही गति, समय या प्रवृत्ति का द्योतक नहीं रहा। कालान्तर में इसका मौलिक स्वरूप अस्त होता गया और वह भावुक काव्य-सृष्टि एवं संकुचित राष्ट्रीयता का पर्याय और रहस्यवादी भूलभुलैयों का शिकार होता गया और अपने प्रारम्भिक दिनों में भारत और विशेषकर बंगला तथा हिन्दी में भी वह इन्हीं सन्दर्भों में देखा-परखा गया। इसीलिए जितना श्रम और जितनी प्रतिभा इन कवियों को अपनी सृष्टि एवं दृष्टि को प्रमाणित करने में लगानी पड़ी, उतनी वे समीक्षा की दृष्टि से मौलिक उद्भावना में न लगा सके। जहाँ तक समीक्षा की स्वच्छन्दतावादी धारणा का प्रश्न है, वह काव्य की स्वच्छन्दतावादी धारणा से किंचित भिन्न है, यद्यपि उसका प्रतिमान वही काव्य है। व्यापक अर्थों में वह पुराने सारे प्रतिमानों के विरुद्ध खड़ी होती है। वह काव्य में भावों की अभिव्यक्ति और प्रेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सारभूत सत्ता का समादर करती हुई उसकी द्वन्द्वात्मक एवं प्रतीकात्मक धारणाओं को लेकर चलती है। उसे विरोधों का ऐक्य और प्रतीकों की निश्चित पद्धति पर विश्वास है और काव्य की भावुक अथवा रहस्यवादी व्याख्याओं से अलग शुद्ध सौन्दर्य के धरातल पर उसकी परख उसे मान्य है। हिन्दी में इस धारणा का स्वरूप आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी में प्राप्त होता है और इस क्षेत्र और दिशा में उन्होंने अकेले ही कार्य किया है और सन् '३०-'३५ के आसपास—अर्थात् उस आन्दोलन के दूसरे दशक में उनके निबन्धों में एक विशिष्ट विकासशील दृष्टि या पद्धति प्राप्त होती है और उनसे विचार और दृष्टि की एक निश्चित प्रणाली का समारम्भ होता है। सही अर्थों में स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का रूप हिन्दी में वही प्रस्तुत करते हैं, केवल इसीलिए नहीं कि उनका प्रवेश स्वच्छन्दतावादी कवियों और कविता के विवेचक के रूप में हुआ था, वरन् सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में उन्होंने हिन्दी समीक्षा को विचारों का एक निकाय और आस्वाद की एक परिभाषा दी, और समीक्षा की एक नई पद्धति और पूरी परम्परा के परिप्रेक्ष्य में एक नया संश्लेषण।

यह सच है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा में एक युग-प्रवर्तक का काम किया था और वह कई अर्थों में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी कहा जा सकता है। लेकिन उनकी दृष्टि शुद्ध साहित्यिक रही हो, ऐसा नहीं है। वर्णाश्रम-धर्म, लोक-मर्यादा, चरित्र, सुरुचि और नैतिकता का विचार शुक्लजी के आगे इतना अधिक था कि काव्य और काव्यमूल्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता में कम ही उभर पाए। फिर उनके समस्त मानदण्ड शास्त्रीय आधारों पर ही निर्भर थे और इस दृष्टि से उनका स्वरूप कुछ-कुछ नव्यशास्त्रवादी (नियोक्लासिकल) समीक्षकों से मिलता-जुलता है। परिचयात्मक समीक्षा और टीका पद्धति वाली काव्य के भेदोपभेदों की निरूपक पद्धति वाली स्थूल दृष्टि और रसों तथा अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने वाले युग में शुक्लजी का काम कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। गुण-दोष-कथन से आगे बढ़कर उन्होंने आरोपात्मक और इतिवृत्तात्मक समीक्षा का अतिक्रमण किया और कवियों की विशेषताओं एवं उनकी अन्तर्प्रवृत्तियों की छानबीन की। लेकिन शुक्लजी की अपनी अपेक्षाएँ और आदर्श थे, जिन्होंने शुद्ध काव्यालोचन के मार्ग में कई बाधाएँ प्रस्तुत कीं। औदात्य की चिन्ता और लोकादर्शवाद सदैव उनके साहित्यिक को पृष्ठभूमि में डालता गया। उनमें विश्लेषण और ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से निराशा ही हाथ लगेगी। अन्तर्वृत्तियों की उनकी छानबीन भी किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित न होकर आचारवाद पर ही टिकी है और सच तो यह है कि उनका मनोविज्ञान भी आचार-शास्त्र का ही आनुषंगिक और पूरक है। वाजपेयीजी ने इससे भिन्न रास्ता अपनाया। ऐसा नहीं कि उन्होंने पूर्व परम्परा से विद्रोह किया हो। इस दृष्टि से हिन्दी का कोई भी साहित्यकार उस विद्रोह और प्रतिक्रिया के युग में भी परम्परा के प्रति विरोधी और विद्रोही दृष्टि लेकर नहीं आया। इसकी जो भी परिणतियाँ हुई हों, उनमें एक ऐतिहासिक चेतना का संयोग अनायास ही हो गया। वाजपेयीजी का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने शुक्लजी की स्थापनाओं और प्रकारान्तर से समस्त भारतीय परम्परा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को नये युग के अनुकूल काव्यात्मक धरातल पर उठा दिया और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा में भी उनका विचार कोरमकोर काव्यात्मक और कलात्मक है। इसमें पाश्चात्य प्रभावों ने चाहे जो योग दिया हो, वस्तुस्थिति इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी समीक्षा में काव्य की स्वतन्त्र सत्ता का वह प्राथमिक और पहला आख्यान है।

युग की पूरी काव्य-सृष्टि के अनुकूल वाजपेयीजी की समीक्षा पद्धति में कुछ ऐसे तत्त्वों का सन्निवेश हुआ, जिनका महत्त्व या उपयोगिता उस विशेष काव्य-सृष्टि के सन्दर्भ में एकांतिक है। हेतु और प्रेरणा की दृष्टि से साहित्य का प्रयोजन जब आत्मानुभूति माना गया तब उसी के अनुकूल और युग की व्यापक काव्य-सृष्टि के मौलिक स्वरूप(आत्माभिव्यंजना) के समानान्तर समीक्षा में भी कलाकृति के ही साथ व्यक्तित्व का भी महत्व बढ़ा। प्रसाद के काव्य को तो वाजपेयी जी ने उनके व्यक्तित्व का ही विकास माना है। प्रश्न उठता है कि यह व्यक्तित्व ही क्या काव्य है ? काव्य में व्यक्तित्व तो केवल एक माध्यम, 'मीडियम' है और अन्ततः व्यक्तित्व का प्रकाशन ही काव्य नहीं होता। लेकिन वाजपेयीजी पहले व्यक्तित्व के परिचायक और विवेचक हैं, बाद में काव्य सौन्दर्य के विश्लेषक और परीक्षक। उनके लिए प्रत्येक कलाकृति एक व्यक्तिगत उत्पादन है, जो पूर्णतया नवीन और स्वतन्त्र होती है और अपने ही नियमों से शासित होती है। यह रचनात्मक समीक्षा का ही एक स्वरूप है जबकि समीक्षक किसी कृति की उपस्थिति में उसकी संवेदनाएँ अनुभव करता और सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ ग्रहण करता है और अन्ततः उन्हें उपयुक्त साधनों से व्यक्त करता और व्यापक धरातल पर उनका परीक्षण करता है। जब कोई भावगति या अन्तर्दृष्टि या बौद्धिक योजना उसे प्रभावित करती है तो उसे वह विश्लेषित कर एक व्यापक निकष पर उसकी सार्थकता और उपयोगिता प्रमाणित करता है। यह स्वच्छन्दतावादी कला के समानान्तर तो है ही, साथ ही स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की सामान्य धारणा से भी कुछ आगे और अतिरिक्त है। लेकिन इसे हम आत्माभिव्यंजना की कोटि का नहीं कह सकते, क्योंकि वह उसकी अतियों के शिकार से बची है और वाजपेयीजी की समीक्षा को हम प्रभाव और अभिव्यंजना, रचना और निर्णय का एक नया संश्लेषण मान सकते हैं। उन्होंने पहली बार हिन्दी में शास्त्रीय आधारों की आक्रान्ति को झकझोरकर उनसे मुक्ति पाई थी। व्यावहारिक समीक्षा में उनका उद्देश्य काव्य की व्यापक संवेदनीयता का उद्घाटन करना है। कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करके उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति के सारभूत अंश की व्याख्या करना उनका प्राथमिक कर्तव्य है। इस दृष्टि से काव्य के गहनतर अभिप्राय 'डीपर इम्पोर्ट' या उसकी 'निहित मनोभावना' की परीक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। यों आत्यन्तिक दृष्टि से वाजपेयी जी भी रसवादी ही ठहरते हैं, लेकिन उन्होंने रस को बौद्धिक और सैद्धान्तिक स्तर पर ग्रहण न करके उसे संवेदनीयता के व्यापक धरातल पर उठाया और उस संवेदनीयता को अनुभूति के द्वारा ग्रहण करना चाहा है। इस दृष्टि से रसास्वाद और सौन्दर्यमूलक आह्लाद का उनमें अच्छा समन्वय है। यह भारतीय और पश्चिमी समीक्षा-दृष्टियों का समन्वय है। अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में वाजपेयीजी का आदर्श काव्य-सौन्दर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सर्वाङ्गीण अध्ययन और उद्घाटन है। कलाकार के मनोभावों और व्यक्तित्व के विकास पर उनकी नज़र पहले गई है और उसकी अन्तःप्रेरणा और चिन्तनधारा के अनुसन्धान तथा विश्लेषण पर बाद में।

इस क्षेत्र में उन्होंने अनुभूति की तीव्रता, गहनता और व्यापकता को काव्य की कसौटी माना है, किसी नैतिक सिद्धान्त या संस्कार या आदर्श का नियन्त्रण परोक्ष। 'भावना का उद्रेक, उच्छ्वास की परिष्कृति और प्रेरकता' ही उसके मुख्य मापदण्ड होंगे। वहाँ तो 'कवि द्वारा नियोजित प्रतीकों और प्रभावों का अध्ययन और अन्ततः कवि की मूल संवेदना और मनोभावना का उद्घाटन' प्राथमिक है और 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी,' जो उनकी व्यावहारिक समीक्षा का प्राथमिक और प्रतिनिधि ग्रन्थ है, में कलाकार की अन्तःवृत्तियों का अनुसन्धान एवं कलाकृति से उसके समन्वय के प्रति उनकी दृष्टि प्रधानतः रही है। वहाँ ये प्रभाव से विश्लेषण और विश्लेषण से संश्लेषण की ओर गए हैं। उनका प्रवेश हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों और उनके काव्य के विवेचक के रूप में हुआ था और इन विवेचनाओं में उनकी समीक्षा का प्रारम्भिक और प्रौढ़ रूप (भी) मिलता है। इनमें भी उनकी दृष्टि प्रधानतः प्रसाद पर केन्द्रित रही है और नई स्थापनाओं का समारोह तथा प्रमाणित करने वाली वकालत का अन्दाज़ उनमें सर्वत्र मिलता है। प्रत्येक समीक्षक का काव्य का एक अपना आदर्श अनायास बन जाता है। यह उसके सहज ज्ञान का परिणाम भी हो सकता है और इसके लिए न तो वह किसी पक्षपात का दोषी ठहराया जा सकता है और न ही समीक्षा की तटस्थ निस्संगता की इससे कोई क्षति होती है, बशर्ते कि यह आदर्श, व्यक्तिगत अभिरुचियों और धारणाओं से शाखित न होकर शुद्ध और व्यापक काव्य-प्रतिमानों का संश्लिष्ट रूप हो। वाजपेयीजी के काव्यगत आदर्श 'प्रसाद' कहे जा सकते हैं जो हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य के एक स्थायी प्रतिमान भी हैं—और परिणामतः समीक्षा में भी उसी समरसता सौन्दर्यवादी सन्तुलन और सामंजस्य तथा समन्वय को लेकर वे चले। उनकी समीक्षा विशाल और बहुमुखी काव्यानुभूतियों का स्वाभाविक संश्लेषण है।

वाजपेयीजी के कवि-विषयक विवेचन का यही आधार और स्वरूप है, जिसका जिक्र हम अभी कर आए हैं और निराला विषयक उनका विवेचन तो कई दृष्टियों से पहला, साहित्यिक और शुद्ध समीक्षात्मक प्रयास है। इसके पहले या तो निराला और उनके काव्य की विकृत आलोचनाएँ होती थीं, या उनकी कविताओं की पैराफ्रेज़िंग, (वह तो आज भी होती है) या फिर उन्हीं के शब्दों में "हिन्दी-भाषी जनता के साहित्यिक ज्योतिषियों ने कहानी वाले सात अन्धे भाइयों की भाँति, भाँति-भाँति से हाथी की हास्य-विस्मय-भरी रूपरेखाएँ बखान कीं, जिनसे निराला की अपेक्षा समीक्षकों की निराली सामुद्रिक का ही परिचय मिला।" वाजपेयीजी का निराला-विषयक विवेचन तीन छोटे-छोटे निबन्धों और कुछ प्रासंगिक चर्चाओं (जो संग्रह पुस्तकों में यत्र-तत्र बिखरी हैं) तक सीमित है। इनमें 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' का पहला निबन्ध उनके काव्य-विकास का एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है, दूसरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गीतिका' की रिव्यू है, और तीसरा निराला के उपन्यास और कहानियों पर लिखा गया है। निराला का कोई क्रमबद्ध अध्ययन या विवेचन वाजपेयीजी ने प्रस्तुत नहीं किया है, तब प्रश्न उठता है कि किसी कवि पर लिखे गए एक-दो निबन्धों और रिव्यूज़ का क्या महत्त्व ? क्या इनसे किसी कवि या काव्य की कोई स्पष्ट धारणा भी बन सकती है ? हमारा उत्तर है कि काव्य और साहित्य में महत्त्व परिमाण का नहीं होता, महत्त्व समीक्षात्मक बुद्धि और उन मूल्यों तथा प्रतिमानों का या उस मौलिकता या शक्तिमत्ता का होता है जो कोई व्यक्ति प्रस्तुत करता है। परिमाण की दृष्टि से तो विश्वविद्यालय की डिग्रियों के उत्सुक अधिकांश शोधकर्ताओं का महत्व अधिक होना चाहिए जिनमें दूसरी अपेक्षाएँ या तो न्यून होती हैं या होती ही नहीं। वाजपेयीजी के उन छोटे-छोटे निबन्धों का महत्त्व यही है कि आज भी उस युग के काव्य और कवियों का अधिकांश अध्ययन उन्हीं के आदर्शों, रूपरेखाओं पर हो रहा है और आए-दिन के शोध-ग्रन्थ उन्हीं की स्थापनाओं के विस्तृत रूप होते हैं। देखना यही है कि इन छोटे-छोटे निबन्धों में भी निराला की अन्तर्वृत्तियों का जो अध्ययन है, उससे निराला का जो रूप उभरता है, वह उनके प्रकृत रूप से कहाँ तक साम्य रखता है या उनके काव्य की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन के सौन्दर्य का कैसा उद्घाटन वहाँ हुआ है। इस दृष्टि से इस सीमित आकार में भी वाजपेयी जी ने निराला के काव्य-व्यक्तित्व की जो परख सामने रखी है वह अपने महत्त्व में एकान्तिक है।

निराला का सम्पूर्ण बहुमुखी और विशाल काव्य-सृजन, उसके बहुविध रूप जो आपस में मिलते नहीं, विरोधी भी हैं, उनके निस्संग, व्यापक और जागरूक कवि की अन्तर्वृत्तियों का पता देते हैं। यह विशेषता एक दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार की हो सकती है और वाजपेयीजी निराला को हिन्दी का प्रथम दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार मानते हैं। निराला की दार्शनिक वृत्ति और निस्संग व्यक्तित्व का ही कार्य था कि उन्होंने हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य को कोरी भावुकता और अतिरिक्त भावनामयता से बचाया और छायावादी भावोच्छ्वासों की कल्पनातिरेक और कोमल-कान्त पदावली में 'संग्रथित कला का संयम एवं परिष्कार' सन्निविष्ट हुआ। इसका कारण वाजपेयीजी के अनुसार निराला में भावना की अपेक्षा बुद्धितत्त्व की प्रमुखता है। राग और कल्पना की अपेक्षा यही तत्त्व निस्संगता लाता है, काव्य में 'रेजिस्टेण्ट क्वालिटी ऑफ़ मीडियम' संयुक्त करता है, परिष्कृति के प्रति जागरूक होता है और अपने ही सृजन की सीमा-संकोच के प्रति सचेत होकर विकास के द्वार खोलता है। बुद्धि-तत्त्व की यह प्रमुखता दो रूपों में उनके काव्य में देखी गई है। एक तो वर्णित विषय के भीतर से अभिव्यक्त कवि का तटस्थ, अस्खलित और निर्लिप्त व्यक्तित्व और दूसरे अभिव्यक्ति की प्रणाली में सौष्ठव, छन्दों की कसावट, पदविन्यास की सुघरता और शब्द-शक्ति तथा संगीत की परख—उनके बुद्धि-विशिष्ट कवि व्यक्तित्व की देन हैं। उनके गीतों की पृष्ठभूमि में देखें तो उनमें "जीवन के किसी एक अंश का अतिरेक नहीं है। उनमें व्यापक जीवन का प्रखर प्रवाह और संयम है। गति के साथ आनन्द और विवेक के साथ भी आनन्द मिला हुआ है।" कदाचित् इसीलिए वाजपेयीजी ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराला को 'आरम्भ से ही एकरस' माना है और उनका विश्वास था कि 'सम्भवतः अन्त तक वे एकरस ही रहेंगे'। आज उनकी इस मान्यता से हम सहमत नहीं भी हो सकते, क्योंकि निराला ने अपने विरोधी और पृथक्-पृथक् काव्य-स्वभाव से इसके विरुद्ध ही प्रभाव दिये हैं। उनका काव्य एकरस नहीं, मुख्तलिफ़ 'रसों' की परस्पर-विरोधी ज़मीन पर विकसित हुआ है। भले ही वाजपेयीजी के शब्दों में "एकाध नव-युग-प्रवर्तक की भाँति उन्हें समय-समय पर पट-परिवर्तन कर कई बार जीवन में मरण देखने की नौबत नहीं आई," लेकिन उनकी विविधता और व्यापकता, रहस्य और यथार्थ, समर्पण और अहं, क्लासिकल और समसामयिक आदि प्रवृत्तियाँ उन्हें 'एकरस' भी नहीं बनातीं। परन्तु इन सबकी पृष्ठभूमि में निराला की वही बुद्धितत्त्व की प्रमुखता सक्रिय है और लोग देखेंगे कि कवि व्यक्तित्व की यह परख कितनी सही है। यह कवि की अनुभूति से समीक्षक की तादात्म्य शक्ति और उसकी संवेदनीयता का प्रमाण है और निराला के काव्य तथा व्यक्तित्व को समझने की यही आधारशिला है। काव्यात्मा का यह विश्लेषण वाजपेयीजी की अपनी विशेषता है, जो उस युग में विरल थी।

निराला के जो मानसिक स्तर और उत्कर्ष उद्घाटित हुए हैं उनका ही व्यक्त रूप उनकी काव्यगत विशेषताओं में देखा गया है। निराला का छायावाद और रहस्यवाद उनकी दार्शनिक अभिरुचि का परिणाम है। उनका छायावादी स्वरूप—'विराट सत्ता और शाश्वत ज्योति' वाला रूप—उनके वेदान्ती अद्वैतवादी, ऐसे व्यक्तित्व की देन है जिसका दृष्टिकोण ही दार्शनिक है और जो बन्धनरहित, बाधारहित मुक्त आत्मा के अनुरूप मुक्त छन्दों में अभिव्यक्त हुआ है। इसी का दूसरा पहलू 'जड़ और जीव-जगत् में उसी शाश्वत ज्योति का प्रकाश देखना' है। यह दार्शनिक छायावाद का प्रायोगिक रूप है और पन्त या प्रसाद, शेली या कीट्स की प्रकृतिपरक छायावादी वृत्तियों से एकदम पृथक् है, क्योंकि इसकी रीढ़ भावना या कल्पना नहीं 'बुद्धि' है। निराला को रहस्यवादी भी कहा गया है, यही नहीं उनके 'काव्य का मेरुदण्ड ही रहस्यवाद' माना गया है, लेकिन उनका यह रहस्यवाद उनकी वृत्ति के अनुकूल बौद्धिक और दार्शनिक रहस्यवाद है जो हिन्दी और पश्चिमी सारे स्वच्छन्दतावादी कवियों से भी पृथक् है। यहां भी उनका 'मेटाफ़िज़िकल दृष्टिकोण' प्रमुख है। वह प्रसाद की शैली का रहस्य-वाद नहीं है जो सामान्य स्वच्छन्दतावादी कवियों के साधारण रहस्यवाद का स्वरूप है। प्रसाद का रहस्यवाद "दृश्यमान मानव-जीवन को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झाँकी देता है और वहाँ मानवीय प्रेम ही अपने उत्कर्ष में अलौकिक आध्यात्मिक छाया से सम्पन्न हो उठा है।" कवि की मानवीय अनुभूति के साथ न्याय करने के लिए ही वाजपेयीजी ने उस रहस्यवाद की आधारशिला मानव-जीवन-व्यापार पर रखी है, जबकि निराला का रहस्यवाद परोक्ष की रहस्यपूर्ण अनुभूतियों पर ही आधारित है। यों "शुद्ध परोक्ष के भी ज्योति-चित्र उन्होंने उपस्थित किए हैं और कला की दृष्टि से गीतिका के गीतों में लौकिक की अवतारणा अलौकिक स्तर से हुई है।" यह निराला के दार्शनिक व्यक्तित्व से समरस हैं और उनका लौकिक भी शुद्ध परोक्ष इसीलिए लगता है कि उनका वेदान्ती ऐसा मानता है और काव्य में उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिष्कार उसे यह उदात्त भूमि अनायास ही प्रदान कर देता है। यह उनके 'काव्य-निर्वाह' पर भी निर्भर करता है। वाजपेयीजी के यहाँ इस 'निर्वाह' का विशिष्ट अर्थ सन्दर्भ है। निर्वाह का तात्पर्य अनुभूति और अभिव्यक्ति के सारभूत अंश से होता है। जहाँ इन दोनों में सन्तुलन, सामञ्जस्य और समन्वय हो वहाँ निर्वाह की सफलता माननी चाहिए। निराला में यह हर कहीं है। इसी निर्वाह को प्रमाणित करने के लिए वाजपेयीजी ने उनकी रचनाओं की मौलिकता, शक्तिमत्ता तथा सृजन के कलात्मक सौष्ठव का विकासात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने निराला के विकास के तीन चरण माने हैं। पहला चरण मुक्त छन्द का है जिसमें उनका दार्शनिक छायावाद अपना स्वरूप निर्मित करता है, दूसरा चरण छन्दोबद्ध संगीतात्मक रचनाओं का है जहाँ उसका स्वरूप उभरकर सामने आता है और यह उनकी बौद्धिक विशेषता के अनुकूल कलात्मक संग्रन्थन और परिष्कार को ध्वनित करता है। तीसरा चरण गीत-रचना का है जहाँ बौद्धिक विशेषता कलात्मक परिपाक ग्रहण करती है और संयमित एवं तटस्थ व्यक्तित्व आलंकारिक बन्धनों को स्वीकार करके चला है। इन तीन चरणों के ही समानान्तर उनके काव्य की भी तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं, पहली बौद्धिक और दार्शनिक, दूसरी विशुद्ध प्रगीतात्मक और तीसरी आलंकारिकता-प्रधान उदात्त रचनाएँ। विकास के इन तीन चरणों और काव्य की इन तीन श्रेणियों के विभाजन से किसी को इन्कार नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनका आधार उन अन्तर्वृत्तियों की सक्रियता है जो वाजपेयीजी ने काव्यात्मा के विश्लेषण के दरम्यान निश्चित की हैं और कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन तो उसके समानान्तर ही हो सकता है, होना चाहिए।

और इसी के अनुरूप अभिव्यक्ति की प्रणाली भी होती है। निराला की एक कविता-विशेष के विषय में वाजपेयी का कथन है कि "वह व्यंजना विशिष्ट नहीं है और उसमें रस व्यंग्य नहीं, बल्कि वाच्य है।" या "निरालाजी ने अपनी बुद्धि-विशिष्ट रचनाओं को अभिधा शैली में और स्वच्छन्द छन्द में लिखा है।" इस "अभिधा विशिष्टता में जो अधिक स्पष्टता है वह उस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है" और उसी ने उनके काव्य में 'ओज के साथ सुकोमल सौहार्द्र' और 'विस्तृत आशय की अभिव्यक्ति' के साथ 'सुन्दर परिसमाप्ति और प्रकाश' भी दिया है। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या यह अभिधा की स्पष्टता, कथन की प्रत्यक्षता है? जहाँ तक विवेचित काव्य का प्रश्न है, उसमें वह प्रत्यक्षता नहीं मिलती जो निराला के परवर्ती काव्य की विशेषता है। निराला के स्वच्छन्दवादी—और विशेषकर छायावादी—काव्य रूप में कहीं भी उस प्रत्यक्षता या प्रखर स्पष्टता के दर्शन नहीं होते। वह अन्य कवियों की अभिव्यक्ति प्रणाली से भिन्न अवश्य है लेकिन छायावादी अभिव्यक्ति की प्रत्यक्षता वहाँ भी है और 'क्लिष्टता' या 'दुरूहता' उनके इसी सायास कथन और अभिव्यक्ति के प्रति अतिरिक्त जागरूकता का परिणाम है। यह अनिवार्यतः एक बौद्धिक नियन्त्रण और संयम की देन है।

जहाँ तक रचना की रीतियों, शैलियों और बाह्याङ्गों के अध्ययन का प्रश्न है, वाजपेयी ने अपना विवेचन 'मुक्तछन्द' पर केन्द्रित किया है और निराला को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूलतः प्रगीत कवि माना है। इस सन्दर्भ में 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका और 'जनभारती' के निराला अङ्क में 'निराला के काव्य-रूप' निबन्ध द्रष्टव्य हैं। यद्यपि रीतियों और शैलियों का यह विवेचन परवर्ती है और तब तक निराला का काव्य अपने पूर्वरूप से बहुत भिन्न और विकसित हो चुका था, तथापि वाजपेयीजी की धारणा—कि निराला के आरम्भिक प्रयोग छन्द-सम्बन्धी थे—सही है। निराला का मुक्त छन्द काव्य की छन्दोगत सारी परतन्त्रता का निराकरण था। उसने काव्य को मुक्ति तो दी ही, साथ ही नये 'युगोपयोगी परिधान' से भी सज्जित किया। उन्होंने स्वयं 'मुक्त छन्द में लय की सुघरता' ला दी। मुक्त छन्द की इस आयोजना के कारण ही उनकी कविता में 'सुकुमार प्रसाधन, कल्पना की बारीकी और अनावश्यक आभरण नहीं है'। इसलिए "स्वच्छन्दता का जो अबाध स्वरूप निराला की रचनाओं में देखा जाता है, उसकी तुलना दूसरे कवि से नहीं हो सकती।" मुक्त छन्द की यह विवेचना किसी छान्दसिक धरातल पर विस्तार से नहीं हुई, फिर भी मूल धारणा की परख इसमें प्रखरता से मिलेगी। इसी परवर्ती विवेचन में निराला को मूलतः प्रगीत कवि माना गया है और निराला के पूरे काव्य-विकास को विभिन्न गीत-प्रकार और शैलियों के माध्यम से देखा गया है। उन्होंने समस्त काव्य की छः प्रगीत-श्रेणियाँ निर्धारित की हैं—पहली—गीत, जिसमें शृंगारिक, विनय और प्रार्थना के गीत, ऋतु-गीत, राष्ट्रीय-गीत, प्रगतिशील और सामाजिक गीत और प्रयोगात्मक गीत आते हैं। दूसरी श्रेणी लघु या दीर्घ प्रगीतों की, तीसरी व्यंग्य प्रगीतों की, चौथी उर्दू शैली के प्रगीतों की, पाँचवीं आख्यानक प्रगीत की और अन्तिम श्रेणी गीति-नाटच की मानी गई है। इस प्रगीत सृष्टि में 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' आदि रचनाएँ भी परिगणित कर ली गई हैं और उन्हें वीरगीतों की भूमिका पर माना गया है। जहाँ तक 'मूलतः प्रगीत कवि' की धारणा का प्रश्न है, वह निराला का एक ही रूप है और उसके समस्त काव्य को 'प्रगीतात्मक' कहना समीचीन नहीं जान पड़ता। 'प्रगीत-काव्य' की उन्हीं की धारणा है कि उसमें "कवि की भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, उसमें किसी प्रकार के विजातीय द्रव्य के लिए स्थान नहीं रहता। प्रगीतों में ही कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिबिम्बित होता है। वह कवि की सच्ची आत्माभिव्यञ्जना होती है।" निराला के पूरे काव्य के साथ यह सही नहीं है और न ही उनका 'पूरा-काव्य' उनकी आत्माभिव्यञ्जना मात्र है। न तो प्रगीतों के अनुकूल वहाँ 'कोरमकोर' 'सब्जेक्टिविटी' मिलती है और न ही व्यक्तित्व की निजी भावना मात्र से उसका सम्बन्ध है। प्रगीतात्मक निराला का एक ही रूप हो सकता है, समग्र नहीं; आगे चलकर स्वयं निराला ने इस 'लिरिसिज़्म' से विद्रोह किया है।

वाजपेयीजी के निराला-विषयक विवेचन का यह समग्र और सम्पूर्ण रूप है, जिसमें उनकी व्यावहारिक समीक्षा की चेष्टाएँ सक्रिय हैं। इसमें उनका ध्यान मुख्यतः कवि की अन्तर्वृत्तियों, कलात्मक सौष्ठव और रचना की रीतियों एवं शैलियों के अध्ययन तक ही केन्द्रित रहा है। उनकी समीक्षा-सम्बन्धी 'सप्तसूत्रीय चेष्टाओं' में उपरोक्त तीन ही यहाँ प्रमुख हैं, शेष चार अधिक सक्रिय नहीं हैं। इसके कारण एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर जहाँ उनका विवेचन शुद्ध कलात्मक धरातल पर हुआ है वहीं उसकी व्यापकता
और सम्पूर्णता में भी बाधा आई है। इस सन्दर्भ में वाजपेयीजी की ये पंक्तियाँ
महत्त्वपूर्ण हो उठती हैं—"यदि सामयिक हिन्दी में कोई ऐसा विषय है जो अन्
विषयों की अपेक्षा क्लिष्ट और दुरूह समझा जा सके, तो वह पं० सूर्यकान्त त्रिपाठ
निराला का विकास है। इस कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण में ऐसे पर
माणुओं का सन्निवेश हुआ है जिसका विश्लेषण हिन्दी की वर्तमान धारणा-भूमि
विशेष कठिन क्रिया है।" कहना न होगा कि इस कठिनाई के प्रति जागरूक रहकर भी
वाजपेयीजी का विवेचन उसका अतिक्रमण नहीं कर सका। दरअसल, वाजपेयीजी का
विवेचन निराला के स्वच्छन्दतावादी, छायावादी एवं रहस्यवादी—और प्रगीत कवि
रूप पर ही केन्द्रित रहा है और उनके इस पक्ष का जो विवेचन है वह अपने आप
सम्पूर्ण और कई दृष्टियों से अन्तिम भी है। उनके इस रूप का विवेचन इतनी सूक्ष्म
और शुद्ध समीक्षात्मक बुद्धि से और कहीं नहीं हुआ है। लेकिन ऐसा कोई एक ही वृत्त
या केन्द्र नहीं है जिसे लेकर कहा जाए कि यह निराला है और यही निराला है। उनके
व्यक्तित्व और काव्य में ऐसे विरोधी तत्त्वों का योग है जो हिन्दी के चिर-समन्वयवादी
साहित्यकारों के लिए पहेली बन गया है। वे उनके व्यक्तित्व और काव्य के 'अन्त
र्विरोध' के प्रति सचेत नहीं रह पाए और दरअसल युग की भूमिका में यह एक
असाधारण घटना थी। केवल वाजपेयीजी ही नहीं, वरन् निराला के अन्य समीक्षक
(जो बहुत ही कम हैं) ने भी उनके एक ही पक्ष को प्रधानता दी है और उसे ही
सम्पूर्ण निराला मान लिया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने उनमें प्रगतिशील तत्त्वों को
प्रधानता देखी और व्यापक मानववादी या सामाजिक चेतना के कवि के ही रूप
उनके दर्शन किए। डॉ० बच्चनसिंह को उनमें केवल क्रान्तिकारी तत्त्व ही मिले और
उन्होंने उसे ही उनका मूल स्वर मान लिया। निराला के काव्य और व्यक्तित्व
अनेक पहलू हैं जिनमें तात्कालिक दृष्टि से एकता का तारतम्य नहीं दीखता।
विरोधी और पृथक्-पृथक् भी हैं। उनका आनुक्रमिक भूमिका पर अध्ययन किये बिना
उस निहित 'अन्तर्विरोध' को नहीं समझा जा सकता, न उनके व्यक्तित्व, उनकी
विचारणा या काव्य का समाहित चित्र मिल सकता है। वाजपेयीजी ने निराला के पर
वर्ती विकास और उनके उत्तर-छायावादी रूप पर कम ध्यान दिया है। इसका
सम्भवतः कारण यह भी है कि १९३०-३५ तक तो वे प्रगीत-काव्य की विवेचना त
सीमित रहे आए और उसके बाद जब वे उस सीमित क्षेत्र से बाहर आए भी
सारे काव्य और साहित्य की वृत्ति परिवर्तित हो चुकी थी। उत्तर-स्वच्छन्दतावा
प्रवृत्तियाँ जड़ जमाने लगी थीं और काव्य में प्रगतिवादी और प्रयोगवादी तत्त्व सक्रि
थे जो सैद्धान्तिक दृष्टि से वाजपेयीजी की मान्यताओं और आदर्शों से पर्याप्त भि
और पृथक् थे। पर ऐसा भी नहीं कि वाजपेयीजी ने निराला के अन्य रूपों या परव
विकास पर ध्यान न दिया हो, लेकिन जिस स्वतन्त्र और विस्तृत विवेचन-विश्ले
की वह अपेक्षा करता है, वह न कर पाए। उनकी संग्रह-पुस्तकों में निराला के
विकासों का सन्दर्भ प्रासंगिक ही है और वे किसी धारा या प्रवृत्ति की चर्चा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत केवल औपचारिक विवरण मात्र रह गए हैं। इस परवर्ती विवरण में निष्कर्षों और निष्पत्तियों तक पहुँचने की शीघ्रता और व्यग्रता है। वहाँ विश्लेषण की वह प्रखरता, विवेचन की वह सूक्ष्मता और काव्य-विशेष के प्रति वह व्यापक संवेदना विरल होती गई है। उनके समीक्षक पर उनका अध्यापक हावी होता गया है और निराला-विषयक उनके यत्र-तत्र प्रकाशित सामयिक निबन्धों में विवरण और परिगणना की ही प्रधानता है। उनमें सरलीकरण और संक्षिप्तीकरण या स्पष्टीकरण की वृत्ति प्रधान है। इनमें और 'बीसवीं शताब्दी' के निबन्धों में एक पर्याप्त अन्तर और वैभिन्न है। वाजपेयीजी की वह मौलिक शक्तिमत्ता, प्रखर समीक्षक बुद्धि और प्रांजल विश्लेषक का वह स्वभाव इनमें खो-सा गया है, इसके बावजूद निराला-विषयक अग्रिम विवेचन आज भी उन्हीं के समीक्षात्मक आदर्शों और चेष्टाओं का मुखापेक्षी है। समकालीनता के कारण ही नहीं वरन् उस युग के काव्य की व्यापक संवेदनीयता के कारण, आज भी वे ही निराला के व्यक्तित्व और काव्य के अधिकारी विद्वान् ठहरते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशचन्द्र गु

कामू की कला (१९१३-६०)

कामू अपनी प्रतिभा के शिखर पर थे, जब मोटर-दुर्घटना के कारण वे अकाल ही मृ के शिकार हुए। मृत्यु के समय वे सैंतालीस वर्ष के थे, किन्तु युद्धोत्तर यूरोप के महत्व पूर्ण उपन्यासकारों में उनकी गणना थी और साहित्य में उनका व्यक्तित्व सुप्रतिष्ठि था। कामू ने युद्धोत्तर युरोप में मनुष्य के अनुभवों, संघर्षों और दुःख-भरे जीवन सम्बन्ध में गहरी अनुभूति से लिखा था। परिमाण में कामू का साहित्य अधिक नहीं किन्तु उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने उपन्यास, नाटक, कहानियाँ और दर्श सम्बन्धी निबन्ध लिखे। अंग्रेज़ी में अनुवादित उनके उपन्यास, The Outsider, T Plague और The Fall, महत्वपूर्ण कलात्मक उपलब्धियाँ हैं। यही हम उनके कहान संग्रह, Exile and the Kingdom, उनके Caligula आदि नाटकों और उनके दा निक निबन्धों, The Myth of Sisyphus और The Rebel के सम्बन्ध में कह सकते हैं। कामू सामाजिक हलचलों से अलग रहने की विचार-धारा में विश्वास करते थे। सार्त्र और लुई अरागाँ के समान उन्होंने जर्मन विजय के बाद फ्रांस विद्रोह में सक्रिय भाग लिया था। उन्होंने Combat नाम के एक दैनिक पत्र सम्पादन किया था। सन् १९५७ में उन्हें सुप्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार मिला। ४ जनव १९६० को अनेक सफलताओं और उपलब्धियों से भरे कामू के जीवन का अन्त कार-दुर्घटना के कारण हो गया। यह घटना बहुत दुःखद थी, क्योंकि अनेक सम्भा नाएं और आशाएँ मानवता को कामू के जीवन से थीं।

कामू अल्जीरियन-फ्रांसीसी थे। उन्हें मुक्त आकाश और खुले मैदानों से था। वे सीधे-सादे विश्वासों के व्यक्ति थे। उन्होंने बाइबिल की कहानियों के स सीधी और गहरी भावना से परिपूर्ण कहानियाँ लिखीं। सार्त्र की मांसलता, अविश्व और उदासी से भरी कहानियों के वे बिल्कुल विपरीत हैं। कामू मनुष्य के प्रेम, दु और शोक के सम्बन्ध में सीधे लिखते थे। उनके पात्र ग्रीक ट्रैजिडी के नायकों समान भाग्य से प्रताड़ित, धैर्यवान व्यक्ति होते हैं, जिनका विनाश अनिवार्य है। उस अविश्वास और अनास्था का शिकार होने से बचे हैं, जिसने अनेक फ्रांसीसी लेख को ग्रसा है। युद्ध का संकट, अनेक विपत्तियाँ और वेदनाएँ, सड़ता और गलता जीर्ण समाज—इस अनास्था के मूल कारण हैं। कामू के पात्र पाँसे की गोटों के स हैं; न वे भाग्य को चुनौती दे सकते हैं, न उसे बदलने में समर्थ हैं।

कामू अल्जीयर्स और ओरान के बारे में लिखते हैं, मरुभूमि की आँख झपा वाली धूप के बारे में, चमकते सागर और आकाश के सम्बन्ध में लिखते हैं जो उ अफ्रीका के क्षितिज हैं। कामू यथार्थवाद की क्लासिकल फ्रेंच परम्परा में अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यास और कहानियाँ लिखते हैं। वे सत्य के प्रति निष्ठा से लिखते हैं, न कुछ छिपाते हैं, न बढ़ाकर कहते हैं। उनके ब्रुश के आघात बाल्ज़ाक अथवा टॉल्सटाय की कला के समान क्रमशः घने होकर शक्ति ग्रहण नहीं करते। वे सीधी-सादी कथा कहते हैं, अलंकार-रहित, जिसमें वे जीवन और मनुष्य-सम्बन्धी अपने विचारों का सार व्यक्त करते हैं। उनका अन्तिम जीवन का चित्र संश्लिष्ट नहीं होता, उनके कैन्वैस पर पात्रों की भरमार नहीं होती। वे उपन्यास की अपेक्षा लम्बी कहानी लिखते हैं, लेकिन जो कुछ भी वे लिखते हैं, वह मानवता का रूपक होता है। प्राचीन धर्म-कथाओं के समान अर्थ-पूर्ण और सार-गर्भित उनकी कहानियाँ होती हैं। इन कहानियों में गहरी भावना, व्यंग्य और नाटकीय तत्व रहते हैं।

The Outsider, The Plague और Exile and the Kingdom शीर्षक कहानियों में उत्तरी अफ्रीका का संपूर्ण प्राकृतिक सौन्दर्य वैभव प्रकट हुआ है। कामू का एक निबन्ध, 'अल्जीयर्स में ग्रीष्म' आल्हाद से भरा गद्य-काव्य है। इस निबन्ध में हमें विशाल सागर, जलती हुई धरती, झुलसाने वाली धूप और मुक्त, खुले देश की झलक मिलती है। The Outsider में हमारे नेत्रों में 'नीला और सुनहरा' आकाश भर जाता है। सभी कहीं हम 'धूप से निखरी' भूमि देखते हैं। 'अल्जीयर्स में ग्रीष्म' में 'प्रत्येक सड़क के अन्त में सागर है, धूप का प्रसार है, जाति का सौन्दर्य है। 'अल्जीयर्स' 'मुख अथवा घाव' की भाँति आकाश की ओर खुला है। इसकी तुलना में पैरिस "मटमैला-सा नगर है। यहाँ कबूतरों की भीड़ें और अँधेरे-भरे आँगन हैं। यहाँ नागरिकों के मुँह निचुड़े हुए, रक्तहीन लगते हैं।"

कामू के पात्र बहुधा निष्क्रिय होते हैं। उन्हें जीवन की विषमताओं और दुःखों का ज्ञान है, किन्तु उनके मन में किसी ध्येय के प्रति लगन नहीं है। वे अपने भाग्य के सामने एक विचित्र उदासी से सिर झुकाते हैं। उनके मन में कोई उमंग नहीं। कामू का एक प्रमुख पात्र, मेरसू, मानो यह भी नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है। वह जीवन की क्रियाएँ बिना किसी लगाव या उत्साह के पूरी करता है, मानो वह अचेतन हो। मेरसू किसी भी चीज़ में दिलचस्पी नहीं रखता। न उसके मन में अपनी माँ के प्रति प्रेम है, न अपनी प्रियतमा के। न वह प्रेम की भावना का आदर करता है, न दुःस्वप्न-नगर, पैरिस का। उसके मन की सभी भावनाएँ जैसे जलकर राख हो गई हों। वह अभिशप्त मानव है, उनमें जो सभ्यता की अन्तिम सीमा पर रहते हैं। सिरिल कोनौली के अनुसार मेरसू नया 'पैगन' (Pagon) है, भूमध्यसागर के मनुष्य की पुनरावृत्ति, जैसा वह कोरिन्थ या कार्थेज या एलिक्ज़ाड्रिया या तार्शिश में था, जैसा वह आज कैसा ब्लांका अथवा दक्षिण कैलिफोर्निया में है—धूप और सागर का प्रेमी जीव, उन जटिल भावनाओं से मुक्त जो सभ्यता का अभिशाप है, 'पेगन' (Pagon), मूल्यों से रहित संस्कृति का पुष्प।'

मेरसू के सिलसिले में अरब पक्ष की कामू पूर्णतयः उपेक्षा करते हैं, यह भी कोनौली का अभियोग है। मेरसू अमरीका के ग़रीब गोरों की भाँति है। वह जीवन की परिधि पर रहता है और उसकी जड़ें धरती में जमी नहीं हैं। भाग्य ने उसके साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रूर हास्य किया है और वह आश्चर्य-चकित और परेशान है। कामू मेरसू का प्रभावोत्पादक चित्र खींचते हैं। वे उसे सम्पत्तिहीन गौरांग के रूप में अंकित करते हैं। अरब पक्ष की चर्चा करते हुए कोनौली कहते हैं : "कामू कथानक के दूसरे पात्र के चित्रण में संवेदना की कमी प्रदर्शित करते हैं। जिस मूअर (Moor) लड़की का प्रेमी उसे पीटता है और जिसका भाई उसका बदला लेते हुए मारा जाता है, उसे कामू बिलकुल भूल जाते हैं। वह भी शायद जीवन से उतना ही प्रेम करती हो; उसका हत्या किया हुआ भाई भी जीवन से शायद लगाव रखता हो। वे भी औपनिवेशिक व्यवस्था के लिए विजातीय थे। नई 'पेगन' दृष्टि भी नारी के प्रति उतनी ही अक्रूर है, जितनी पुरानी 'पेगन' दृष्टि थी।"

कामू ने और भी अनेक दुःखी पात्रों की सृष्टि की, जो धैर्य से भाग्य के निर्मम प्रहारों को सहते हैं। वे उन प्राणियों की भाँति लगते हैं जो एक विचित्र संसार में अपने को पाते हैं और अपराधी अनुभव करते हैं। 'अतिथि' शीर्षक कहानी में अरब पात्र है, जो अन्याय के सामने सिर झुकाता है और पाई हुई स्वतन्त्रता के प्रति उदासीन रहता है। कामू के पादरी भी इतनी ही उदासीनता दिखाते हैं। The Renegade शीर्षक कहानी में पादरी पर बर्बर अत्याचार होते हैं, किन्तु उसके हृदय में कोई रोष नहीं है। पादरी इस विश्वास का शिकार है कि क्रूरता और अन्याय के विरुद्ध मन में क्रोध न होना चाहिए। 'अतिथि' में अरब पात्र दास के समान शासक के सामने सिर झुका देता है।

'प्लेग' में अवश्य मनुष्य इस क्रूर रोग के विरुद्ध साहसपूर्वक संघर्ष करते हैं। इस उपन्यास में ओरान नाम के नगर पर युद्ध के विध्वंस के बाद इस रोग के भीषण हमले का अध्ययन है। किन्तु इस उपन्यास में भी बड़ी उदासीनता से मनुष्य इस आक्रमण का सामना करता है। जब प्लेग का बल कम होता है, तो भी मानो वह थका शत्रु है, पराजित शत्रु नहीं। उपन्यास के नायक, डॉक्टर रयू (Riux) इस उदासीनता के प्रतीक हैं। वे एक उदास और दयनीय प्राणी हैं और कैसावियानका के समान जलते हुए 'डैक' पर वीरतापूर्वक खड़े रहते हैं। रेमों रॉबेयर प्लेग के विषय में कहता है : 'उन लोगों की स्मृति में, जिन्होंने यह सब देखा, प्लेग के भीषण दिन लपलपाती लपटों के समान न थे जो आकाश को आलोकित करती हैं, सर्वग्रासी हैं और बुझाई नहीं जा सकतीं। वे किसी राक्षसी शक्ति की मन्द निश्चित गति के समान थे, जो अपने पथ में सब कुछ कुचलती हुई बढ़ती है।"

कामू के कैन्वैस पर, जो गोगाँ के चित्रों के समान उदास आँखों वाले व्यक्तियों से भरा है, डॉ० रयू ही सबसे अधिक सक्रिय और वीर पुरुष हैं। लेकिन रयू भी ऐसे व्यक्ति हैं, जो जीवन के आगे नतशिर हैं और जिनके मन में विद्रोह और प्रतिरोध की कोई चिनगारी नहीं है। लेखक और चित्रक की हैसियत से कामू मृत्यु के विचार से त्रस्त हैं। वे इसके विरुद्ध दार्शनिक विचार प्रस्तुत करते हैं, किन्तु निरुत्साहित इस संघर्ष में उनका मन उमंग से खाली है।

कामू का साहित्य यूरोपीय संस्कृति के प्रति अविश्वास की अभिव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सभ्यता की सम्पूर्ण कुटिलताओं, विभीषिकाओं और असफलताओं पर उन्होंने मर्म-प्रहार किया है। 'प्लेग' में औपनिवेशिक फ्रांसीसियों के जीवन का चित्र वे इस प्रकार खींचते हैं : "हमारे नागरिक कठोर श्रम करते हैं, लेकिन केवल समृद्धि की आशा से। उनकी मुख्य दिलचस्पी व्यापार में है, और जीवन में उनका मुख्य ध्येय भी यही है। स्वभावतय: वे प्रेम-क्रीड़ा, समुद्र-स्नान और सिनेमा देखने के समान सीधे-सादे सुख पसन्द करते हैं, किन्तु इन्हें वे शनिवार की शाम और रविवार के लिए सुरक्षित रखते हैं और शेष सप्ताह वे जितना भी हो सके, उतना धन अर्जन करने में लगाते हैं। शाम को, दफ्तर छोड़ने के बाद, वे रेस्त्राँ जाते हैं, एक ही मार्ग पर सैर करते हैं, या अपने बारजों में हवा खाते हैं। इस आमोद के समय में कभी कोई व्यतिक्रम नहीं होता। तरुणों की भावनाएँ तीव्र किन्तु क्षणभंगुर होती हैं। वृद्धों के आमोद-प्रमोद 'बोल्स' के खेल, दावतें, मिलने-जुलने और क्लबों तक सीमित हैं, जहाँ एक ताश का पत्ता गिरने पर बहुत-सी धन-राशि इधर-से-उधर हो जाती है।"

The Renegade का पादरी यूरोप के ऊब भरे जीवन से थककर जंगली स्थानों में जाता है। यूरोप के "असभ्य पिता, गँवार माँ, शराब, सूअर के गोश्त, लम्बे शीतकाल, ठंडी हवा, उड़ती बर्फ" और 'कँटीली घासों' से वह ऊब गया है। आखिर-कार वह 'धूप में, ताज़े जल के साथ' जीवन बिताने चल देता है।

The Fall भी आधुनिक सयभ्ता पर एक तीव्र व्यंग्यात्मक कथा है। यह एक लम्बे स्वगत् कथन के रूप में ढली है। इसका प्रमुख पात्र, जाँ क्लेमांस, पहले पैरिस में बैरिस्टर था और अब एम्सटर्डम के रेस्ट्राँओं में और सागर-तट पर विचरता है। इस लम्बे अन्तर्कथन के माध्यम से कामू आधुनिक तथाकथित सभ्य मानव की दुर्बल-ताओं और कुकर्मों, उसके खोखलेपन और कामुकता का पर्दाफ़ाश करते हैं। The Fall में कामू युद्धोत्तर पीढ़ी पर आरोप लगाते हैं कि वह जीवन से नहीं, मृत्यु से प्रेम करती है। वे कहते हैं : "शायद जीवन से काफ़ी प्रेम नहीं करते? क्या तुमने यह देखा है कि मृत्यु ही हमारी भावनाओं को जगा पाती है। जो मित्र हमसे विदा ले चुके हैं, उनसे हमें कितना प्रेम है? हम अपने उन शिक्षकों की कितनी प्रशंसा करते हैं, जिनकी वाणी मौन हो चुकी है, जिनके मुख अब मिट्टी से भरकर बन्द हैं!"

The Renegade के समान The Fall भी अन्तर्कथन की टेकनीक पर कामू के अधिकार का प्रमाण है। इससे सिद्ध होता है कि एक ओर तो उन्होंने Defoe और यथार्थवाद के फ्रांसीसी गुरुओं की परम्परा को आत्मसात कर लिया था, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने प्रुस्त आदि महान कलाकारों की उपलब्धियों की अवहेलना नहीं की। इन कलाकारों ने 'चेतना का प्रवाह' टेकनीक का विकास किया। इस शैली के तत्त्व हम कामू की कला में पाते हैं।

साधारणतय: कामू सीधी-सादी, स्पष्ट शैली में कथा कहते हैं। वे अनलंकृत कथा कहते हैं, जो भावों की गहनता और नाटकीय तत्त्वों से पाठक को प्रभावित करती है। कामू की शैली में महाकाव्यों और बाइबिल के गौरवशाली तत्त्व हैं। इस शैली में मर्मस्पर्शी सादगी से भरी सुन्दरता है। इसके चित्रों में तेज है और प्रकृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन अफ़्रीका के सूर्य के समान हमें चकाचौंध करते हैं। कामू के वाक्य हृदय पर कठोर आघात करते हैं और उसे अपने चाक़ू से तराशते हैं। जिन (एक शराब) के लिए वे कहते हैं : "यह हमारे अन्दर एक सुनहरी, ताँबे के रंग का प्रकाश जगाती है।" पैरिस के दो व्यसन हैं : 'विचार और कामुकता'। शैली की तुलना वे 'शुद्ध-रेशम' से करते हैं, जो "बहुधा खाल को ढँके रहता है !"

आधुनिक उपमाओं का वे सशक्त प्रयोग करते हैं। The Plague में वे चूहों के खिलाफ़ आन्दोलन का इस प्रकार वर्णन करते हैं :

"अपने अंग से मशीन-गन के समान गड़गड़ाहट करता हुआ मूषक-विरोधी यान आगे बढ़ रहा था।"

कामू के चित्रों में सूर्य का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह हमारे "नेत्रों में घूंसे के समान लगता है"। बाहर मानो "भट्टी जल रही है और धूप रेत और समुद्र पर टूटकर अग्नि के वनों में बिखर रही है।" The Outsider में मेरसू को अपने मस्तिष्क पर केवल सूर्य के मंजीरों के आघात की चेतना है और "इससे कुछ कम स्पष्ट चाक़ू से प्रकाश के तेज फलक के कौंधने की, जो उसके पलकों पर घाव कर रहा था और मानो उसकी पुतलियों को निकाले ले रहा था।" ऐसे समय उसने अरब के तन में अपना पिस्तौल खाली किया था। रात के सन्नाटे में कुत्ते के क्रन्दन का कामू इस प्रकार वर्णन करते हैं : "नींद से भरे घर में क्रन्दन का स्वर मन्द-मन्द उठा, जो मानो मौन और अन्धकार से फूल के समान उग रहा हो।"

कामू के साहित्य में प्रकृति के अनेक सुन्दर वर्णन हैं। यह उनकी कला में नक्षत्रों की जगमगाहट-सी भर देते हैं। "हॉलैण्ड एक स्वप्न है महोदय, स्वर्ण और धुएँ से भरा स्वप्न···दिन में अधिक धूमिल, रात में अधिक सुनहला। और रात-दिन वह स्वप्न ऐसे ही जीवों से भरा रहता है, जो ऊँचे हैन्डिल वाली अपनी काली साइकिलों पर मानो स्वप्नावस्था में घूमते हैं। यह काले शोकित हंसों के समान पूरे देश में, समुद्र में, नहरों के जल में बहते रहते हैं। ताँबे के रंग के बादलों में सिर किए वे सपने देखते हैं···"

युद्धोत्तर यूरोप के मरण और विनाश से उबरने का मार्ग कामू खोजते हैं। वे यूरोप से ऊब गए हैं, अतीत के शोर-गुल से भरे उसके नगरों से। यहाँ हम "शताब्दियों का, क्रान्तियों का, ख्याति का मद-भरा नर्तन अनुभव कर सकते हैं।" वे पैरिस से थक गए हैं, जो "बहुधा हृदय के लिए मरुभूमि के समान" होती है ! कामू अफ़्रीका की ओर मुड़ते हैं, जो ताज़े जीवन और तरुणाई से भरा महाद्वीप है। किन्तु कामू, जो नए 'pagan' हैं, अफ्रीकी मानव की आशाओं और उसके सपनों के प्रति अन्ध-बधिर हैं। वह यूरोप से अपने साथ ह्रास और मरण की गन्ध ले जाते हैं। वे 'पश्चातापी-विचारक' बने रहते हैं; उनका मन गहरी निराशा और परिताप से भरा है। वे अपने साथ यूरोप लिए अफ्रीका आते हैं, और अनेक दुःखद स्मृतियाँ और तीव्र-वेदना लेकर आते हैं।

कामू विद्रोह में विश्वास करते हैं, क्योंकि इसका अर्थ होता है, "मृत्यु के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरुद्ध एक लम्बा विरोध"। विद्रोह 'जीवन की ही गति' है और "बिना जीवन का परित्याग किए इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता;" कामू की दृष्टि में मध्यम मार्ग का आदर्श क्रान्ति और नाशवाद के बीच में है।

The Myth of Sisyphus में कामू 'आत्मघात की समस्या का हल' खोज रहा था। The Rebel में वह मृत्यु की समस्या का विश्लेषण कर रहा था। जीवन के प्रति सिसिफ़स के अनुराग ने उसे श्रम का दण्ड दिया, 'ऐसा श्रम जिसका फल कुछ भी नहीं। कामू के अनुसार "पृथ्वी को भावनाओं का यही मूल्य चुकाना होता है।"

कामू के अनुसार विद्रोह मानवता की 'आवश्यक दिशाओं' में है, किन्तु कामू जीवन की परिस्थितियों के विरुद्ध आध्यात्मिक विद्रोह के पक्ष में हैं। उनकी शिकायत है कि "सभी आधुनिक क्रान्तियों ने राज्य की शक्ति में वृद्धि की है।" कामू यह समझने में असमर्थ है कि आज प्रकृति की शक्तियों पर मनुष्य के अधिकार के साथ यह आवश्यक हो गया है कि समाज को हानि पहुँचाने की व्यक्ति की क्षमता पर रोक लगाई जाए। इस प्रकार शक्ति का झुकाव सामूहिक रूप की ओर होगा। साथ ही समाज की निरंकुशता के विरुद्ध भी मनुष्य रक्षा के उपाय खोजता है। स्वतन्त्रता का स्वच्छन्दता की दिशा में पतन न होना चाहिए। कामू का आग्रह है कि वे 'रोमैन्टिक' नहीं हैं और 'नियम और व्यवस्था की आवश्यकता' में उनका विश्वास है।

'सिसिफ़स की दन्तकथा' के एक निबन्ध में कामू, कम-से-कम व्यक्ति के रूप में, समाज के प्रति कलाकार का दायित्व स्वीकार करते हैं। वह कहते हैं। "कलाकार होने के नाते शायद हमें संसार के धन्धों में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु मनुष्य के नाते ज़रूर···इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम अपने कलाकार स्वभाव का बलिदान इस या उस प्रचार के हित में करें। किन्तु यदि हम मनुष्य के रूप में ही हस्तक्षेप करते हैं, वह अनुभव हमारी भाषा को भी प्रभावित करेगा ही।" इस स्थापना का सार वह एक ही वाक्य में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं: "हमें एक साथ ही पीड़ा और सौन्दर्य की सेवा करती है।"

कामू की कला की अपनी सीमाएँ हैं। कामू विश्व के महान उपन्यासकारों के साथ—डिकिन्स, बाल्ज़ाक और टॉल्सटॉय की पंक्ति में – शायद न बैठें, किन्तु उनका साहित्य ज़ोला, मोपासाँ, फ़्लोवेयर और प्रुस्त आदि, फ़्रांसीसी यथार्थवाद के पोषकों की परम्परा में एक नई अमूल्य कड़ी अवश्य जोड़ता है। उनकी सृजनात्मक प्रतिभा शायद उच्चतम् कोटि की न हो, किन्तु उसमें गहराई और ज्ञान की कमी नहीं है। उनका 'कैन्वैस' छोटा है, किन्तु उनके जीवन-अनुभव में तीव्रता और मार्मिकता दोनों हैं। अपनी कला के माध्यम से वे जीवन के अनेक आधारभूत प्रश्न उठाते हैं, किन्तु उनकी कला में विस्तार और व्यापकता का अभाव है। The Outsider में अपनी भूमिका में शायद सिरिल कोनौली यही संकेत करते हैं। वह लिखते हैं—"शीघ्र ही कुछ-न-कुछ अवश्य होना पड़ेगा और मनुष्य के लिए हर्ष, दया और न्याय का एक नया धर्म लाना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्मूल्यांकन

कृष्णबिहारी मिश्र

मानस का समाज-दर्शन : कुछ तत्त्व

समाज-दर्शन की चर्चा करने के पूर्व समाज की रचना पर विचार करना अनिवार्य है। मानव-समाज पशुओं की प्रवृत्तिगत सामूहिकता से भिन्न है। न उसे मानव-पशु के अहं को नमित करने और उसकी स्वार्थ-भावना को संयमित करने के उद्देश्य से बाह्य रूप से आरोपित तन्त्र ही स्वीकार किया जा सकता है। वास्तव में वह मानव की भावनाओं, आकांक्षाओं और मूल्यों को उत्पन्न और अभिव्यक्त करने वाला एक परिवर्तनशील माध्यम है। प्रत्येक व्यक्ति में समाज सदैव वर्तमान है। केवल व्यक्ति ही समाज का अंग नहीं है, समाज भी व्यक्ति का अविभाज्य अंश है। व्यक्ति के मानसिक जीवन में सदैव ही कोई अन्य उपस्थित रहता है। आदर्श के रूप में, वस्तु के रूप में, सहायक अथवा शत्रु के रूप में।

अतः व्यक्ति समाज को अपने में समाविष्ट करता है, अन्यों के समक्ष उसे अभिव्यक्त करता है और उत्तराधिकार के रूप में भावी सन्तति को प्रदान करता है। वह उसका परिवर्धन एवं उसकी श्रीवृद्धि करने के साथ-साथ उसकी नव-रचना भी करता है।[1]

मनुष्य अपने मूल्यों की परिभाषा, विद्या तथा उनकी पूर्ति की आधारभूत परिस्थितियों के लिए समाज पर ही निर्भर है। समस्त मूल्य सामाजिक उत्पत्तियाँ हैं क्योंकि मनुष्य की समस्त इच्छाएँ समूहों और संस्थाओं के द्वारा ही पूर्ण होती हैं। किसी अनुभव, भावना या व्यवहार का मूल्यांकन उस परिस्थिति के सम्यक् अध्ययन पर आधारित है जिसमें वह घटित होता है। समूहगत जीवन में वैयक्तिक निष्ठाओं की घनिष्ठता एवं तज्जन्य पारस्परिकता के व्यवहार से ही न्याय, सहानुभूति और प्रेम जैसे गुणों की उत्पत्ति हुई है। सामाजिकता और नैतिकता का प्रारम्भ ही उस पारस्परिकता के सिद्धान्त से होता है जो शक्ति के अधिकार के पाशविक नियम को अपदस्थ करता है।[2] नैतिक मूल्यों में अधिकार और कर्तव्य साथ-साथ संलग्न हैं क्योंकि अनिवार्य कर्त्तव्यों से शून्य निष्कंटक अधिकारों का उपभोग किसी अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ समाज में ही सम्भव है न कि इस समाज में, जहाँ व्यवहारगत अनुकूलता को यान्त्रिक रूप से उसकी आधारगत स्थिति को प्रथक नहीं किया जा सकता।[3] आर्थिक

1. Man, Morals and Society, Flugel, P. 242
2. Problems of Systematic Psychology—C. H. Griffith. P. 246
3. Croce-Politics & Morals "There is no moral life unless Economic & Political life is first established, as the ancients used to say first 'the living' and then the 'good living.' P. 24

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और राजनीतिक जीवन की स्थापना के पश्चात् ही नैतिक जीवन का उदय होता है।[1]

नैतिक मूल्यों के विकास और उनकी संस्थिति में भाषा का महत्त्वपूर्ण योग है। भाषा मनुष्य के व्यवहार के साथ प्रशंसा और निन्दा का भाव संयुक्त कर नैतिक स्वभाव और शिष्टाचार का निर्माण करती है। भाषा के द्वारा ही नैतिक मूल्यों और सदाचारों की परम्पराओं का सृजन होता है क्योंकि भाषा जहाँ एक ओर भविष्यत् पीढ़ी को सामाजिक दृष्टि से औचित्यपूर्ण एवं स्वीकार्य-व्यवहार के चयन की क्षमता प्रदान करती है वहाँ दूसरी ओर उसके महत्त्व को प्रतिपादित करने की शक्ति भी देती है। सदाचार से यथेष्ट स्तर तक न पहुँच सकने वाले व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार को निन्दित और अस्वीकृत करने का साधन भी भाषा ही है। मनुष्य की अनुभवों और मूल्यों की निर्धारण-शक्ति प्रतीक-परम्परा, कला और भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त साहित्य के रूप में परिणत होकर समाज को सभ्यता के उत्तरोत्तर उच्च स्तर की ओर ले जाने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती है। साहित्य में समाविष्ट यह शक्ति वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक हित के मध्य चलने वाले अन्तर्विरोधों में सामंजस्य स्थापित करने का भी उपक्रम करती है।

भारतीय साहित्य इन प्रक्रियाओं का उत्तम उदाहरण है। भारतीय संस्कृति के उषाकाल से ही इस साहित्य में भारतीय समाज के महान् आदर्शों की सशक्त अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। वेदों में सामाजिक औदार्य, सहिष्णुता और सहयोग के भाव बहुलता से विद्यमान हैं।[2] उपनिषदों में वैदिक कर्मकाण्ड के अतिशय वाह्याडम्बर के विरुद्ध समाज की व्यापक प्रतिक्रिया और असन्तोष का परिचय मिलता है।[3] सामाजिक गतानुगतिकता और अन्धविश्वास का विरोध भी उनमें उपलब्ध है।[4] रामायण तो इस राष्ट्र के उन आदर्शों की महागाथा ही है जो तत्कालीन युग में पारिवारिक तथा सामुदायिक स्तरों पर लक्षित होते हैं। उदाहरणार्थ राम के राज्याभिषेक के

१. (क) समानी वा आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानयस्तु वो मनो यथा वः सुहासति॥
ऋक्० मं० १०, सूक्त १९१, मन्त्र ४।
(ख) संगच्छध्वं, संवदस्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवमांग यथा पूर्वे संजानानां उपासते॥
ऋक्—मं० १७, सूक्त १९१, मन्त्र २।

२. The most leading ideas which we find throughout the Upnishadas are (i) negatively the abandonment on the supression of objective sacrifice and (ii) positively the doctrine that Knowledge can take its place. "Hinduism—A. C. Bonquet D. D., lecturer, Cambridge University, P. 54.

३. अविधायामन्तरे वर्तमानः स्वयधीराः पंडितमन्यमानाः।
जघन्यमाना पन्ति मूढ़ा अन्धेनेव नीयमानाः यथान्धाः॥
मुण्डकोपनिषद (१. २. खण्ड ८१ श्लोक)

४. नानानगर वास्तकान्प्रथग्जानपदानपि।
समानिनाद ... [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसंग में जनमत और लोक-सम्मति की शक्ति का परिचय मिलता है। अभिषेक के लिए चक्रवर्ती सम्राट् नगरों और जनपदों के प्रधानों की सम्मति और अनुमति माँगते हैं।[१] महाभारत में कर्ण के तेजस्वी एवं स्वाभिमानी चरित्र में मिथ्या-कुल-प्रतिष्ठा के विरुद्ध हुंकार है। गीता ने जिस कर्म का सन्देश दिया है वह लोक-संग्रह से पृथक् नहीं है।[२] मनुष्य ही क्यों, समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम की भावना गीता के ज्ञान का अविभाज्य अंग है।[3] गीता की समदृष्टि समाज की विषमता पर कुठाराघात करती है।[४] बौद्ध धर्म तो इतिहासज्ञों के अनुसार एक सामाजिक क्रान्ति ही थी।[५] इसलिए बौद्ध साहित्य में भी धर्म को सरल और संयमपूर्ण जीवन का पर्याय बताकर सर्वजन-ग्राह्य दर्शन की उद्भावना का सफल प्रयास है।[६] अश्वघोष के काव्य में बौद्ध धर्म की समाजहित-चिन्तन की भावना का प्रतिफलन द्रष्टव्य है। कालिदास[७] के

---

१. लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः॥
श्रीमद् भगवद्-गीता, अध्याय ५, श्लोक २५।

२. "But the unique feature of Jnianaitana as thought in Gita is that it is never divorced from service to society. It is indeed remarkable however, in its highest flights of description of the nature of the saints this great scripture never fails to mention love of all creatures as an inalienable element is it. "The Paths of Yogas in Gita—Essay by D. S. Sharma, Cultural Heritage of India, Vol II P. 422.

३. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हास्तिनि।
शनि चैव श्वपाके च पण्डितर्शिः समदनः॥
श्रीमद्भगवद् गीता अध्याय ५, श्लोक १८।

४. "Buddhism was much more a social than a religious revolution. "E. B. Hovell" The History of Aryan Rule in India, P. 50.

5. "Man should avoid both the extremes, viz. a life of ease and a life of severe asceticism—the middle path was the best"—Ancient India—R. C. Majumdar, P. 170

६. (ख) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ३२—"ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से उत्पन्न हुए थे, जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं वैसे ही पैदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहाँ? यदि कहो, संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चाण्डाल का भी संस्कार हो, तो ब्राह्मण हो जाए। यदि कहो कि वेद पढ़ने से ब्राह्मण होता है तो क्यों नहीं चाण्डालों को भी वेद पढ़ाकर ब्राह्मण हो जाने देते।"

७. (क) प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
सपिता पितरस्तासां केवलं जन्म हेतवः॥ रघुवंश—सर्ग १, श्लोक २४

(ख) क्षतात्किल त्रायतइत्युदग्रः क्षात्रस्य शब्दो भुवनेष्य रुढ़ः।
राज्येन किं तद्विपरीत वृत्तेः प्राणैस पक्रोशभलीमसेवां॥ रघुवंश, सर्ग २, श्लोक ७३

(ग) वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा, वह्नौ विशुद्धा यत्समक्षम्।
मम [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाकाव्यों और नाटकों में भी उस महान् साहित्य-स्रष्टा की सामाजिक चेतना की मनोरम अभिव्यक्ति हुई है। दिलीप का प्रजा का पुत्रवत पालन, उनकी क्षत्रियकर्त्तव्य चेतना तथा शकुन्तला और सीता-जैसी रमणियों के प्रदीप्त स्वाभिमान का चित्रण इस बात के प्रमाण हैं कि कालिदास के सामाजिक आदर्शवाद में कितनी शक्ति और प्राणवत्ता है। भवभूति के राम तो लोक-सौख्य के हेतु सर्वस्व त्याग के सिद्धान्त के व्रती हैं ही।[१]

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में यह परम्परा अनवरत और अक्षुण्ण रही है। सिद्ध-साहित्य में जाति-व्यवस्था की रूढ़ और विकृत वैषम्यमूलक दशा एवं मिथ्या धार्मिक पाखंड पर कटु प्रहार किये गए हैं।[२] जनता की भाषा का प्रयोग करने वाले इन कवियों ने जीवन को कर्मकाण्ड के जाल से मुक्त कर उसका सहज रूप प्रदर्शित किया था।[३] गोरखनाथ राजा और प्रजा को समान दृष्टि से देखने के आग्रही, पाखण्ड विरोधी और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के समर्थक थे।[४-क] स्वयम् की रामायण में विनम्रता की प्रशंसा और मुनि रामसिंह के पाहुड़ दोहा में जीवन-पराङ्मुखी ग्रन्थ-अध्ययन-साधना की निन्दा आदि सामाजिक विवेक के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।[४-ख]

इस व्यापक सामाजिक चेतना की परम्परा का उत्तराधिकार जिस भक्ति-आन्दोलन को मिला था, उसके सामाजिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने लिखा है—

"इससे हिन्दुओं को प्रतिरोध की एक ऐसी निष्क्रिय शक्ति प्राप्त हुई, जिसने

---

१. स्नेह दया सौख्यं च सच यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानाम् मुन्जतोनाऽस्ति मे व्यथा॥
भवभूति, उत्तर रामचरित अंक १ श्लोक १२

ब्राह्मणहि ना जानन्ता भेद। यों ही पटेउ ये चारों वेद।
यदि नंगाये होई मुक्ति तो शुनक श्रगालहु।
लोभ उपरि होइ सिद्धि, तो युवति नितम्बहु॥
हिन्दी काव्य-धारा—पृ० ५—राहुलजी कृत हिन्दी रूपान्तर।

२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—प्रथम भाग—डॉ• रामकुमार वर्मा पृ० ७७।

३. (क) राजा परजा एक करि देखा जब जानिबा जोगी निसपति का भेष॥
हिन्दी काव्य धारा—पृष्ठ—१६३।

(ख) मुहमद मुहमद न कर काजी, मुहमद का विषम विचारं।
मुहमद हाथ भेरद जे होती, लोहे घड़ी न सारं॥
सबदै भारै सबद जिलावै ऐसा मोहमद पीरं।
ऐसे भरमि न भूलो काजी, सौ बल नहीं सरीरं॥

४. (क) बुध जन स्वयंभु तोहि बिनवई। मोहि सरिसउ अन्य नहिं कुकली।
व्याकरण किछु न जानियऊ। ना वृत्ति सुद्र बक्खानियऊ॥
रामायण १.३, हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ २५।

(ख) पंडित पंडित पंडिता, कण छंडिउ तुप कूटिया।
अर्थहि ग्रंथहिं तुष्टोडसि, परमार्थ न जानइ मूढाड़सि॥
हिन्दी काव्य धारा—पाहुड पोहा—संख्या ८५
पृष्ठ २५७ पर उद्धृत। राहुल सांकृत्यायन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें भय की उपेक्षा, अत्याचारों का सहन और प्राणान्तक कष्टों के मध्य में भी जीवन धारण करना सिखाया। इस प्रकार जो जाति नैराश्य के गर्त में पड़कर जीवन की आशा छोड़ चुकी थी, उसने वह सत्य संचय कर लिया, जिसने कभी क्षीण होने का नाम न लिया।"[1]

मध्ययुग के भक्ति आन्दोलन आध्यात्मिक एवं दार्शनिक लक्ष्यों को महत्त्व देने के साथ-साथ जीवन की यथार्थ वास्तविकता को भी उनकी पूर्ति का उपयुक्त माध्यम बनाना चाहते थे; क्योंकि विकृत सामाजिक व्यवस्था के आधार पर आध्यात्मिक विकास की सम्भावनाओं के पूर्ण होने की कोई आशा नहीं थी। जहाँ, जैसा कि विद्वानों का अभिमत है, बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् धार्मिक चेतना किसी नवीन जीवनादर्श की खोज में थी और वह उसे वैष्णव धर्म में प्राप्त हुआ था, वहाँ नवीन ऐतिहासिक शक्तियों के उदय से सामाजिक आदर्शों में भी क्रान्ति हुई थी। जीवन के प्रति ऐकान्तिक एवं निराशाजन्य विरक्त दृष्टिकोण, सामाजिक आपत्तियों को भाग्यवाद के अनुसार अनिवार्य मानकर उनका करुणा से उपचार, रूढ़िबद्ध रीति-नीतियों के यान्त्रिक अनुपालन और वैयक्तिक आध्यात्मिक उत्कर्ष से सन्तुष्ट होने की भावना जैसे सड़े-गले आदर्श नवीन युग की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ थे। नये सामाजिक सन्दर्भ और सम्पर्क ने शक्ति और सहयोग का महत्त्व सिखला दिया था। हीनता की भावना से त्राण पाकर आत्मसम्मान की रक्षा करने का भाव जाग उठा था। वर्ण-वैषम्य से उत्पन्न जातीय दुर्बलता को पहचानने की दृष्टि मिल गई थी और इन सबकी सम्मिलित अभिव्यक्ति के रूप में युगानुकूल समाज-दर्शन का संघटन हुआ था। जीवन में सरसता को नया महत्त्व और अर्थ मिला था। भौतिक उन्नति की अभिलाषा सचेष्ट हो गई थी और अन्याय का प्रतिरोध करने की प्रेरणा प्रतिक्रिया के रूप में ही सही, समाज में जन्म ले चुकी थी।

भक्ति-साहित्य इस महान् भावात्मक परिवर्तन का जीता-जागता प्रतिबिम्ब है। इस साहित्य के स्रष्टाओं में तुलसी अग्रगण्य हैं। उनका समाज-दर्शन भारत की युग-युग से चली आ रही उपर्युक्त श्लाघ्य परम्पराओं का अनुगमन करने के साथ-साथ उनमें सामंजस्य स्थापित करने की विराट् साधना है। सम्पूर्ण तुलसी साहित्य में, इस दर्शन के सम्यक् उद्घाटन की दृष्टि से, मानस का महत्त्व सर्वोपरि है, क्योंकि इस ग्रन्थ-रत्न के द्वारा ही महाकवि ने अपने युग के सामाजिक अन्याय का प्रबल प्रतिरोध करने की प्रेरणा हिन्दू समाज को दी थी। राक्षसों के मुनि-मख-विध्वंस आदि अत्याचारों का चित्रण, मुस्लिम शासकों के द्वारा हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों में डाले जाने वाले विघ्नों और देवस्थानों पर होने वाले प्रहारों का ही अप्रत्यक्ष वर्णन है, शक्ति संचित कर जिसे रोकने का आह्वान तुलसी ने किया है। सीताहरण मानस में उस युग में हिन्दू ललनाओं के सतीत्व पर आये हुए संकट का प्रतीक है और कलियुग-वर्णन तो तत्कालीन वातावरण में सामाजिक उच्छृंखलता और आचारहीनता का

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय--डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल।
अनुवादक—परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १४, प्रथम संस्करण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्य-सा प्रतीत होता है। रामराज्य के रूप में कवि ने अपने स्पृहणीय समाज की झाँकी प्रदर्शित कर अपनी रचनात्मक प्रतिभा और मौलिक सृजन-सम्पन्न कल्पना शक्ति का प्रमाण दिया है। मानस के सामाजिक दर्शन का सांगोपांग विवेचन एक प्रबन्ध का विषय है। इस निबन्ध को केवल उसके विशिष्ट तत्त्वों की ओर अंगुलि-निर्देश तक ही सीमित रखा गया है।

प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्यकार की वाणी नवीन युग के लिए एक नये सन्देश का वहन करती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमारे वर्तमान जीवन की दृष्टि से नवीन समाज रचना में 'मानस' का क्या उपयोग और महत्त्व हो सकता है, इस पर विचार किया जाए।

पिछली एक शताब्दी में भारतीय जीवन त्वरित गति से परिवर्तित हुआ है। इस देश में ब्रिटिश साम्राज्य की पूर्ण स्थापना और उसके विलय का इतिहास सामन्त-व्यवस्था के विनाश की कहानी अपने क्रोड़ में समेटे हुए है। पूंजीवादी आर्थिक-प्रणाली की स्थापना, ग्रामीण समुदाय का विघटन, सम्मिलित कुटुम्ब व्यवस्था का ह्रास, जाति व्यवस्था का आचारगत शैथिल्य आदि इस संक्रान्ति युग की एक-एक घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और न जाने कितने भावात्मक घात-प्रतिघात, मानसिक संघर्ष और पारिवारिक विशृंखलताएँ इन परिवर्तनों के अन्तराल में छिपी पड़ी हैं। स्वाधीनता के साथ-साथ राष्ट्र का राजनैतिक विभाजन पारस्परिक आर्थिक और सांस्कृतिक संघर्ष तथा विदेशी शासन की साम्राज्यवादी नीति का दुष्परिणाम है। आर्थिक क्रान्ति और आर्थिक जनतंत्र की स्थापना के अभाव में कोरी राजनैतिक क्रान्ति अपने उद्देश्य में असफल रही है। पिष्टपेषित और निरर्थक सांस्कृतिक रूढ़ियों और परम्पराओं का लोप हो रहा है परन्तु उनका स्थान यूरोपीय संस्कृति के विकृत अनुकरण को प्राप्त होता जा रहा है। विश्व-युद्धों ने मानव हृदय को संज्ञा-शून्य बना दिया है। यद्यपि इस राष्ट्र ने जनतन्त्रात्मक प्रणाली के माध्यम से समाजवादी समाज की संस्थापना का उद्देश्य घोषित किया है, परन्तु इन आदर्शों के प्रति राष्ट्रीय आस्था का अभाव है। वर्तमान भारतीय जीवन में व्यक्तिवाद का अनवरुद्ध प्रसार हुआ है, जिसने यद्यपि उन्मुक्त बौद्धिक दृष्टिकोण के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया है परन्तु कुछ सामाजिक विकृतियाँ भी उत्पन्न की हैं। आचरण में संयमहीनता और अहं का उद्धत प्रदर्शन इसी के दुष्परिणाम हैं। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के प्रभाव से सामुदायिक सम्बन्धों में व्यावसायिकता का समावेश हो गया है। सामाजिक असुरक्षा ने मानव व्यक्तित्व को द्विधा विभाजित कर उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानना असम्भव बना दिया है। इस संक्रान्ति से उद्धार के हेतु आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक आदर्शों का पुनर्निर्माण भी नितान्त आवश्यक है जिसमें परम्परा और इतिहास का योग भी अल्प नहीं होगा। निश्चय ही किसी एक बाल्मीकि, व्यास या तुलसी के पास हमारे रोग़ का निदान और औषधि नहीं है परन्तु वे एक सीमा तक हमारे पुनरुद्धार में सहायक अवश्य हो सकते हैं।

समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्पर्क और व्यवहार को मृदु बनाए रखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए सदाचार के जिस आवश्यक अंग की अनिवार्य अपेक्षा है, वह है विनम्रता। विनम्रता का अर्थ अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए दूसरे के व्यक्तित्त्व के महत्त्व की स्वीकृति है। अपने अहं की नोकों और किनारों का तीखापन कहीं दूसरे व्यक्ति को आहत न कर दे अथवा उसे यह अनुभूति न हो कि उसकी उपेक्षा हो रही है और अपनी योग्यता के फलस्वरूप वह जिस सम्मान का पात्र है वह उसे प्राप्त नहीं हो रहा है, यह ध्यान रखना ही विनम्रता है। तुलसी के अपने व्यक्तित्व में यह गुण अतिशय मात्रा में विद्यमान है। 'मानस' जैसे महाकाव्य का रचयिता अपने पाठकों से करबद्ध प्रार्थना करता है :—

"करन चहौं रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित्र अवगाहा॥
भाषा भनिति मोरि मति भोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥
कवि न होहुँ नहिं चतुर कहावउँ।[1] मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥

उनके आदर्श पात्र राम का चरित्र भी इस विशिष्ट गुण से विभूषित है। अपने से उच्चतर, समान तथा निम्न स्तर के व्यक्तियों का परिचायक है। राज्याभिषेक की सूचना लेकर आये हुए गुरु वशिष्ठ के प्रति, आगमन के उद्देश्य से अपरिचित राजकुमार राम के ये शब्द उनकी विनयपूर्ण शालीनता के द्योतक हैं :—

गुरू आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी॥
सेवक सदव स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीति। पठइय काज नाथ असि नीति॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयेउ पुनीत आज यह गेहू॥

विपत्ति और कष्ट के समय भी राम उस मनोहर गुण को अपने हाथ से नहीं जाने देते। वनवास के प्रसंग में कैकेयी के द्वारा समस्त वृत्तान्त सुनकर भी राम की वाणी में जिस विनम्रतापूर्ण स्नेह की अभिव्यक्ति होती है उसकी असाधारणता राम के चरित्र को देवत्व की महिमा से मंडित कर देती है :—

भरत प्राणप्रिय पावहिं राजू। विधि सब विधि मोहिं सनमुख आजु॥
जो न जाहुँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहिं मूढ़ समाजा॥

* * *

"अंब एक दुख मोहि विसेखी। निपट बिकल नरनायक देखी॥
थोरेहिं बात पितहिं दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी॥
राउ धीर गुन उदधि अगाधू। भा मोहिं ते कछु बड़ अपराधू॥
जाते मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तेहि कहु सतिभाऊ॥[2]

दशरथ चक्रवर्ती सम्राट हैं परन्तु जनक के दूतों से उनकी वार्ता में जिस विनम्रता और सारल्य के दर्शन होते हैं उसके कारण उनका चरित्र पाठकों को

१. देखिए, हिन्दी साहित्य की भूमिका—३१४ हजारी प्रसाद द्विवेदी।
२. रामचरित मानस— , १४वीं आवृत्ति, संवत् ४४७। बालकाण्ड, दोहा सं॰ ८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यन्त प्रिय हो उठता है और वे उनके मरण पर उनकी काम दुर्बलता की उपेक्षा कर संतप्त और शोकाकुल हो उठते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में एक सम्राट के आतंक की अपेक्षा एक सहृदय वृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण पितृ-हृदय की विनम्रतापूर्ण आत्मीयता ही प्रमुख हो गई है :

तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥
भइया कहहु कुशल दोउ बारे। तुम नीके निज नयन निहारे॥
पहिचानहु ते कहहु सुभाऊ। प्रेम बिबस पुनि पुनि कह राऊ॥[1]

समान स्तर के व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में भी विनम्रता का होना नितान्त आवश्यक है। चित्रकूट में अयोध्या और मिथिला के राज-परिवारों की महिलाओं के मिलन और सम्भाषण के प्रसंग में दशरथ-पत्नी कौशल्या और जनक-पत्नी सुनयना दोनों ही विनम्रता की प्रतिमाएँ प्रतीत होती हैं। यदि कौशल्या सुनयना के सम्बन्ध में कहती हैं :

कौशल्या कह धीर धरि सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिबेक-निधि-बल्लभहिं तुर्मोहं सकइ उपदेसि॥[2]

तो सुनयना भी प्रत्युत्तर में अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए उचित शब्दों में उत्तर देती हैं :

लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनक प्रिया गहि पायं पुनीता॥
देवि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ घानि राम महतारी॥
प्रभु अपने नीचहु आदर हीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिन धरहीं॥
रउरे अंग जोग जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै॥[3]

इस प्रकार तुलसी ने सम्भ्रान्त पुरुष वर्ग के समान नारियों के प्रति अपनी समान दृष्टि का परिचय दिया है।

विनय और शिष्टाचार किसी वर्ग की धरोहर नहीं हैं। जनक के द्वारा चित्रकूट को भेजे गए दूत गुरु वशिष्ट के जनक की कुशल पूछने पर जो उत्तर देते हैं उसे विनयपूर्ण वाक्पटुता का अच्छा दृष्टान्त कहा जा सकता है :

यहि बिधि राउर पूछब साईं। कुसल हेतु सोइ भय गोसाईं॥
"नाहिं तो कौसलनाथ के, नाथ कुसल गई साथ।
मिथिला अवध बिसेषते, जग सब भयउ अनाथ॥[4]

जनक जैसे प्रतापी नरेश के होते हुए भी दूत, दशरथ मरण से पहले मिथिला को अनाथ बताकर, तब अयोध्या और समस्त संसार के अनाथ होने की चर्चा करता है। इसे विनम्रता की पराकाष्ठा ही समझना चाहिये।

विनम्रता जहाँ स्नेह के बन्धन को और भी सुदृढ़ करती है वहाँ विरोधी को

१. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा सं० ४२, पृष्ठ २५८, २५९।
२. मानस, बालकाण्ड दोहा सं० २९१, पृष्ठ १९६३।
३. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा सं० २८४, २८५, पृष्ठ ३८२।
४. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा सं० २७६, पृष्ठ ३७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना मत समझाने में भी सहायक होती है। इसीलिए रामदूत हनुमान रावण के समक्ष अपने पक्ष को पूर्ण विनम्रता के साथ उपस्थित करते हैं :

विनती करउं जोरि का शवन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन ॥
देखहु तुम निज कुलहिं विचारी। भ्रम तजि भजहु भगत भयहारी ॥
जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई ॥
तासों बैर कबहु नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै ॥

* * *

ऋषि पुलस्ति कुल विमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका ॥[1]

परन्तु यह विनम्रता निष्फल हो गई, क्योंकि दूसरी ओर उद्धत तथा अन्ध अहंकार था जिसने सारी बात की गम्भीरता को उपहास में उड़ा दिया :

बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ग्यानी ॥[2]

ऐसे शठों के लिए विनम्रता के स्थान पर शक्ति-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है जैसा कि समुद्र बन्धन के प्रसंग में कहा गया है :

विनय न मानत जलधि जड़ गए तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिन होइ न प्रीति ॥
लछिमन बान सरासन आनू। सोखउँ वारिधि विसिख कृसानू।
"काटइ पै कदरी फरै कोटि जतन कोउ सींचि।
विनय न मान खगेस सुनु डाटेहि पै नव नीच ॥"[3]

युद्ध की उत्तेजना में भी राम की विनम्रता उनके समुद्र के समान गम्भीर स्वभाव के अनुरूप ही है। युद्ध-भूमि में जब रावण अपने पराक्रम की प्रशंसा करता हुआ उन्हें आतंकित करने की चेष्टा करता है :

"जीतेहु जे भट संजुग माही। सुनु तापस मैं तिन सम नाहीं ॥
रावण नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बन्दी खाना ॥
आजु करौं खल काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले।"[4]

तो ऐसे उत्तेजनात्मक और अपमानजनक शब्दों का भी राम के पास कितना विनम्र उत्तर है :

"जानि जल्पना करि सुजस नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महं पुरुष त्रिविधि, पाटल, रसाल, पनस सभा ॥
एक सुमन प्रद एक सुमन फल एक फलहि केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहि अपर एक करहिं कहत न बागहीं ॥[5]

शिष्टता के साथ क्षमा माँगते हुए राम ने जो नीतिपूर्ण सिद्धान्त-वाक्य उत्तर में प्रस्तुत किया, उसमें व्यंग्य का समावेश होते हुए भी विनम्रता का अभाव नहीं था। परन्तु अहंकार तो सदैव विनम्रता को भय और दुर्बलता का चिह्न मानता आया

१,२. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा सं० २२, पृष्ठ ४८४, ४८१।
३. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा सं० ५७, ५८, पृष्ठ संवत् ५००।
४,५. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा सं० ६०, पृष्ठ ५६३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसलिए रावण ने इसे राम की भीरुता के रूप में ही ग्रहण किया :

"राम बचन सुनि बिहँसा, मोहि सिखावत ग्यान।
बैर करत नहिं तब डरे अब लागे प्रिय प्रान ॥"[१]

विनम्रता साधन है, और उसका प्रमुख साध्य है गर्व का उत्पादन। तुलसी अभिमान को, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के दोनों पक्षों के विकास के मार्ग का भयंकर शत्रु मानते हैं। व्यक्तिगत साधना के क्रम में वह अवरोध उत्पन्न करता है, निष्क्रियता लाता है तथा पथभ्रष्ट करता है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण 'मानस' का 'नारद-मोह-प्रसंग' है। जहाँ मार-विजय के गर्व से गर्वित ऋषि की इन्द्रिय-जन्य दुर्बलताओं को प्रदर्शित कर साधकों को शिक्षा प्रदान की गई है।

अहंकार का ही एक रूप आत्म-प्रशंसा है। परशुराम की इस दुर्बलता का उपहास करते हुए लक्ष्मण कहते हैं—

"लखन कहा मुनि सुजस तुम्हारा। तुमहि अछत को बरनै पारा ॥
अपने मुख तुम आपन करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी ॥
नहिं सन्तोष तो पुनि कुछ कहहू। जनि रिसि रोकि दुसह दुख सहहू ॥[२]

शक्ति के अहंकार में व्यक्ति दूसरों को तृणवत समझने लगता है। बालि की यही दशा हैं—

"अस कहि चला महा अभिमानी। तृण समान सुग्रीवहिं जानी ॥"[३]

अहंकार का सबसे बड़ा अवगुण यह है कि वह मनुष्य की दृष्टि का अपहरण कर लेता है। एक ओर उसे दूसरे की शक्ति और गुण नहीं दिखाई पड़ते तो दूसरी ओर अपनी दुर्बलताओं पर दृष्टि नहीं जाती। और यदि किसी तीव्र आघात के फल-स्वरूप क्षण भर के लिए दुर्बलताओं की चेतना आती भी है, तो मिथ्या दर्प का आवरण उसे शीघ्रता से ढँक लेता है। और अहंकारी स्वनिर्मित अहं के गढ़ में अपने को सुरक्षित समझता रहता है जिसका कहीं अस्तित्व भी नहीं होता। हनुमान के द्वारा लंका जला दिये जाने के बाद भी अहंग्रस्त रावण अंगद के समक्ष अपने पराक्रम की डींग मारता हुआ कहता है—

सुनु सठ सोइ रावन बल सीला। हर गिरि जान जासु भुज लीला ॥
जान उमापति जासु सुराई। पूजेउँ जेइ सिर सुमन चढ़ाई ॥
भुज बिक्रम जानहिं दिगपाला। सठ अजहूँ जिनके उर साला ॥
जासु चलत डोलत इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी ॥
सोइ रावन जग बिदित प्रतापी। सुनेसि न श्रवन अलीक अलापी ॥[४]

ऐसा व्यक्ति जीवन की वास्तविकता को देखकर भी नहीं देखता। उसे सत्य भी मिथ्या प्रतीत होता है और विपरीत परिस्थितियों को मनोकूल सिद्ध करने के लिए

१. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा सं० ९०, पृष्ठ ५६३।
२. मानस, बालकाण्ड, दो० संख्या २७४, पृष्ठ १८४।
३. मानस, दोहा संख्या ८, पृष्ठ ४५१।
४. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा सं० २५, पृष्ठ ५२१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह अवास्तविक कारणों की कल्पना कर लेता है। इस विपरीत बुद्धि से उसका विनाश काल निकट आने में देर नहीं लगती। रावण की बुद्धिभ्रष्टता का उदाहरण देखिए—

जरत विलोक्यों जबहिं कपाला। विधि के लिखे अंक निज माला॥
करके कर आपन बध बाँची। हसेउँ जानि विधि गिरा असाँची॥
सो मनु समझि त्रास नहिं भोरे। लिखा बिरंचि जरठ मति भोरे॥[1]

जब मन्दोदरी रावण को राम की महान् शक्ति का परिचय देने के लिए उनके विराट रूप का वर्णन करती है तो वह उसे अपनी ही प्रशंसा समझता है—

"रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहिं सुनावा॥
सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥
जानेहुँ प्रिया तोरि चतुराई। यहि बिधि कहेहु मोरि प्रभुताई॥
तव बतकही गूढ़ मृग लोचनि। समुझत सुखद सुनत भय मोचनि॥"
मन्दोदरि मन महं अस ठयऊ। पियहिं काल बस मति भ्रम भयऊ॥[2]

कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि महान् योद्धाओं की मृत्यु के कठोर आघातों से भी यह दुर्दमनीय अहंकार नहीं टूटता और युद्ध को प्रयाण करते हुए रावण कहता है—

"निज भुजबल मैं बैर बढ़ावा। देहौं उतर जो रिपु चढ़ि आवा॥"

जीवन के अन्तिम क्षण तक अहंकार रावण की चेतना पर अधिकार किए रहता है—

"गरजेउ भरत घोर रव भारी। कहाँ राम रण हतउं प्रचारी॥"[3]

सामाजिक व्यवहार को उलझनों, भ्रमों और तज्जन्य अनर्थों से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य जैसा हो, वैसा ही दिखे। परन्तु हृदयगत भाव और अपने वास्तविक व्यक्तित्व को छिपाकर कृत्रिम व्यक्तित्व के प्रदर्शन की चेष्टा प्रायः समाज में होती रहती है। इस आत्मगोपन के द्वारा बहुत से कुत्सित व्यक्तित्व के प्राणी भी कुछ समय के लिए सम्मान के अधिकारी बन जाते हैं। परन्तु यह अल्पकाल के लिए ही उनके लिए सुविधाजनक होता है। तुलसी ने 'वेष-प्रताप' से पूजे जाने वाले इन 'जग वंचकों' के जीवन की अन्तिम परिणति के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

"उघरे अन्त न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावण राहू॥"[4]

राम के चरित्र की एक विशेषता यह है कि वे जो कुछ भी अनुभव करते हैं उसे स्पष्ट रूप से कहने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। यह इसीलिए सम्भव हो सका है कि भावनात्मक दृष्टि से उन्होंने अपने व्यक्तित्व को एक सुसंस्कृत और परिमार्जित स्तर पर प्रतिष्ठित किया है, जिसे आत्मसम्मान की चेतना और आत्मविश्वास का आश्रय मिला हुआ है। तभी तो वह लक्ष्मण से कह सके—

---

१. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या २६, पृष्ठ ५२३।
२. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या १६, पृष्ठ ५१५।
३. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या १०३, पृष्ठ ५१४।
४. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ७, पृष्ठ ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तात जनक तनया यह सोई । धनुष जज्ञ जेहि कारन होई ।।
पूजन गौरि सखी लइ आई । करत प्रकास फिरत फुलवाई ।।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मन छोभा ।।"[1]

इतना ही क्यों उन्होंने गुरु विश्वामित्र के समक्ष भी अपने मनोविकार को स्पष्ट कर दिया—

"राम कहा सब कौसिक पाहीं । सरस सुभाउ छुअत छल नाहीं ।"[2]

यह व्यक्तित्व की एकरूपता अयोध्या, वन और लंका सब कहीं बनी रहती है। इसीलिए तो उन्हें सबका विश्वास प्राप्त हो सका। वे स्वजनों और आत्मीयों का इतना बड़ा घेरा बनाने में समर्थ हो सके कि साधन और सम्पत्ति के अभाव में भी, एक प्रबल शत्रु को नष्ट कर आत्मगौरव की रक्षा करना उनके लिए सुगम हो सका।

सामाजिक कर्तव्यों के उचित निर्वाह के लिए भावनाओं की उत्तेजना पर संयम का अंकुश रखने वाले आत्मानुशासन की आवश्यकता अपरिहार्य है, जिसकी शक्ति से व्यक्ति आवेश का दमन करके, अपने कर्तव्य पर स्थिर रह सके। सीता के कटु वचनों से भावावेश में आकर, लक्ष्मण अपने कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं और उसका कितना भीषण परिणाम होता है ? राम के व्यवहार में यह आत्मानुशासन सर्वत्र लक्षित होता है। सापेक्षिक रूप से शत्रु की तुलना में साधनों का अभाव होने पर भी उससे भयभीत न होना, धैर्य से विचलित न होना इसी अनुशासन से प्रेरित नैतिक साहस का परिणाम है। तभी तो जब रावण को रथी और रघुवीर को विरथ देखकर विभीषण अधीर हो जाते हैं तो राम नैतिक बल में अपनी दृढ़ आस्था प्रकट करते हुए कहते हैं—

"सुनहु सखा कह कृपा निधाना । जेहि जय होइ सो स्यंदन आना ।।
सौरज-धीरज तेहि रथ चाका । सत्य, सील, दृढ़ ध्वजा-पताका ।।
बल-विवेक-क्षय-परहित घोरे । क्षमा-दया-समता-रजु जोरे ।।"[3]

समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्पर्क के परिणामस्वरूप अनुकूल और प्रतिकूल भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ होनी अवश्यम्भावी हैं। अनुकूल प्रतिक्रिया से सामीप्य, साहचर्य और सहयोग की भावना का विकास होता है, जिसका दृढ़ सूत्र आबद्ध हो जाने पर उसे मित्रता का नाम दे दिया जाता है। मानव की वैयक्तिक प्रगति के लिए प्रायः मैत्री से अधिक उपादेय और कोई सामाजिक शक्ति नहीं होती। मित्रता अनेक प्रकार की हो सकती है। 'मानस' में राम और सुग्रीव की जिस मित्रता का वर्णन है उसे विपद्-बन्धुता की कोटि में ही ग्रहण किया जाएगा। वे सहज मित्र न होकर व्यावहारिक मित्र हैं, परन्तु मित्रता के जिस आदर्श की प्रतिष्ठा तुलसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में की है वह कोरी व्यावहारिकता तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु भावनात्मक स्तर की मित्रता के लिए भी उतना ही सत्य है—

---

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २३१, पृष्ठ १६२।
२. मानस, बालकाण्ड, पृष्ठ १६५।
३. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या ८०, पृष्ठ ५५५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्र के दुख रज मेरु समाना ॥
जिनके असि मति सहज न आई । ते सठ हठि कत करत मिताई ॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुण प्रगटहि अवगुनहिं दुरावा ॥
देत लेत मन शंक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई ॥
विपति काल कर सतगुन नेहा । श्रुति कह सत्य मित्र गुन एहा ॥"
आगे कह मृदु वचन बनाई । पाछे अनहित मन कुटिलाई ॥
जाकर चित अहि गति सम भाई । अस कुमित्र परिहरे भलाई ॥[1]

राम, सीता-वियोग से दुखी और क्लान्त होने पर भी, पहले सुग्रीव की विपत्ति निवारण कर उसे राज्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर देते हैं । मित्र के हित के लिए बालि का अनुचित रीति से वध करके, मर्यादा के अपने प्राणोपम प्रिय आदर्श को भी न्योछावर कर देते हैं और उसके द्वारा, अपने कार्य की उपेक्षा होने पर भी, उसके निकट आकर अपनी त्रुटि स्वीकार कर लेने पर, हृदय के क्षोभ को क्षण-भर में ही धो डालते हैं—

"तब रघुपति बोले मुसकाई । तुम प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ॥
अब सोइ जतन करहुँ मन लाई । जेहि विधि सीता के सुधि पाई ॥[2]

मित्रता के लिए कुल, वंश आदि की श्रेष्ठता की शर्तें नहीं हैं । राम कितने अभिमान से, अपने इन सखाओं का परिचय, अयोध्या लौटने पर गुरु वशिष्ठ को देते हैं । राम घोषित करते हैं कि उन्हें अपने ये मित्र भरत से भी कहीं अधिक प्रिय हैं। यह अन्तरंगता भावात्मक मैत्री का ही दृष्टान्त है—

"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भये समर सागर कहुँ बेरे ॥
मन हित लागि जनम इन हारे । भरतहु ते मोहिं अधिक पियारे ॥[3]

तुलसी को यदि मित्रता की इतनी गहरी अनुभूति न होती तो वे 'प्राकृत जन गुन गान' को, सरस्वती के लिए व्यर्थ परिश्रम और पश्चात्ताप का विषय मानते हुए तथा जीवन-भर इस व्रत का पालन करते हुए भी, केवल एक चार गाँव के ठाकुर परन्तु मन के महीप मित्र के लिए तोड़ न डालते ।

तुलसी ऐसे युग में उत्पन्न हुए थे जब यह देश दीर्घकालीन युद्धों की शृंखला के भीषण परिणाम को भोगकर, स्थायी शान्ति का इच्छुक था और यह शान्ति एक सीमा तक मुग़लों के प्रतापी साम्राज्य में उपलब्ध हो गई थी । शान्ति की अवस्था में ही, सामाजिक उन्नति सम्भव है, इसलिए तुलसी शान्ति के प्रबल समर्थक कवि हैं। यद्यपि उनके नायक राम युद्ध करते हैं, परन्तु तभी, जब युद्ध अनिवार्य हो जाता है, शान्ति के समस्त मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं । उत्तेजना में आकर, तुरन्त अविचारपूर्ण युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाना राम को ही नहीं, तुलसी को भी अप्रिय है । ऐसे संघर्ष

१. मानस, किष्किन्धा काण्ड, दोहा संख्या ७, पृष्ठ ४४९-४५० ।
२. मानस, किष्किन्धा काण्ड, दोहा संख्या २८, पृष्ठ ४४६ ।
३. मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा संख्या ८, पृष्ठ ५९८ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का परिणाम घातक हो सकता है, इसीलिए जब निषाद-गण भरत को राम का शत्रु समझकर, युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं तो निषादराज की विवेकबुद्धि जागती है। वह शत्रु-मित्र का उचित निर्णय करके युद्ध करना चाहते हैं। और शुभ परिणाम यह होता है कि युद्ध की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसी प्रकार जब लक्ष्मण चित्रकूट में भरत के आगमन के मन्तव्य को, ठीक से न समझ पाने के कारण, भरत को दण्ड देने के लिए राम से आज्ञा माँगते हैं तो उनके शौर्य की सराहना करते हुए भी राम उन्हें निरुत्साहित करते हैं—

तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा। को कहि सकै को जाननि हारा॥
अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहि वेद बुध ते बुध नाहीं॥[1]

हनुमान के समझाने और शक्ति प्रदर्शित करने पर भी, जब रावण वस्तु-स्थिति को नहीं समझता, तो राम अंगद को दूत बनाकर भेजते हैं। इसका एकमात्र उद्देश्य युद्ध की स्थिति को बचाना है। राम के हृदय में अपने शत्रु के प्रति भी घृणा का भाव नहीं है। अपने कार्य-साधन के साथ-साथ रावण का कल्याण भी उनकी दृष्टि में उतना ही प्रमुख है। अतः वे अंगद से कहते हैं :

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥
काज हमार, तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥[2]

परन्तु इसके मूल में भय या अपने बल में अविश्वास नहीं था। राम का अपनी शक्ति में गहरा आत्मविश्वास उस स्थल पर दृष्टिगत होता है, जब विभीषण के आने पर सुग्रीव आदि उनके गुप्तचर होने की, आशंका प्रकट करते हैं। राम उनसे पूर्ण निर्भीकता से कहते हैं :

भेद लेन पठवा दससीसा। तबहु न कछु भय हानि कपीसा॥
जग महं सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महं तेते॥[3]

अंगद-रावण वार्ता में, अंगद के द्वारा, राम के इसी आत्मविश्वास की पुनरावृत्ति होती है :

दसमुख मैं न बसीठी आयउं। अस विचारि रघुवीर पठायउं॥
बार बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जस बधे शृंगाला॥[4]

शक्ति होते हुए भी घृणा और पाशविकता पर यह संयम, राम के चरित्र के सामाजिक महत्व की वृद्धि करता है, और राष्ट्रों के मध्य समस्याओं को हल करने के लिए शान्ति-पूर्ण वार्ता के महत्व को भी रेखांकित करता है।

समाज में, प्रत्येक व्यक्ति के समान अधिकार की स्वीकृति, और प्रत्येक सामाजिक कार्य में उसके भाग लेने की स्वतन्त्रता के निश्चय से ही जनतांत्रिक परम्पराओं

---

१. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या २३१, पृष्ठ ३५५।
२. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या १७, पृष्ठ ५१६।
३. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा संख्या ४४, पृष्ठ ४९३।
४. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या ३०, पृष्ठ ५२३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विकास होता है। भारत में, अत्यन्त प्राचीन युग से ही, समाज की जनतान्त्रिक प्रणाली का सूत्रपात हो चुका था और साम्राज्यों के उदय और अस्त के मध्य, भारतीय समाज-व्यवस्था, जनमत को उचित सम्मान प्रदान करनेवाली गणतांत्रिक परम्पराओं, को ही आधारशिला बनाकर जीवित रही है। अतः, यदि तुलसी जैसे भारतीय समाज के महान चित्रकार के महाकाव्य में, इन परम्पराओं का उद्घाटन न होता तो यह आश्चर्य की ही बात होती। तुलसी ने, यद्यपि शासकवर्गीय राजाओं और राजकुमारों की कथा लिखी है, फिर भी उनके राम का रूप केवल राज-भवन की प्राचीरों में बन्दी रहनेवाले, एक शासकीय वर्ग के व्यक्ति का जीवन नहीं, एक जननायक की महान् जीवन गाथा है। राम के जीवन की प्रत्येक घटना, जनता के सम्मिलित महोत्सव के सदृश है, जिसमें तुलसी समस्त समाज को सम्मिलित कर लेते हैं। 'मानस' में जो कुछ होता है, उसमें जनता की इच्छा-अनिच्छा तथा सम्मति का निदर्शन, तुलसी ने अपना कर्तव्य समझा है। उदाहरणार्थ राम और सीता का विवाह जनकपुर के निवासियों की अभिलाषा का अटल परिणाम-मात्र प्रदर्शित किया गया है। मिथिला की नारियाँ राम-सौन्दर्य देख अपनी यह अभिलाषा व्यक्त करती हैं।

देखि राम छबि कोई इक कहई। जोग जानहिं यह बरु अहई॥
जो विधि बस अस बनै संजोगू। तौ कृतकृत्य होहिं सब लोगू॥

और जब एक स्त्री अपना यह विश्वास व्यक्त करती है :

जेहि विरंचि रचि सीय सँवारी। तेई स्यामल बर रचेउ विचारी॥

तो उसे सभी का हर्षपूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है :

तासु बचन सुन सब हरसानी। ऐसइ होउ कहहिं मृदु बानी॥[1]

अयोध्या में वशिष्ठ ने, दशरथ की राम को युवराज बनाने की इच्छा पर, भले ही कह दिया हो :

"फल-अनुगामी महिप-मणि, मन अभिलाष तुम्हार।

परन्तु कठोर यथार्थ ने सम्राट् के कमनीय कल्पना-प्रासाद को भूमिसात होते ही दिखाया। राम को, युवराज पद पर अभिषिक्त करने के पूर्व, दशरथ प्रजा के प्रतिनिधियों की सम्मति लेते हैं :

जो पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका।[2]

ऋषि वशिष्ठ के समक्ष राम की योग्यता का उल्लेख करते हुए दशरथ उनकी लोकप्रियता को विशेष महत्व देते हैं :

सेवक, सचिव, सकल पुरबासी। जे हमार अरि मित्र उदासी॥[3]
सबहि राम प्रिय जेहि बिधि मोही।··· ···

शत्रुओं के द्वारा भी उनकी प्रशंसा होती है :

बैरिहु राम बड़ाई करहीं······।[4]

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २२२, २२३, पृष्ठ १५७, १५८।
२. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ५, पृष्ठ ३४०।
३-४. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ३, पृष्ठ २३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरत जनता की इच्छाओं का सम्मान करते हुए राम को वन से लौटाने के लिये जाते हैं। अयोध्या के सभी वर्ग उनके इस निर्णय से हर्षित हैं :

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे।
मातु सचिव गुरु पुर नर नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी ॥[1]

रावण का विनाश जन-कल्याण के लिये है। उसकी पराजय इसीलिए होती है कि वह प्रहस्त, विभीषण तथा माल्यवान जैसे विलक्षण राक्षसों की सम्मति तथा लंका के राक्षस-समुदाय की इच्छा के विरुद्ध, राम से युद्ध करता है। लंका के राक्षस-समाज को रावण के नेतृत्व पर विश्वास नहीं है। वे इस युद्ध से क्षुब्ध हैं :

सब मिलि देहिं रावणहि गारी। राज करत यहि मृत्यु हँकारी ॥[2]

राज्याभिषेक के पश्चात् राम अयोध्या की जनता के स्वतन्त्र मत का सम्मान करते हुए विरोधी सम्मतियों का स्वागत करते हैं। वे घोषणा करते हैं कि अपने विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति में, किसी व्यक्ति को भय नहीं होना चाहिए। अपनी नीति की आलोचना को वे सहिष्णु भाव से सुनने के लिये उद्यत हैं :

जो अनीति कछु भाखौं भाई। तौ मोहिं बरजेहु भय बिसराई ॥[3]

स्वाधीनतापूर्वक एवं अपने मतानुसार कार्य करने का अधिकार भी अयोध्या की जनता को है :

नहिं अनीति, नहिं कुछ प्रभुताई। सुनहु, करहु जो तुमहि सोहाई ॥[4]

अपने राज्याभिषेक के अवसर पर राम ने अन्य भाइयों को छोड़कर, केवल अग्रज को राज्यसिंहासन पर प्रतिष्ठित करने की परम्परा पर, जो असन्तोष और क्षोभ प्रकट किया है उसमें एकतन्त्र-व्यवस्था का विरोध दृष्टिगत होता है :

जनमे एक संग सब भाई। भोजन, सयन, केलि, लरिकाई ॥
कर्णबेधि, उपवीत, बिवाहा। संग-संग सब भये उछाहा ॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बडेहिं अभिषेकू ॥[5]

इस भ्रातृ-भावना का विश्व की समस्त मानवता में विस्तार कर लेने पर इस कथन को सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ओर एक मार्मिक संकेत माना जा सकता है।

समाज की सबसे लघु इकाई परिवार है, और परिवार का निर्माण, 'जीवन-संघर्ष में नारी और पुरुष के साहचर्य के उस संकल्प से होता है, जिससे विवाह की संस्था विकसित हुई है। जीवन के उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिये, यह संस्था दोनों पक्षों से, पारस्परिक विश्वास और दृढ़ निष्ठा की अपेक्षा करती है। स्वेच्छा से और पवित्र भावना से एक व्यक्ति को वरण करने के पश्चात्, कोई भी प्रलोभन सात्विक प्रणयी हृदय को विचलित करने में असमर्थ रहता है। पार्वती सप्तर्षियों के द्वारा परीक्षा लिये जाने पर अपनी अडिग स्नेह भावना का प्रमाण देते हुए कहती हैं :

१. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या १८४, पृष्ठ ३३१।
२. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या ४२, पृष्ठ ५३२।
३-४. मानस, उत्तरकाण्ड, पृष्ठ ६२०।
५. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या १०, पृष्ठ २४२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य कहेउ गिरि भव तन एहा । हठ न छूट छूटै बरु देहा ॥
जो तुम मिलतेउ प्रथम मुनीसा । सुनतिऊँ सिख तुम्हारि धरि सीसा ॥
अब मैं जन्म सम्भु हित हारा । को गुन दूषन करै बिचारा ॥
जनम कोटि लगि रगरि हमारी । बरौं संभु नत रहौं कुँआरी ॥[1]

हृदय का पवित्र आत्मार्पण कोरा व्यापार-मात्र नहीं है, जिसमें हर कदम पर हानि-लाभ का विचार कर, नित्य नये सम्बन्ध स्थापित किये जाएँ ।

मनोनुकूल वर के अभाव में, पुत्री का कुमारी रहना ही श्रेयस्कर है, ऐसा पार्वती की माता मैना का विचार है क्योंकि अयोग्य वर को कन्या सौंपने के पश्चात्, परिणाम दारुण 'दाह' के सिवा, और क्या हो सकता है :

जो घर-वर, कुल होय अनूपा । करिय विवाह सुता अनुरूपा ॥
न तु कन्या बरु रहै कुँआरी । कंत उमा मम प्रान पियारी ॥
अस विचारि पति करेउ विवाहू । जेहि न बहोरि होय उर दाहू ॥[2]

समाज में पुरुष के आधिपत्य और नारी के परवशता पर महाकवि का करुण-स्वर भी मैना के माध्यम से पार्वती-विदा के अवसर पर मुखरित हो उठा है :

कत विधि सृजी नारि जग माहीं । पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ॥[3]

महाकवि के युग में प्रचलित, अनमेल विवाहों पर उनका आक्षेप, अप्रत्यक्ष रूप से, शिव को देखकर किये गये, मैना के इस विलाप में, प्राप्त हैं, क्योंकि उस काल में कितनी ही सुकुमार और सुन्दरता और श्रेष्ठ कन्याएँ बौरहे बरों के गले बाँध दी जाती थीं :

कस कीन्ह वर बौराह जेहि विधि तुम्हहिं सुन्दरता दई ।
जो फल चहिय सुर-तरुहि, सो बरबस बबूरहिं लागई ॥[4]

राम राज्य में समस्त अयोध्या वासियों को एक नारि-व्रत बताकर, और वृद्ध दशरथ की कामुकता, तथा उसके विषम परिणामों को प्रदर्शित कर, तुलसी ने आदर्श वैवाहिक-पद्धति पर, अपना मत व्यक्त किया है । तुलसी की सहृदयता, सीता की वर-निर्वाचन की स्वतन्त्रता को, कठोर शिव-धनुष के साथ आबद्ध होते भी, नहीं सहन कर पाती और वे बार-बार सीता को, इस परिस्थिति पर, क्षुब्ध और शोकाकुल प्रदर्शित करते हैं । वाटिका मिलन में ही सीता का हृदय पराजित हो चुका है। परन्तु पिता के प्रण की स्मृति आते ही, उनकी मनोदशा कुछ और हो जाती है :

नख सिख देखि, राम कै सोभा । सुमिर पिता पनु, मनु अति छोभा ॥
जानि कठिन शिव चाप बिसूरति । चलीं राखि उर स्यामल मूरति ॥[5]

मिथिला का लोकमत भी राम और सीता को सर्वथा एक-दूसरे के योग्य देखकर जनक के प्रण को त्याज्य और जड़तापूर्ण मानता है :

---

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ८१, पृष्ठ ८१ ।
२. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ७१, पृष्ठ ७६ ।
३. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या १०२, पृष्ठ ९४ ।
४. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ९६, पृष्ठ ९० ।
५. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २३४, पृष्ठ १९४ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई । मति हमारि असि देहु सुहाई ॥
बिनु बिचारि, पनु तजि, नरनाहू । सीय राम कर, करै बिबाहू ॥[1]

यहाँ तक कि सीता को भी, यह प्रतिज्ञा दारुण-हठ मात्र, प्रतीत होती है :

नीके निरखि, नयन भरि, सोभा । पितु पन सुमिरि, बहुरि मन छोभा ॥
अहह तात ! दारुण हठ ठानी । समुझत नहिं, कछु लाभ न हानी ॥[2]

वैवाहिक जीवन की सफलता निश्छल व्यवहार पर निर्भर है । हार्दिक निष्कपटता से दो हृदयों का संयोग होने पर, जीवन में गुणगत वृद्धि होना अनिवार्य है । परन्तु अल्प मात्रा का दुराव-छिपाव भी, उनमें पार्थक्य की दीवार बनाकर, सरसता का विनाश करने के लिए पर्याप्त है । जैसा कि शंकर और सती के प्रसंग में हुआ :

जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति की रीति भलि ।
बिलग होइ, रसु जाय, कपट-खटाई परत पुनि ॥[3]

इस आचरण के विपर्यय में, दाम्पत्य-प्रेम की आदर्श भावात्मक-एकता, राम और सीता में दृष्टिगत होती है । राष्ट्र और विश्व की भावात्मक एकता का, महान् लक्ष्य उपलब्ध करने की पहली सीढ़ी, पारिवारिक-भावात्मक-एकता को समझना चाहिए । और इस पारिवारिक एकता का सूत्रपात पति-पत्नी के, पारस्परिक भाव-अवगाहन की सामर्थ्य से होता है । जीवन के दैनंदिन क्रियाकलापों में सहयोग के द्वारा ही इसकी उत्पत्ति होती है । 'मानस' में गंगा-संतरण प्रसंग में सीता राम के हृदय के भावों को तत्काल समझ लेती है :

केवट उतरि दण्डवत कीह्ना । प्रभु सकुचे यहि कुछ नहि दीह्ना ॥
पिय हिय की सिय जाननि हारी । मनि मुँदरी मन मुदित उतारी ॥
कहेउ कृपालु लेहु उतराई । केवट चरन गहे अकुलाई ॥[4]

वियोग एवं विपत्ति की कठिन घड़ियों में भी राम की इस एकता पर निश्चल आस्था विद्यमान रहती है । तभी तो वे अनुमान को यह सन्देश देने में समर्थ होते हैं :

तत्व प्रेम कर, मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥
सो मन, रहत सदा तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं ॥[5]

इसी हृदयैक्य का अवलंब लेकर सीता रावण के प्रलोभन की सहज उपेक्षा कर यह सतेज प्रत्युत्तर देने की शक्ति प्राप्त कर सकी :

स्याम सरोज-दाम सम सुन्दर । प्रभु-भुज, करि-कर सम दस कन्धर ॥
सोइ भुज-कंठ कि, तब असि घोरा । सुनु सठ ! अस प्रमान-पनु मोरा ॥[6]

'मानस' में राम की वन-यात्रा के अवसर पर भारतीय ग्राम-समाज की जिस

---

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २४६, पृष्ठ १७१ ।
२. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २५८, पृष्ठ १७६ ।
३. मानस, बालकाण्ड, सोरठा संख्या ५, पृष्ठ ६६ ।
४. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या १०२, पृष्ठ २८६ ।
५. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा संख्या १५, पृष्ठ ४७७ ।
६. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा संख्या १०, पृष्ठ ४७३, ४७४ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहृदयता का दर्शन होता है, वह पर्यटन-शील गोस्वामीजी की वैयक्तिक अनुभूति जान पड़ती है। रामराज्य की स्थापना करने वाले शासक का भारतीय जनता से घनिष्ठ परिचय था। उसने असभ्य माने जाने वाले, बनचरों और कोल भीलों से भी, रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में, सफलता प्राप्त की थी और उनके विश्वास को जीतकर उन्हें आत्मीयता के क्रोड में आबद्ध किया था। राम-राज्य के नवीन स्वप्न-द्रष्टाओं को यह महत्वपूर्ण तथ्य स्मरण रखना चाहिये।

'मानस' में रामकथा का जो स्वरूप है, जिन प्रसंगों का चयन अथवा परिहार है, उसके पीछे भी कवि की सामाजिक दृष्टि कार्य करती है। तथाकथित, उच्च-नीच के भेदभाव को मिटा देने के उद्देश्य से चित्रित, बशिष्ठ-निषाद-आलिंगन और तपस्या-रत शम्बूक की निर्मम हत्या, दोनों का एक काव्य में, स्थान नहीं हो सकता था। तुलसी की भावुकता सीता निर्वासन का अन्याय सहन करने में असमर्थ है। इसलिये अयोध्या के राजभवन में ही लवकुश का जन्म होता है। राजरानी सीता के लिये 'निज कर गृह परिचर्या करई' लिखकर तुलसी ने श्रम की महत्ता का प्रतिपादन किया है, और राम परिवार को परपिण्डोपजीवी, समाज के लिये भारत स्वरूप, बिलासी वर्ग से पृथक कर दिया है।

'मानस' में ब्राह्मणों को विशेष महत्व प्रदान करने के पीछे, तुलसी को यह चिन्ता थी कि भारतीय विद्या एवं उसके विशेषज्ञों की उपेक्षा और अवमानना से, कहीं जनता उस अक्षय कोष के लाभ से वंचित न हो जाय क्योंकि जहाँ कबीर जैसे कुछ सुने, और सुनकर गुने हुए साधकों ने जीवन के सारभूत तत्वों का अनुसंधान किया था और इसलिये उनके द्वारा पठन-पाठन से प्राप्त ज्ञान को बौद्धिक व्यायाम कहकर किया गया तिरस्कार, एक सीमा तक सहा था, वहाँ उनके कितने ही अनुकर्ता विद्या के सच्चे साधकों का तिरस्कार करते हुए अज्ञान का प्रसार कर रहे थे और दीर्घकालीन साधना तथा पीढ़ियों के सतत प्रयत्न से अर्जित, ज्ञान-भण्डार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। ऐसों का विरोध आवश्यक था। यह अवश्य मान लेना पड़ेगा कि इस उद्देश्यपूर्ति में उन्होंने कुछ असंगत और अनुचित बातें भी कह डालीं।

नारियों के सम्बन्ध में तुलसी के दृष्टिकोण को लेकर हिन्दी के समीक्षकों में पर्याप्त विवाद हुआ है। उस सारे पचड़े से अपने को प्रथक रखकर लेखक केवल इतना ही कहना चाहेगा कि उस युग में समाज में नारियों का स्थान बहुत उच्च नहीं था। कितना ही महान् कवि क्यों न हो, युग की धारणाओं का उस पर प्रभाव पड़ता ही है। आध्यात्मिक साधक होने के कारण भी तुलसी मध्ययुगीन विश्वासों के अनुरूप, नारी और परिवार को, साधना में बाधक ही समझते थे। वैसे यह सत्य है कि किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक अथवा लौकिक जीवन व्यापी विशाल संकल्प की पूर्ति के मार्ग में पारिवारिक जीवन के कर्तव्य एक सीमा तक बाधक अवश्य बनते हैं। अतः कलाकार तुलसी की दृष्टि में एक विचित्र अन्तर्विरोध है। उनकी जीवन-स्पर्शिनी प्रतिभा नारी के चरित्र को पूर्णतः भव्य और उदात्त रूप में प्रस्तुत करती है। तारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मन्दोदरी जैसी एकनिष्ठ पतिव्रता पत्नियों के परामर्श की उपेक्षा करने के कारण ही बाली और रावण अधोगति को प्राप्त होते हैं। यह प्रदर्शित करने में तुलसी का मार्मिक संकेत यही है कि जहाँ पुरुष वर्ग पतन की ओर उन्मुख होता है, सारा वातावरण घृणा और हिंसा से विषाक्त हो उठता है, वहाँ भी नारी की पवित्र चेतना निर्धूम और निष्कम्प दीपशिखा के सदृश, अशिवता के अन्धकार को नष्ट करने का सतत प्रयत्न करती रहती हैं। मानस के राक्षस नारी-पात्रों की चर्चा करते हुए, त्रिजटा को भूल जाना असंगत होगा क्योंकि—

यदि सुग्रीव राम के विपद्बन्धु हैं तो त्रिजटा सीता की विपद् संगिनी माँ :

मातु बिपति-संगिनि तैं मोरी।"[1]

उसकी ममता के अंचल की छाया का आश्रय पाकर ही सीता आत्महत्या जैसे जघन्य पाप से विरत होती हैं। उसकी सान्त्वना और आश्वासनों का अवलम्ब लेकर ही नैराश्य और वेदना के समुद्र को पार कर सीता-राम-मिलन सम्भव होता है। राक्षस नारियों के चरित्र को भी जिसने इस उदात्त रूप में अंकित किया है उस महाकवि को नारी द्वेषी बतलाना सत्य का विपर्यय मात्र है।

'मानस', युग की वाणी होने के साथ-साथ, युग-युग की वाणी है। सामाजिक प्रगति और विकास के प्रत्येक मोड़ पर, वह हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए, नवीन दिशा-संकेत प्रदान करता है। निकट भविष्य में, वह न केवल भारतवासियों के लिए, एवं समस्त विश्व के लिए भी, इस दृष्टि से उपादेय सिद्ध होगा, ऐसा लेखक का विश्वास है।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

१. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा संख्या १२, पृष्ठ ४७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत-प्रश्न

गोपालकृष्ण कौल

विश्वविद्यालय और समकालीन साहित्य

(१)

विश्वविद्यालयों में समकालीन साहित्यके अध्ययन और अध्यापनके प्रति प्रायः उतना उत्साह नहीं दिखाई देता है जितना अतीत के साहित्य के प्रति। कुछ वातावरण ऐसा बन गया है कि साहित्य की जो प्रवृत्तियाँ समकालीन हैं या जिन रचनाओं में शिल्प और वस्तु की दृष्टि से नवीनता के प्रति अधिक आग्रह है उनकी ओर उदासीन भाव से देखा जाता है और ज्यों-ज्यों वे काल का जूठन बनकर बासी होने लगती है त्यों-त्यों उनको अध्ययन और अध्यापन की महत्त्वपूर्ण सामग्री समझा जाने लगता है। इस अतीतोन्मुख दृष्टि ने प्राचीन साहित्य के अध्ययन और अनुसन्धान कार्य को अवसर अधिक उदारता से दिए हैं लेकिन एक निश्चित सीमा तक ही, क्योंकि इस क्षेत्र में भी विषयों और प्रतिपादन की प्रक्रिया की पुनरावृत्तियों ने अप्रिय रूढ़ियाँ क़ायम कर दी हैं। जो शोध-ग्रन्थ निकलते हैं उनको आलोचना की उपलब्धि समझने का भ्रम पैदा किया जाता है, जिससे न तो वे शोध-कार्यों की दृष्टि से पूरा महत्त्व पाते हैं और न आलोचना में नई दिशा ही प्रदान कर पाते हैं। ऐसे ग्रन्थों की एक सुनिश्चित उपयोगिता बन जाती है। वह है, छात्रोपयोगिता। लेकिन पाठचक्रम से बँधी छात्रोपयोगिता के लिए कुन्जी और शोधग्रन्थ समान महत्त्व रखते हैं। साहित्य के विद्यार्थी की दृष्टि इतनी उपयोगितावादी बन गई है कि परीक्षा में सफलता के लक्ष्य से आगे उसने प्रायः देखना ही बन्द कर दिया है। इस दृष्टिरोध को जहाँ कुछ शिक्षक और विद्यार्थी अनुभव करते लगे हैं वहाँ अनेक इस ओर ध्यान भी नहीं देते, बल्कि वे इसको विद्यार्थियों पर अपनी अध्यापकीय विद्वत्ता का प्रभाव समझकर गौरव अनुभव करते हैं।

दूसरी ओर साहित्य के शिक्षकों के विशेषतः हिन्दी साहित्य के, अजीब-अजीब कम्पलेक्स हैं जो उनकी धारणाओं में व्यक्त होते रहते हैं। अधिकांश शिक्षक अपने को रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉक्टर नगेन्द्र और डॉक्टर रामकुमार वर्मा जैसे विद्वानों की परम्परा में केवल हमपेशा होने के नाते आलोचक या साहित्यकार मानने या मनवाने लगते हैं और अपने मतों को साहित्य का महान् सिद्धान्त प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। विद्यार्थी भी उनके आदर्श वाक्यों के सहारे अपनी परीक्षा की नैया पार लगाने के प्रयत्न में रहता है। सब मिलाकर ऐसा वातावरण बन गया है कि उसमें समकालीन सजगता के प्रति विरक्ति का साम्राज्य दिखाई देता है।

अधिकांश समकालीन सजग लेखक विश्वविद्यालयों के इस विरक्तिपूर्ण दक़ियानूसी वातावरण से विक्षुब्ध हैं। कम से कम सन्तुष्ट तो कोई भी नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव लेखन के एक अग्रगण्य लेखक ने एक बार विक्षोभ-भरे स्वर में कहा, 'मैं नहीं चाहता, मेरी रचनाएँ विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जायँ, वे पढ़ी जायँ यही बहुत है।''

लेकिन विश्वविद्यालय में पढ़ाने का रिवाज़ ज़्यादा है, पढ़ने का कम। साहित्य के विद्यार्थी, इसीलिए प्रायः समकालीन रुचि के प्रबुद्ध पाठक नहीं बन पाते हैं। पढ़ाने की प्रक्रिया में, पुराने लक्षणों और उदाहरणों को लगभग एक ही ढंग से, न जाने कितने वर्षों से दुहराया जा रहा है। शास्त्रीय दृष्टि का अर्थ ही पुराने लक्षणों की व्याख्या और उनको घटित करना मात्र रह गया है। इस स्थिति में नाटक की जो दुर्दशा हुई है वह उल्लेखनीय है। एक-दो अपवादों को छोड़कर प्रायः नाटक को नाटक की तरह नहीं पढ़ाया जाता है। नाटक पढ़ाने के लिए रंगमंचीय ज्ञान को ज़रूरी नहीं समझा जाता है। ऐसे नाटक भी पाठचक्रम में सजा दिए जाते हैं, जो किसी भी दृष्टि से श्रेष्ठ नाटक नहीं कहे जा सकते हैं। नाटकों को पाठचक्रम में लगाने की कसौटी रंगमंच को नहीं स्वीकार किया गया है। गद्य के एक शैली-भेद के रूप में ही नाटक को पढ़कर स्वीकार किया जाता है और प्रायः कहानी और उपन्यास के ढंग पर पढ़ा दिया जाता है। इस सम्बन्ध में सूची-ज्ञान को ज्यादा महत्त्व दिया गया है। कभी-कभी विचित्र घटनाएँ घटती हैं। हिन्दी में नाटकों के पहले शोध-ग्रन्थ में उदयशंकर भट्ट लिखित नाटकों में 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का नाम गिनाया गया। इस शोधग्रन्थ के लगभग १० साल बाद नाटकों पर दूसरा शोधग्रन्थ प्रकाशित हुआ, उसमें भी भट्ट जी के लिखे हुए 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का उल्लेख था। फिर कुछ साल बाद नागरी प्रचारणी सभा की ओर से 'हिन्दी का उच्चतर साहित्य' के नाम से लेखकों की पुस्तक-सूची प्रकाशित हुई, उसमें भट्टजी की पुस्तकों में प्रकाशक के साथ 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का उल्लेख था। लेकिन उदयशंकर भट्ट का कहना है कि उन्होंने यह नाटक कभी लिखा ही नहीं है। समकालीन साहित्य के प्रति उदासीनता का ही यह एक परिचायक है।

इसी प्रकार कविता और कहानी के क्षेत्र में जो कुछ नया लिखा जा रहा है उसके प्रति भी समकालीन रुचि को जाग्रत करने की दिशा में उदासीनता का भाव है। बिना समकालीन रुचि के अतीतोन्मुखी दृष्टि-रोध के जाले को साफ नहीं किया जा सकता। विश्वविद्यालय के साहित्य-विभाग में स्वतन्त्र चिन्तन और नवीनतम ज्ञान को पाने की जो सम्भावनाएँ हैं, उनके द्वारा बन्द नहीं करनी चाहिए। विद्वत्ता का अर्थ, मात्र अतीत का संचित ज्ञान उहीं है। विद्वान् वह है जो त्रिकालदर्शी है। यदि साहित्य-विभागों से समकालीन साहित्यकारों को सम्पर्क में रखा जाय तो इस वातावरण में बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। विश्वविद्यालय के गुरुओं और साहित्यकारों के बीच एक खाई बन गई है, उसे कोई न पाट सके, लेकिन साहित्य के विद्यार्थी समकालीन रुचि के माध्यम से एक सेतु अवश्य बना सकते हैं। साहित्य के श्रेष्ठ व्यक्तित्वों का लाभ साहित्य के विद्यार्थियों को मिलना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रमुख साहित्यकार और भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति रामधारीसिंह 'दिनकर' का यह कथन महत्त्वपूर्ण है।

''यह समझाने के लिए बहुत ज्यादा अक्ल की जरूरत नहीं है कि अगर सर्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठ लोग इसी तरह यूनिवर्सिटियों से विमुख होते गए तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब यूनिवर्सिटियाँ सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति तैयार करने में असमर्थ हो जायें। यूनिवर्सिटियाँ अगर पिछड़ गईं तो योजना कमीशन के बावजूद सारा देश पिछड़कर रह जायगा।"

इसी तरह समकालीन साहित्य में जो श्रेष्ठ है, यदि उसके प्रति उदासीनता बरती जाती है, समकालीन साहित्य के रचनाकारों को यदि विश्वविद्यालय की परिधि से दूर रखा जाता है और यदि समकालीन मानव-मूल्यों एवं कला-मूल्यों के सन्दर्भ में साहित्य की परख को अतीतोन्मुखी शास्त्रीयता की बलिवेदी पर भेंट चढ़ा दिया जाता है, तो देश का सांस्कृतिक जीवन भी पिछड़ जायेगा।

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

(२)

साहित्य अध्यापन का नहीं, अध्यापन साहित्य का अनुगामी होता है। किसी भी देश अथवा काल के साहित्यकार ने अपने साहित्य का सर्जन यह सोचकर नहीं किया कि उसका अध्यापन विद्यालयों या विश्वविद्यालयों में हो। किन्तु अध्यापन साहित्यानुगामिता-निरपेक्ष होकर नहीं चल सकता। अध्यापन का लक्ष्य ही यह है कि वह नित-नूतन ज्ञान से अध्येता को परिचित करावे और उसके ज्ञान के विकास में सहायक हो। साहित्य का अध्यापन विज्ञान के अध्यापन से एक माने में भिन्न है। विज्ञान नितान्त नवीन शोध की तुलना में विगत शोध का त्याग करता चलता है, जबकि साहित्य परम्परानुशीलन का विश्वासी होकर प्राचीन को भी उतना ही महत्त्व देता है जितना नवीन को, बल्कि प्रायः नवीन की तुलना में प्राचीन को ही अध्यापन के हेतु अधिक मान मिलता है। पुराने और नये को एक साथ समेट लेने की इच्छा का परिणाम यह होता है कि साहित्य की परिणामात्मक वृद्धि के अनुकूल अध्यापन की परिधियाँ विकसित नहीं हो पातीं। इसका परिणाम नये साहित्य को ही भोगना पड़ता है। पुराने साहित्य के चूँकि मूल्य प्रायः निर्धारित हो चुके होते हैं, रचयिताओं के प्रति कुछ सुनिश्चित धारणाएँ व्यक्त की जा चुकी होती हैं और काल-प्रवाह उनकी स्थायिता की परीक्षा ले चुका होता है, अतएव अध्यापन के लिए उसका ग्रहण सुगमता से हो जाता है। सुनिश्चित मूल्यों और संस्कारों के अभाव में नया साहित्य विस्तृत और गहन अध्ययन का विषय नहीं बन पाता। यह एक विवशता है और इसे इसी सीमा तक ग्रहण भी करना चाहिए। विश्वविद्यालयों को इसके लिए विशेष प्रताड़ित और लांछित करने की आवश्यकता नहीं है।

समकालीन साहित्य के रचयिताओं की ओर से विश्वविद्यालयों के प्रति जिस प्रकार का क्षुब्धता और आक्रोशपूर्ण वातावरण पिछले दिनों तैयार हुआ है उसके पीछे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत कुछ तो इस स्थिति को न समझने की भूल है और बहुत कुछ यश और अर्थ प्राप्त करने की तृष्णा भी है। विश्वविद्यालयों, विद्यालयों और अध्ययनार्थियों की बढ़ती संख्या ने आज के लेखक के मन में यह विश्वास—बहुत कुछ सही रूप में ही—भर दिया है कि यदि स्थायी यश अर्जन करना है तो उसकी रचनाओं को पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए। जो पुस्तक या जो लेखक पाठ्यक्रम में स्थान पा लेता है, विद्यार्थी उसे विशिष्ट समझता है और आलोचक भी उसी का गुणानुवाद—गुणानुवाद इसलिए कि सही बात कहने वाला निडर आलोचक हिन्दी में तो नहीं दीखता—करता है। यश के साथ ही उसे अर्थलाभ भी होता है और दूसरे लेखक एक प्रकार से अर्थ-लाभ में ही नहीं, यशःलाभ में भी पिछड़ जाते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि विश्वविद्यालयीय स्तर पर दोनों लाभों से वंचित रहकर भी सच्चा लेखक सामाजिक स्तर पर कम-से-कम यशःलाभ से तो वंचित नहीं रहता। विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में उपेक्षित रहकर भी अनेक लेखक स्थायी यश प्राप्त करते हैं। विश्वविद्यालयों का काम अध्ययन की दिशाओं का निर्देश करना है अथवा भावी चिन्तन के लिए ज़मीन तैयार करना उनका लक्ष्य है, और किसी को विशेष यश का भागी बनाना नहीं। समस्त प्राचीन और समकालीन साहित्य का एक-सा और एक साथ अध्ययन संसार के किसी विद्यालय में सम्भव नहीं है, अतः विश्वविद्यालय दिशा-निर्देश के लिए केवल उन नामों को स्वीकार कर लेता है जो अधिक उभरे हुए होते हैं। सही मानों में कहना चाहिए, जिन्हें समाज पहले ही स्वीकार कर चुका होता है। ऐसे लेखकों को पाठ्यक्रम में स्थान देकर विश्वविद्यालय उनकी चर्चा के माध्यम से तत्समान समस्त लेखन की चर्चा को अपना लक्ष्य बनाता है। अतएव यह कहना ग़लत है कि पाठ्यक्रम में स्थान पा लेने वाले लेखकों को ही यशार्जन का लाभ मिलता है, अर्थार्जन के विषय में यह बात सही हो सकती है।

लेकिन विश्वविद्यालयों में समकालीन साहित्य की यह चर्चा यहाँ इसलिए नहीं उठाई गई है कि यश और अर्थ-लाभ के प्रति ही आज के लेखक को शिकायत है और यदि उसे पाठ्यक्रम में स्थान मिल जाएगा तो उसे आत्मतोष प्राप्त हो जाएगा। इस चर्चा का मूल कारण शायद यह है कि विश्वविद्यालयों में समकालीन साहित्य की पढ़ाई के तरीके से ही आज का लेखक क्षुब्ध है। विश्वविद्यालयों में आचार्य-पदाधिष्ठित विद्वानों की ओर से समकालीन साहित्य के सम्बन्ध में जो आलोचनाएँ और वक्तव्य सामने आते रहते हैं, उनसे या तो उनकी उपेक्षावृत्ति की सूचना मिलती है या संहार प्रवृत्ति की। प्रायः ऐसा जान पड़ता है कि इन विद्वानों में प्राचीन का मोह अधिक है, नवीन के साथ चलने और उसे समझने की सजगता कम। समकालीन लेखकों का इस स्थिति से विचलित होना स्वाभाविक है। साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करने और सही दिशा में पाठक को ले चलने का उत्तरदायित्व जिन लोगों पर है, यदि वे अक्षम हैं या अपने कर्तव्य के प्रति सचेत नहीं है, तो साहित्य के उपकार की उनसे आशा नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में उपकार ही नहीं नये साहित्य के अपकार का भी भय बना रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविकता यह है कि विश्वविद्यालयों में प्राध्यापकों के प्रायः चार स्तर हैं—(१) वे जो केवल आजीविका के लिए इस पेशे में आ गए हैं और अपनी आरम्भ की प्रतिष्ठा की कमाई खा रहे हैं। (२) वे जो अध्ययनरत तो हैं, किन्तु प्राचीन साहित्य को ही महत्त्व देते और उसी का अध्ययन करते हैं। (३) वे जो पाठ्यक्रम देखकर विद्यार्थी-साहित्य का सर्जन करते हैं और नये-पुराने को या तो एक-से नियमों से आँकते हैं या दूसरे लेखकों के वचनों के संग्राहक हैं तथा (४) वे जो नये का सम्मान और अध्ययन भी करते हैं और उसका सर्जन भी। निश्चय ही इनमें अधिक संख्या पहली तीन श्रेणियों के प्राध्यापकों की है। चौथी श्रेणी के प्राध्यापक आयु, संस्था और अधिकार-सीमा तीनों बातों के कारण पाठ्यक्रम में समकालीन साहित्य को स्थान दिलाने में सहायक नहीं हो पाते और पाठ्यक्रम में समकालीन साहित्य का यथेष्ट स्थान न होने से उसके अध्यापन का अपेक्षित अवसर प्राप्त न करने के कारण वे अपने विचारों के प्रकाशन के लिए पत्र-पत्रिकाओं को ही अपना माध्यम बनाते हैं। दूसरे, विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक-चुनाव और अध्यापनार्थ पाठ्यक्रम-विभाजन का ढंग कुछ ऐसा है कि समकालीन साहित्य के प्रति क्या प्राचीन साहित्य के प्रति भी कुछ न्याय नहीं हो पाता। कई विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान के विशेषज्ञ भाषाविज्ञान न पढ़ाकर आधुनिक काव्य का अध्यापन करते हैं, कई प्राध्यापक नाटकों पर शोध करके तुलसीदास का विशेष अध्ययन कराते और उसी में अपना गौरव मानते हैं। स्पष्ट है कि परिणाम अच्छा नहीं होता। यह सब क्यों होता है? इसलिए कि नियुक्ति के समय आवश्यकता का नहीं व्यक्ति का ध्यान रखा जाता है। अध्यापन के पेशे को लोगों ने ऐसे पवित्र पेशे के रूप में देखना बन्द कर दिया है जिसमें अध्यापक के पूर्ण मनोयोग की आवश्यकता हो, बल्कि वह केवल तकनीकी पेशा रह गया है। अतः जिस विषय के अध्यापक की आवश्यकता है उसकी नियुक्ति अब नहीं होती और उसका कुपरिणाम भोगना पड़ता है अध्ययन-रत पीढ़ी को। ऐसा नहीं है कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में समकालीन साहित्य की नितान्त उपेक्षा होती हो, सही बात यह है कि उनके अध्यापन की उचित व्यवस्था नहीं होती। काम का बँटवारा ही इस उपेक्षा के लिए उत्तरदायी है। अध्यापन की सुचारुता केवल दीर्घ-अध्यापनानुभव पर निर्भर नहीं हैं, अध्यापक की विषय के प्रति रुचि और उसके चिन्तन-विकास पर भी निर्भर है। दीर्घ-अध्यापन बात कहने, समझाने और कभी-कभी बहका देने के ढंगों में तो अध्यापक को प्रवीण कर देता है, नवीन चिन्तन को आवश्यक रूप से दिशा नहीं देता। दीर्घ-अध्यापन रुचि और चिन्तन के अभाव में पुराना पड़ जाता है और पुरानापन पिछड़ने का ही द्योतक है। साहित्य का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिसमें नवीन चिन्तन आवश्यक हो। भाषा-विज्ञान से लेकर कविता और गद्य-विधाओं तक इतनी नई बातें, इतने नये-सिद्धान्त और इतनी नई रूप-विधाएँ हमारे यहाँ आ चुकी हैं कि किसी भी क्षेत्र में आज से दस वर्ष पूर्व तक का ही ज्ञान रखने वाला प्राध्यापक साहित्य के साथ उचित न्याय नहीं कर सकता। चिन्तन को आगे बढ़ाना है तो समकालीन साहित्य को पढ़ना और पढ़ाना होगा और इस समकालीन साहित्य में केवल हिन्दी साहित्य ही नहीं, उसे प्रभावित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाले साहित्य को भी अपने अध्ययन-अध्यापन का विषय बनाना होगा। लेकिन नये और पुराने के बीच जो एक अन्तर बोध के स्तर पर आ गया दीखता है और ज्ञान तथा साहित्य की शाखाओं में जो इधर मुद्रण की सुविधा के कारण विस्तार आ गया है, उसके कारण प्रायः यह सम्भव नहीं रह जाता कि हर व्यक्ति हर शाखा के पूर्ण ज्ञान से पण्डित बन चुका हो या बन सकेगा। साहित्य जितना ही अधिक लिखा जा रहा है और जितने क्षेत्रों से प्रभावित हो रहा है उन्हें देखते हुए यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं होना चाहिए कि गहराई के लिए अब सीमित ज्ञान अनपेक्षित नहीं, अपेक्षित है। सामान्यतः अन्य शाखाओं का परिचय हो यह सही है, किन्तु अध्यापन की यह विवशता है कि सामान्यतया नहीं विशिष्टता ही वहाँ गरिमामयी होती है। यह स्थिति स्वीकार कर लें तो यह मानने में भी कोई आपत्ति कदाचित् ही रह जाए कि जो पुराने पड़ गए हैं, उन्हें केवल पुराने साहित्य के अध्यापन तक का ही दायित्व सौंपा जाए और नये के लिए नये प्राध्यापकों को आगे बढ़ने दिया जाए। समकालीन साहित्य के पक्षधरों की ओर से की जाने वाली आपत्ति में मुझे कुछ सार इसलिए नहीं दिखाई देता कि पुराने अपने संस्कारों और पुरानेपन से जितने विवश हैं, नये भी नयेपन के सन्दर्भ में उससे कम दोषी नहीं हैं। प्रायः नये लोग प्राचीन साहित्य के ज्ञान के प्रति उपेक्षावृत्ति वाले और यदाकदा उससे शून्य देखे जाते हैं, पुराने किसी ग्रन्थ का प्रमाण उनके बीच सदैव उपहास्य बना रहता है और अंग्रेजी उद्धरणों की कतरनें और वहाँ पढ़ी हुई बातों की हिन्दी उपस्थित करने में ही उनका गौरव माना जाता है। प्राचीन और नवीन के बीच यदि इतना गहरा अन्तर आ गया है तो दोनों के अध्ययन के लिए अलग-अलग ढंग के प्राध्यापकों की नियुक्ति और उनके काम का बँटवारा करने में हर्ज ही क्या है?

समकालीन साहित्य के लिए यद्यपि पाठ्यक्रम में अब भी व्यवस्था रहती है, इतिहास के सन्दर्भ और उसकी सीमा में समकालीन साहित्य की विधाएँ भी आती हैं, प्रसाद की रचनाएँ, रामकुमार वर्मा के नाटक, इलाचन्द्र, वृन्दावनलाल, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास और ललित निबन्ध आदि छपते-छपते विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान पा गए थे और अब भी नई कुछ रचनाओं को स्थान मिलता ही चलता है, किन्तु कविता-साहित्य की अवहेलना-सी हो गई लगती है। प्रगतिवाद से नई कविता तक की रचनाएँ अपठित ही रह गई हैं, उपन्यासों में भी 'शेखर : एक जीवनी' से लेकर आगे का साहित्य उपेक्षित-सा ही दीखता है। यही कारण है कि आज विश्वविद्यालयों के समकालीन साहित्य के अध्यापन का प्रश्न एक समस्या के रूप में उपस्थित हुआ है। यह सब होते हुए भी यह देखने में आता है कि विश्वविद्यालयों से शोध-प्रबन्ध और एम० ए० कक्षा के लिए लिखित अधिनिबन्धों में अधिकांश का विषय आधुनिक काल और नया साहित्य होता है। हिन्दी में जितने शोध के विषय विभिन्न विश्वविद्यालयों से स्वीकृत हुए हैं उनके सामने प्राचीन साहित्य से सम्बन्धित विषयों की संख्या नगण्य न कही जा सकती हो तो बहुत उत्साहवर्धक भी नहीं है। नई कविता तक के सम्बन्ध में कई विश्वविद्यालयों से प्रबन्ध और अधिनिबन्ध सामने आ चुके हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आने वाले हैं। निश्चय ही विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक नये साहित्य के प्रति अचेत नहीं हैं, समस्या केवल उनके सोचने के ढंग से उपस्थित हुई है और इसलिए भी उपस्थित हुई है कि विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों ने प्रायः सूर, तुलसी, जायसी, रहीम, रसखान आदि पर बँधी प्रणाली पर आलोचनाओं को अधिक प्रस्तुत किया है, नये ढंग से सोचने का उपक्रम कम ही किया है। आलोचना के जो मूल्य उन्होंने पुराने साहित्य के लिए अपनाये थे, नये साहित्य के सम्बन्ध में भी उन्हीं का प्रयोग कर रहे हैं। मेरी समझ से यदि समकालीन साहित्य के लिए एम० ए० के स्तर पर एक प्रश्न-पत्र ही अलग हो और उससे निचले स्तर तक साहित्य का इतिहास पढ़ाते समय समकालीन सृजनात्मक साहित्य की अपेक्षित विस्तार के साथ चर्चा की जाए और गद्य-संकलनों में अनिवार्यतः नये साहित्य के सम्बन्ध में दो-एक अच्छे लेख संगृहीत हों तो समकालीन साहित्य के साथ न्याय किया जा सकता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि हमारे पाठ्यक्रमों में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को एकत्र रखकर देखें तो पता चलेगा कि पाठ्यक्रम-समितियों के सदस्यों ने पाठ्यक्रम निर्धारण के समय न तो इस बात का ध्यान रखा है कि आयु-भेद से प्रत्येक कक्षा में पढ़ाये जाने के लिए एक ही या भिन्न-भिन्न कवियों और लेखकों के कौन-से पद और लेखादि हो सकते हैं, न उन्हें यही देख लेने की आवश्यकता का कभी अनुभव होता है कि एक स्तर पर जिन रसालंकारादि का ज्ञान उन्होंने विद्यार्थी को करा दिया है, दूसरे ऊँचे स्तर पर उनकी आवश्यकता नहीं, उनसे भिन्न की आवश्यकता है। संग्रह किन्हीं पदों का किया जाता है, प्रश्न किन्हीं और पदों से सम्बन्धित आते हैं। प्रश्नों के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी स्थिति है कि एक सेट टाइप के प्रश्न ही परीक्षा में आते हैं। किन्तु ये अवान्तर बातें हैं। जब आज से कई वर्ष पूर्व भारतीय हिन्दी परिषद् जैसी शुद्ध प्राध्यापक संस्था की ओर से दिल्ली विश्वविद्यालय में बुलाई गई पाठ्यक्रम-विचार-गोष्ठी के निर्णय ही आज तक प्रकाशित नहीं हो सके और न उसके अनुरूप ही किसी विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम ढला तो आमूल-चूल परिवर्तन की बात तो निरर्थक छेड़खानी ही है, यदि समकालीन साहित्य का प्राध्यापकों का उचित बँटवारा और उसके अध्ययन के लिए पृथक् व्यवस्था ही हो जाए तो भी अलम् समझिए।

डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय

(३)

मैं यह मानकर चलता हूँ कि साहित्य में आधुनिक और समकालीन के बीच के अन्तर को यहाँ ध्यान में रखा जाएगा क्योंकि मेरा लक्ष्य यहाँ उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में आधुनिक साहित्य के समावेश और उसके अध्ययन की समस्याओं पर विचार करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, केवल अत्यंत अदूरगत काल में प्रणीत साहित्य को समाविष्ट करने की सम्भावना पर विचार करना है। मैं समझता हूँ कि एकाधिक कारणों से इस प्रश्न पर विचार करना न केवल प्रासंगिक बल्कि अनिवार्य रूप से आवश्यक भी हो गया है। एक तो यह कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही साहित्य में निरूपित विषय के रूप में जीवन इतना प्रमुख हो गया है—विशेषतः साहित्यकार को दूसरे महायुद्ध के पश्चात् उसके चतुर्दिक की जीवनपद्धति ने इतने प्रबल रूप से प्रभावित किया है कि जीवन और साहित्य के इस नवीन सम्बन्ध का जायज़ा न लेने से स्वयं साहित्य का अपने जीवित परिवेश से उच्छिन्न हो जाने का खतरा है। दूसरे, शिक्षण की उच्चतम संस्था होने के नाते नव-लेखन के प्रति विश्वविद्यालय का दृष्टिकोण भावी साहित्य-सर्जना को बहुत कुछ अनुशासित और प्रभावित कर सकता है। खेद है कि समकालीन साहित्य के लिये प्राध्यापकवर्ग में सहज उदासीनता का भाव होने के कारण अभी यह वांछित स्थिति नहीं उत्पन्न हो सकी है, लेकिन ऐसी आशा की जा सकती है कि, भले ही परिस्थितियों के दबाव से, स्थिति में सुधार होगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की कदाचित सबसे चमत्कारी विशेषता उसके विकास की त्वरा है। पिछली अर्धशताब्दी में अत्यन्त सीमित काल विस्तार में हिन्दी ने अत्यंत क्षिप्र गति से विकसित होते हुए साहित्यिक गरिमा प्राप्त की है और उसकी उपलब्धियाँ भी केवल परिमाणात्मक ही नहीं गुणात्मक भी रही हैं। किसी भी भाषा साहित्य के इतिहास में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलेगा। आखिर रहस्य क्या था कि खड़ी बोली कविता के जन्म के केवल पैंतीस वर्ष के भीतर 'कामायनी'-जैसी रचना प्रस्तुत हो सकी ? कि आधुनिक हिन्दी कहानी के जन्म के पन्द्रहवें-सोलहवें वर्ष में ही 'उसने कहा था' और 'पंचपरमेश्वर' जैसी कहानियाँ लिखी गयीं ? स्मरण रहे कि इनमें से कोई एक रचना अपवाद रूप से श्रेष्ठ कृति नहीं है—हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल जैसे एक सम्पूर्ण युग की प्रतिभा का प्रस्फुटन काल है ! और पिछले तीन-चार दशकों की समग्र रचनाओं का नाम गिनाना भी कठिन कार्य है—यह किस प्रकार सम्भव हुआ ? कदाचित इसका सबसे प्रमुख कारण भावों की संवाहिका एक नयी भाषा के रूप में खड़ी बोली का उदय था जिसकी अन्तर्निहित जीवंतता ने युग-प्रतिभा को अभिव्यक्ति का सहज साधन प्रदान किया।

यदि आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास को हम आधुनिक युग की एक चमत्कारी घटना मानते हैं तो इसी के साथ इस युग की कदाचित सबसे बड़ी विडम्बना भी जुड़ी थी कि समकालीन साहित्य और साहित्यकार का जैसा विरोध हुआ और उसकी जितनी उपेक्षा इस काल में की गई, विश्वविद्यालय तथा उसके मान्य प्राध्यापकों द्वारा एवं अन्य उच्च शिक्षा संस्थाओं द्वारा उसका जैसा प्रबल बहिष्कार किया गया वैसा भी किसी दूसरे देश के इतिहास में या अपने देश में भी पहले कभी नहीं हुआ था। हिन्दी में विशेषकर समकालीन साहित्य के विरोध की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। सन् २०-३० के बीच काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और फिर प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की स्थापना हुई और यही काल हिन्दी में छायावाद के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्थान और प्रसार का युग था। यहाँ छायावाद के विरोध का इतिहास दुहराने की आवश्यकता नहीं है, केवल इतना स्मरण दिलाना ही पर्याप्त होगा कि छायावाद की नवीन परम्परामुक्त कविता-शैली का सबसे कड़ा विरोध विश्वविद्यालय के परम्परावादी प्राध्यापकों द्वारा ही किया गया था। इस प्रसंग में आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल का नाम सहज ही ध्यान में आ जाता है। किसी ने कहा था कि शुक्लजी से "नया लेखक डरता है, पुराना घबराता है और पण्डित सिर हिलाता है"—ऐसे शुक्लजी के आरोपों का खण्डन करने का साहस एक निराला को छोड़कर किसी दूसरे छायावादी कवि में नहीं था। निराला ने अपनी स्वाभाविक निर्भीकता के साथ जो उत्तर "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यापक छात्र-संसदि-लब्धकीर्ति पं० रामचन्द्र शुक्ल" को 'समालोचक' के भाग ३ संख्या ६ में दिया है वह छायावादी सिद्धान्तों की एक सुन्दर व्याख्या होने के अतिरिक्त आलोचना साहित्य की एक अनमोल निधि है। ध्यान रहे कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापक ही आज से नहीं बहुत पहिले से पाठचपुस्तकों के रचयिता और संकलन कर्ता होते आये हैं और इन्हीं के हाथों विभिन्न पाठ्यक्रमों का निर्धारण होता था। अत: इनका विरोध ऐसा नहीं था जिसे सहज ही झेला जा सके। इसके बावजूद भी छायावादी कवि मैदान में डटे रहे, उनकी कविता काल को झेल सकी, यह उसकी जीवंतता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

समकालीन साहित्यकार और उसका साहित्य उच्च शिक्षा संस्थाओं द्वारा ही नहीं समाज के द्वारा भी उपेक्षा पाता रहा है। जब प्रेमचन्द की अर्थी बनारस की गलियों से होकर गुज़र रही थी तो किनारे खड़ी भीड़ में से किसी ने अपने साथी से पूछा "कहो कौन मर गया ?" उसके साथी ने उत्तर दिया "लगता है कोई स्कूल-मास्टर मर गया है।"—वह प्रेमचन्द जिन्होंने कुछ नहीं तो कई सौ चटपटी कहानियाँ और मज़ेदार उपन्यास लिखे थे और जिनके जीवन का अधिकांश उसी नगर में व्यतीत हुआ था ! और प्रेमचन्द, लोग बताते हैं, काफ़ी मिलनसार किस्म के व्यक्ति थे। प्रसाद दूसरे उदाहरण हैं, जिनका अन्तिम समय भी दुखमय व्यतीत हुआ। निराला तीसरे उदाहरण हैं, किंचित अधिक सौभाग्यशाली क्योंकि निराला मरने के पहले ही एक मिथ बन गये थे—नहीं तो उनका जीवन कहीं अधिक उपेक्षा को झेल कर समाप्त होता !

आज कालक्षेप के कारण परिस्थितियों में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है आज प्राचीन और नवीन के बीच का अंतराल पहले जितना दीर्घ नहीं रहा लेकिन समकालीन साहित्य और लेखक के प्रति शिक्षा में ज़िम्मेदार लोगों का दृष्टिकोण बिलकुल भी नहीं बदला है, आज भी उनके प्रति पहले जैसी ही ठण्डी उदासीनता बरती जा रही है। आज से तीस वर्ष पहले उच्च कक्षाओं के पाठचक्रम से छायावादी कविता को विरोधपूर्वक अलग रखा जाता था वैसे ही आज भी समकालीन साहित्य को रखा जा रहा है—अब समकालीन साहित्य के प्रति विरोध का भाव नहीं, केवल उपेक्षा या उदासीनता का भाव है। मैं किसी एक शैली या सम्प्रदाय को पाठ्यक्रम के द्वारा मान्यता दिलाने की हिमायत नहीं करता। मेरा आग्रह पाठचक्रम को युग के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समवर्ती और उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के लिए है। जब हम मानते हैं कि साहित्य एक व्यक्ति की सृष्टि होते हुए भी उस व्यक्ति के अतिरिक्त पूरे युग की समष्टि को भी चित्रित करता है, जब हम कहते हैं कि एक रचनाकार की कृतियाँ अपने समकालीन युग की चेतना का भी वहन करती हैं तो सिद्धान्ततः हम यह स्वीकार करने को प्रेरित होते हैं कि शिक्षार्थी को अपनी समकालीन चेतना को तत्कालीन साहित्य में देखने-पहचानने के लिए प्रेरित और शिक्षित करना उच्च शिक्षा का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। यदि यह नहीं माना जाता कि उच्च शिक्षा का उद्देश्य बहुसंख्या में विद्यार्थियों को समकालीन चेतना से पीछे खींचे रखना है तो यह भी स्वीकार किया जाना चाहिये कि उन्हें अपने समकालीन लोकमानस को समझने का अधिकार है और इसके लिये साहित्य के अधुनातम से उनका परिचय होना आवश्यक है।

इस सारे विभ्रम का कारण पाठचक्रम के उद्देश्य को लेकर हमारे मन की भ्रांतियाँ हैं। मेरे विचार से उच्च या प्रारम्भिक किसी भी स्तर पर पाठचक्रम का उद्देश्य विद्यार्थी को पाठचक्रम की शिक्षा के द्वारा उस विषय का निष्णात विद्वान बनाना नहीं है—ऐसा होना सम्भव भी नहीं। पाठ्यक्रम का निर्धारण सदा इस दृष्टि से किया जाना चाहिये कि उसके द्वारा विषय से विद्यार्थी का परिचय यथासम्भव अधिक-से-अधिक विस्तीर्ण हो, विद्यार्थी की रुचि उस विषय में पैदा हो और सबसे अधिक कि वह उसके विवेक और प्रतिभा के विकास में सहायक हो। वस्तुतः उच्च शिक्षा का सबसे प्रमुख उद्देश्य यही है। कहना न होगा कि इस उद्देश्य की किंचित भी पूर्ति विश्वविद्यालयों में हिन्दी के पाठ्यक्रमों द्वारा सम्भव नहीं है। इनका अधिकतर अंश समसामयिक समस्याओं से असम्बद्ध होने के कारण नीरस और अरुचिकर है। कदाचित यह अपने-आपमें एक पृथक घटना न होकर हमारे आज के जीवन में व्याप्त जड़िमा का एक उपलक्षण मात्र है। जैसे काफी देर तक चलते रहने के बाद चलने की पृथक चेतना का तिरोभाव हो जाता है उसी प्रकार आज हमारे जीवन के अधिकतर क्रियाकलाप सड़क पर किनारे-किनारे चलने से लेकर पाँच-पाँच वर्ष पर आने वाले आम चुनाव और चीनी आक्रमण तक होने की हमारी चेतना से परे यों ही होते जा रहे हैं—उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम उसी प्रकार चल रहे हैं। वस्तुस्थिति यह है कि देश के स्वाधीन हो जाने के बाद इन सत्रह वर्षों के बाद भी हमारी शिक्षानीति लगभग बिलकुल वही है—जैसे हमारी शिक्षा का उद्देश्य एक बिगड़ा हुआ रिकार्ड है जो गीत का एक ही बेतुका शब्द लगातार रटे जा रहा है।

आज भी विभिन्न कक्षाओं के हिन्दी पाठचक्रम का अधिकांश भाग सूर और तुलसी—या छः अथवा आठ अथवा बारह कवि-नामों द्वारा समावृत है, जैसे आज से तीस वर्ष पहले था। सूर और तुलसी आज भी उच्च कक्षाओं में विशेष अध्ययन के जमे-जमाए आज़माए हुए विषय हैं। इस प्रकार आज भी अधिकतर कक्षाओं के पाठचक्रम की अधुनातम सीमा वही है जो आज से तीस वर्ष पहले थी—सेफ लिमिट अभी भी भारतेन्दु युग तक ही मान्य है—जैसे तीस वर्ष पहले मान्य थी। यह नहीं कि इनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोझ उतारकर इनसे पीछा छुड़ाया जाना चाहिए लेकिन सूर और तुलसी को छोड़ देने पर हिन्दी के पास रह क्या जाएगा, यह सोचकर दूबरे होने की भी आवश्यकता नहीं। विचारणीय यह है कि इन पिछले तीस वर्षों में क्या देश और विशेषतः हिन्दी के जीवन में कुछ भी घटित नहीं हुआ ? आर्थिक संकट और दूसरा महायुद्ध और शीतयुद्ध और स्वाधीनता दिवस और पंचवर्षीय योजनाएँ और चीनी आक्रमण ? वास्तव में पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार करने की माँग के पीछे प्राचीन का विरोध करने की भावना नहीं है। आज जब समग्र राष्ट्र के लिए जाग्रत हो सधे हुए दृढ़ कदमों में आगे बढ़ने का अवसर या विवशता आ गई है, जब जन-जीवन का प्रत्येक अंग छिपी हुई आभ्यन्तरिक शक्तियों के अणु-अणु को संजोकर उसे एक व्यापक अनुशासन में ढाल रहा है, जब हिन्दी के सामने प्रसार की अमित सम्भावनाएँ हैं और उस पर भीतर-बाहर से आक्रमण हो रहे हैं, युग के अनुरूप शिक्षा को संगठित करने के हेतु पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार करना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

इस सबका दुष्परिणाम भी सहज ही देखने में आता है। जड़ और नीरस पाठ्यक्रम का पहला शिकार विद्यार्थी होता है, जिसे तमस से ज्योति की ओर ले आने के लिए पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाता है। एक विद्यार्थी अपनी पाठ्य-पुस्तक में 'उसने कहा था' शायद पहली बार आठवीं कक्षा में पढ़ता है और यह कहानी उसे छः वर्ष तक प्रायः लगातार एम० ए० कक्षा तक पढ़नी होती है। 'मेरी भव बाधा' निचली कक्षाओं से लेकर निस्सन्देह एम० ए० तक उसकी भव बाधा होती है। परिणामतः अधिकतर विद्यार्थियों के चेहरों पर एक करुणाजनक उदासीनता दिखाई देती है, जो कालान्तर में उनकी विचारणा का एक अनिवार्य अंग बन जाती है। विचारणीय है कि जब फ़िल्म का अधिक-से-अधिक लोकप्रिय गीत भी बीस या पन्द्रह बार लगातार दुहराये जाने पर श्रोता के लिए अपना आकर्षण खो देता है तो फिर एक जैसे नीरस पाठों का पाठ्यक्रम विद्यार्थी और अध्यापक के लिए कैसे रुचिकर हो सकता है ! फलतः ऊँघती हुई कक्षाएँ और उसे अपनी चीखती हुई आवाज़ से मानो जगाने की चेष्टा करते हुए अध्यापक—यह दृश्य अक्सर दिखाई दे जाता है।

अध्यापक भी इस नीरस पाठ्यक्रम का वेचारा कम शिकार नहीं होता। प्रतिवर्ष बेंचों पर बैठे चेहरे बदल-बदल जाते हैं लेकिन पुस्तक और उसके पाठ वही-के-वही रहते हैं। इसलिए किसी छोटी कक्षा के अध्यापक के मन में कक्षा के किसी शैतान विद्यार्थी के प्रति भी शायद वह कुढ़न न होगी जो उसकी पाठ्य-पुस्तक के लिए होती है। हाँ, विश्वविद्यालय का अध्यापक—या प्राध्यापक की स्थिति बहुत भिन्न है। यह एक बहुत ही ऊँचा और इसी कारण सुरक्षित पद है। इस उच्चासनासीन व्यक्ति की ओर नीचे का कोई चर-प्राणी आँख उठाकर देखने का साहस नहीं कर सकता ! सचमुच यदि आज के युग में कोई हाथी दाँत की मीनार की अखण्ड शान्ति में रहता है तो वही। उसे नया कुछ पढ़ना नहीं है। पढ़ने की आवश्यकता नहीं। बल्कि पढ़ा हुआ ही उसे भूलना है, क्योंकि न केवल यह कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं बल्कि यह भी कि अनुभव ने उसे सिखाया है कि नया ज्ञान और नई दृष्टि पाठ्य-पुस्तक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यार्थी के बीच एक अवरोध उत्पन्न करती है। यदि उसने एक बार खून-पसीना कर डाक्टरेट प्राप्त कर विश्वविद्यालयों में मान्य टीचर्स ट्रेनिंग सर्टिफ़िकेट ले लिया तो फिर पढ़ने मात्र से जीवन-भर का छुटकारा मिल गया है ! यह विडम्बना कदाचित ही किसी दूसरे देश में दिखाई देगी और अपने देश में भी दूसरे विषयों में उतनी नहीं जितनी हिन्दी में आज दिखाई देती है। भौतिकी और रसायनशास्त्र आदि विषयों के अध्यापक प्रयोगों और नई-नई खोजों में निरन्तर जुटे रहते हैं ? क्योंकि उन्हें समय से पिछड़ जाने का भय रहता है। सुना है कि भारत के ही किसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापकों की अगली वेतनवृद्धि उनके अनुसन्धान कार्य के आधार पर की जाती है। यह नियम सभी उच्च शिक्षा संस्थाओं के लिए सभी दृष्टियों से अनुकरणीय है। लेकिन अभी तो हिन्दी प्राध्यापकों के सौभाग्य से हिन्दी के क्षेत्रीय विस्तार और प्रसार का काल है—सन्देह है कि इसी में हिन्दी का भी सौभाग्य सन्निहित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अध्ययन के प्रति भारतीय विश्वविद्यालयों में प्राध्यापकों की उदासीनता जड़ और नीरस पाठ्यक्रम के कारण भी है—कम-से-कम पाठ्यक्रम ऐसा है कि वह उन्हें नया पढ़ने के लिए बाध्य तो नहीं करता।

समय से पिछड़े हुए पाठ्यक्रम के कुप्रभाव से स्वयं साहित्य की भावी प्रगति भी अछूती नहीं रह सकती। भले ही अब तक, विकास की प्रारम्भिक स्थिति में होने के कारण, रचनात्मक साहित्य के निर्माण पर शिक्षा-संस्थाओं की प्रेरणा और उसका अंकुश न रहा हो, किन्तु भविष्य में स्थिति इससे भिन्न होगी। यह नहीं कि उच्च-शिक्षा-संस्थाओं द्वारा समकालीन रचनाकारों पर कोई सीधा अनुशासन ऊपर से आरोपित करना सम्भव है, किन्तु प्रत्येक सजग और समृद्ध साहित्य में आलोचकों और साहित्य समालोचन की एक ऐसी जीवन्त परम्परा होती है जो सामयिक साहित्यकारों के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करती है। हिन्दी में ऐसी परम्परा का आज तक अभाव रहा है, किन्तु हिन्दी के सर्वाङ्गीण विकास के लिए ऐसी परम्परा का निर्माण अवश्य होना है और यह निस्सन्देह माना जा सकता है कि विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा की स्थिति इसमें निर्णायक योगदान कर सकती है।

हमें इस जड़िमा से उच्च-शिक्षा को मुक्त कराने का उपाय भी सोचना है—मुख्यतः हिन्दी पर जो आक्रमण हो रहे हैं और हिन्दी को जो गौरवपूर्ण स्थान अपनी क्षमता के बल पर प्राप्त करना है उसे दृष्टि में रखते हुए हिन्दी की उच्च-शिक्षा के आयोजन पर विशेष ध्यान देना है।

दुर्भाग्य का विषय है कि आज पाठ्यक्रम शिक्षा-सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यावसायिकता से अधिक प्रभावित और संचालित होता है। विडम्बना तो यह है कि अध्यापक जो इस व्यावसायिकता की आसुरी माया से मुक्ति दिला सकता था, स्वयं उसी आसुरी माया के हाथों का खिलौना बन बैठा है। पुस्तक व्यवसाय का सम्पूर्ण रूप से राष्ट्रीयकरण करके भी इस संकट को दूर नहीं किया जा सकता। वैसे ही जैसे आज के अन्य दूसरे संकटों को हल नहीं किया जा सकता। वह निदान दूसरा है। पर उसके लिए अर्धशताब्दी के इतिहास पर पुनर्विचार करना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बलवंत गार्गी

ब्रेख़्त का थियेटर

आज से दस साल पहले ब्रेख़्त के थियेटर को भारत में कोई नहीं जानता था। इंग्लैंड में भी इसकी कोई चर्चा नहीं थी। प्रसिद्ध अंग्रेज़ अभिनेता सर जान गिलगुड ने ब्रेख़्त का एक लेख पढ़कर कहा था : "यह लेख अस्पष्ट है, बकवास है और नीरस है।"

आज ब्रेख़्त, उसका महानाट्य और 'निस्संगता' का सिद्धान्त नाटक-जगत के अनिवार्य शब्द हैं। लोग लन्दन से, पेरिस से, न्यूयार्क और टोकियो से ब्रेख़्त के थियेटर को देखने के लिए पूर्वी बर्लिन के उस भाग में आते हैं जिसके इर्द-गिर्द अब दीवार खिंच गई है। हिटलर के नृशंस राज्य के अन्त पर, पन्द्रह वर्ष देश-निकाले के बाद ब्रेख़्त बर्लिन लौटा और उसने अपने पुराने अभिनेता-साथियों को इकट्ठा करके १९४९ में 'बर्लिनर एन्सामबल' स्थापित किया। यह 'एन्सामबल' अब नाटक-प्रेमियों के लिए तीर्थ-स्थान बन गया है।

ब्रेख़्त का यह नया थियेटर उन्नीसवीं सदी की एक छोटी-सी पुरानी इमारत में है—गन्दले चीकट दरिया के किनारे। शाम के समय जब नाटक होता है, इस बिल्डिंग के बुर्ज पर एक गोल चक्कर घूमता है जिसमें 'बर्लिनर एन्सामबल' शब्द जड़े हुए हैं। यहाँ ब्रेख़्त ने सात वर्ष (१९५६ में उसका देहान्त हो गया) तक अपने नाटकों का निर्देशन किया। पूर्वी नाट्य-परम्पराओं का उस पर गहरा प्रभाव था। अपने नाटकों में उसने गीत, मूक-अभिनय, शैलीबद्ध-सम्वाद, और मुखोटों का प्रयोग किया और पश्चिम के घोर यथार्थवाद में इन शैलियों को रचा कर अपना 'महानाट्य' प्रस्तुत किया।

ब्रेख़्त के नाटक में ऐसी क्या चीज है जो इन्हें प्रभावशाली बनाती है? उसके शब्दों में ऐसी क्या बात है जो दर्शकों के दिल में उतर जाती है? उसके सम्वाद सहज हैं लेकिन उनमें जीवन का विरोधाभास है। वह लोकोक्तियों और प्रचलित मुहावरों का प्रयोग करता है लेकिन विपरीत अर्थ में—जैसे कोई उलटी कमीज़ पहन ले। उदाहरण के लिए : 'आस्था से आदमी पहाड़ हिला सकता है' के बजाय ब्रेख़्त कहता है : 'शंका से आदमी पहाड़ हिला सकता है।' 'सौभाग्यशाली है वह जो वीरों को जन्म देता है,' के बजाय वह कहता है : 'दुर्भाग्य उस देश का जिसको वीरों की आवश्यकता है।'

ब्रेख़्त के कथनानुसार लोग साधारण दिनचर्या में घटनाओं के इतने अभ्यस्त हैं कि वे उन्हें देखते हैं, पर नहीं देखते। दफ्तर जाता हुआ क्लर्क हर रोज़ गिरजाघर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पास से गुजरता है पर उसे देखता नहीं। लेकिन अचानक एक दिन गिरजाघर टेढ़ा हो जाए तो वह क्लर्क चौंककर रुक जाएगा और सोचने लगेगा। ब्रेख्त प्रचलित मूल्यों को झटके से तोड़ देता है। वह समस्याओं का निराकरण पेश नहीं करता। उसके मंच पर धीरोदात्त नायक नहीं होते। वह नायक की कमजोरियाँ और ग़लतियाँ दिखाकर दर्शक को विवश करता है कि वह पात्र को देखे-परखे और उस पर अपना निर्णय दे।

१९२७ नवम्बर के अपने एक लेख में वह कहता है : 'महानाट्य की विशेषता यह है कि यह दर्शक के भाव को इतना आन्दोलित नहीं करता है जितना उसकी बुद्धि को।'

महानाट्य का रूप प्रचलित नाट्य-रूप से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें नाटकीयता की बजाय वर्णनात्मक गुण होता है। यह मध्यकाल के कथाकारों और किस्सा सुनने वालों की कला से मेल खाता है। किसी शूरवीर की प्रशस्ति का बखान करते हुए कथाकार उसके जीवन की बहुत-सी घटनाओं को सामने लाता है। इनमें से हर एक घटना अपने-आपमें पूर्ण होते हुए भी एक कड़ी में बंधी होती है। चार्ली-चैपलिन की फिल्में, स्पेन के उपन्यासकार सरवान्ते के 'डान क्विजोट और पं० रतननाथ सरशार के फ़सानाए-आज़ाद में इसी प्रकार का वर्णनात्मक गुण है।

प्रचलित नाट्यरूप एक घटना को साकार करता है, महानाट्य उसका वर्णन करता है। पहला रूप दर्शक को नाटक के कार्य में उलझा लेता है, भावनाओं को उत्पन्न करता है, और जीवन को महसूस करने में सहायता देता है। इसके विपरीत महानाट्य दर्शक को तटस्थ दृष्टि देता है, तर्क से तीखी बौद्धिकता प्रदान करता है और उसे निर्णय करने पर मजबूर करता है। एक में मनुष्य की क्रियाशीलता को सुला दिया जाता है दूसरे में इस शक्ति को जगाया जाता है। पहले में उसकी भावनाएँ परखी जाती हैं, दूसरे में उसके उद्देश्य।

प्रचलित नाट्य रूप में घटनाएँ एक दिशा में बढ़ती हैं, एक दृश्य से दूसरा दृश्य उभरता है, एक कार्य से दूसरा कार्य फूटता है और नाटक चरम शिखर की ओर बढ़ता है। ब्रेख्त के महानाट्य में घटनाएँ वक्र गति से बढ़ती हैं, हर दृश्य अपने-आप में चित्र के समान पूर्ण होता है और प्रभाव बहुत से छोटे-छोटे दृश्य-खंडों से उत्पन्न किया जाता है।

दर्शकों की प्रतिक्रियाएँ भी दोनों रूपों में भिन्न-भिन्न हैं :

प्रचलित नाट्यरूप का दर्शक कहता है : 'अरे मैंने भी बिल्कुल इस पात्र की तरह महसूस किया था। यह तो मेरे ही मन का भाव था। बिल्कुल स्वाभाविक। यह भावनाएँ सदा ऐसी ही रहेंगी। इस पात्र का दुख मुझे झिंझोड़ता है क्योंकि इससे बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं। यह महान कला है क्योंकि हर चीज़ वहाँ स्वयंसिद्ध है। जो पात्र रो रहे हैं मैं उनके साथ रोता हूँ और जो हँस रहे हैं उनके साथ हँसता हूँ।'

महानाट्य का दर्शक कहता है : 'अरे मैंने ऐसा नहीं सोचा था। यह तो मेरे मन में कभी आया ही नहीं। बिल्कुल अजीब। ये भावनाएँ बदली जा सकती हैं। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पात्र का दुख मुझे झिझोड़ता है क्योंकि इससे बाहर निकलने का भी शायद कोई रास्ता हो। यह महान कला है क्योंकि इसमें कोई चीज़ स्वयंसिद्ध नहीं। जो पात्र रो रहे हैं मुझे उन पर हंसी आती है; जो हँस रहे हैं मुझे उन पर रोना आता है।'

ब्रेख्त के पात्र कठोर हैं, ताम्बे के कलसे की तरह जिसमें दगचे पड़े हुए हों। उनमें जीवन की असंगतियाँ हैं। उसके प्रसिद्ध नाटक 'दिलेर माँ' की पृष्ठभूमि यूरोप का तीस वर्षीय युद्ध है। इसकी नायिका माँ में प्यार, कमीनगी, व्यभिचारिता, कड़वाहट, ज़िद और खुदगरज़ी है। वह अपने छकड़े में बैठी है जिसमें उसके दो बेटे जुते हुए हैं और उसकी गूँगी नेक बेटी मुँह का बाजा बजा रही है। माँ युद्ध का गीत गाती हुई युद्ध-स्थल में चीज़ें बेचती फिरती है—शराब, चमड़े की पेटियाँ, बारूद-सिक्का, और चोरी की चीज़ें। जब उसका एक बेटा पकड़ा जाता है तो एक वेश्या उसे छुड़वाने के लिए दल्लाला का काम करती है। माँ जो कौड़ी-कौड़ी दाँतों से पकड़ती है फौजी अफसर से उसी दल्लाला के ज़रिए कई बार भावताव करती है। वह अपने बेटे को बचाने के लिए जिसे वह बहुत चाहती है, दो सौ सिक्के देने में हिचकिचाती है। अन्त में वह कीमत घटाकर रकम देने को मान जाती है तब तक उसका बेटा गोली से उड़ा दिया गया होता है।

ब्रेख्त जीवन की उन स्थितियों को प्रस्तुत करता है और उन ऐतिहासिक कारणों को ढूँढ़ता है जिनमें मनुष्य को बदलते हुए और नए रूप ग्रहण करते हुए दिखा सके। वह दर्शक के मन में ऐसे प्रश्न खड़े कर देता है जिनसे वह सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने पर विवश हो जाए। माँ अपने दोनों बेटों की मौत और अपनी बेटी को गोली लग जाने पर युद्ध के भयानक वातावरण में घिरी हुई पशु के समान हाँफती हुई अकेली छकड़े को खेंचती है। अब भी उसमें इस घिनौनी जंग में अपना टूटा-फूटा माल बेचकर पैसा कमाने का लालच है।

'काकेशिया का न्याय-चक्र' की घटनाएँ मध्य-युगीन काकेशिया की है। शहर के गवर्नर की बीबी क्रांति हो जाने पर अपने नन्हें बच्चे को छोड़कर भाग जाती है। उसकी दासी ग्रूसा जो एक स्वस्थ नवयुवती है, बच्चे को बचाकर ले जाती है। शाही महल के जासूस सिपाही उसे जगह-जगह ढूँढ़ते हैं और वह अपना सिर छुपाती, मुसीबतों की मारी बच्चे को लिए-लिए फिरती है। उसमें ममता जाग पड़ती है। वह अपना सब-कुछ क़ुर्बान कर बच्चे को पालती है। परिस्थितियाँ बदलती हैं, विद्रोही-शासन उलट जाता है और भागी हुई गवर्नर की बीवी फिर आकर राज्य सम्हाल लेती है। उसके जासूस ग्रूसा को पकड़ लाते हैं। मुकदमा अजहक की अदालत में पेश किया जाता है जो लोभी, लम्पट, शराबी, रिश्वतखोर फिलासफर है लेकिन सही फैसला देता है। बच्चा किसका है? कौन उसकी सही माँ है? वह जिसने उसे जन्म दिया या वह जिसने उसे पाला?' अजहक का फैसला ग़रीब नौकरानी ग्रूसा के हक में जाता है। वही उसकी असली माँ है—नन्हें बच्चे को जन्म देकर छोड़ जानेवाली माँ असली माँ नहीं। इस घटना के पीछे यह दार्शनिक समस्या भी उभरकर आती है: खेत किसका है?—वह जो इसका मालिक है या वह किसान जो हल चलाकर फ़सल उगाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रेख्त की यह धारणा है कि दर्शक नाटक के कार्य में लीन होकर अपने-आपको भूल न जाए। वह बार-बार दर्शकों को इस बात की चेतावनी देता रहता है कि वे नाट्य-गृह में बैठे नाटक देख रहे हैं। दर्शक को सचेत रहना चाहिए। इसीलिए ब्रेख्त ने अपने दर्शकों को १६२८-३० में नाट्यगृह में सिगरेट पीने की छूट दे रखी थी क्योंकि उसका खयाल था कि सिगरेट पीने से दिमाग चैतन्य रहता है। यूरोप के किसी थियेटर में सिगरेट पीने की इजाजत नहीं है।' इस सचेत अवस्था को बनाए रखने के लिए वह कथाकार, गीत, स्वगत-कथन और ऐसे पदों का प्रयोग करता है जिन पर आने वाले दृश्यों की सूचना और घटनाओं के सारांश दिए जाते हैं।

जब ब्रेख्त नवयुवक था उसने अपना बहुत-सा समय बाज़ारी गवैयों, मसखरों, बाजीगरों, सरकस के जोकरों, शराबियों और टकियाइयों के साथ गुज़ारा। वह चंडू-खानों, घटिया शराबघरों और धींगामुश्ती के अखाड़ों में अक्सर जाता था। इससे उसके लेखन में निचले तबक़े और दुतकारे हुए संसार की गन्ध आ गई। वह महान संगीत-कार वेग्नर का विरोधी था। वह खेलों, तमाशों, नाचघरों, घटिया बाज़ारी गानों, जाज़ संगीत और भूली-बिसरी धुनों का शैदाई था। वह संगीत की सहज स्वच्छ उज्ज्वलता और शक्ति के आकर्षण से परिचित था। वह इस बात में विश्वास रखता था कि संगीत और धुन की रूपरेखा स्पष्ट हो। वह ऐसे संगीत को बर्दाश्त नहीं करता था, जो उसकी कविता या शब्दों को धुँधला दे। उसके कथनानुसार "संगीत, धुन और शैलीबद्ध अभिनय को चाहिए कि वे शब्दों के अर्थ को उभार कर पेश करें।" उसका तेज़ बदलता हुआ छन्द-संगीत, चुभती हुई झंकारें, आपस में टकराती हुई सुरें और तीखे झकोले उसकी संगीत-शैली में संघर्ष का भाव भर देते हैं। इसमें तपी हुई आत्मा, मेहनत से चिचौड़े हुए अंग, जीवन की विभीषिका और घिनौनी विडम्बना नज़र आती है।

वह कथाकार और गीत का प्रयोग करता है, जो जापान के शास्त्रीय नाटक 'काबुकी' और भारत के लोकनाटकों की रूढ़ियों से प्रभावित है। कथाकार गाता है और आनेवाली घटनाओं की ओर संकेत करता है। मंच पर हो रहे कार्य की टीका करता है। रामलीला में गाई जानेवाली तुलसीदास की चौपाइयों की तरह पिछले दृश्य के अधूरे कार्य को अगले दृश्य से जोड़ता है। कई बार पात्र भावावेश में अपने मन की बात नहीं कह पाते। कथाकार गाकर उनके मन की बात बताता है। कहीं-कहीं जहाँ पात्र को गाना होता है, उसकी जगह कथाकार गाता है। इन सतर्क युक्तियों से अन्य आयामों को उद्घाटित करता है।

मैं ब्रेख्त के थियेटर में तीन महीने रहा और उसे अपने नाटकों का निर्देशन करते देखा। वह मंच पर दृश्यों को चित्रों की भाँति सजाता था। अन्तर्योजना, संयोजना और रंग-रेखाओं की संरचना में उसकी दृष्टि बहुत सूक्ष्म थी। वह संगीतात्मक और चित्रात्मक दृश्यों से अपने नाटकों को अधिक प्रभावशाली बनाता था। केसपर नेहर ने ब्रेख्त के नाटकों में दृश्यों और पात्रों के कल्पनामय चित्र बनाए और मिस्टर वाईल और देस्सु आईसलर ने भावप्रधान धुनें दीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रेख्त तार्किक बौद्धिकता का हामी था और इनकी अन्तिम विजय का प्रतिपादक। वह समझता था कि वाद-विवाद और तार्किकता मनुष्य के उत्तम मनोरंजन के साधन हैं। उसका नाटक इस प्रकार के मनोरंजन का पक्षपाती था। उसने मुझसे एक बार कहा, "यदि ज्ञान-प्राप्ति रंजन नहीं करता तो नाट्य-गृह सामाजिक चेतना को जगाने का स्थान नहीं रहेगा। हम यहाँ उस नैतिकता के पक्ष में नहीं बोल रहे हैं जिन पर अत्याचार हुआ है।"

ब्रेख्त रूढ़िगत यथार्थ का भ्रम पैदा नहीं करता। वह यथार्थ के भ्रम को भंग करता है और ऐसा नाटकीय-भ्रम पैदा करता है जो अधिक गहन, विस्तृत और आकर्षक है। जब अजहक का अभिनय करने वाला पात्र मंच पर आता है, इससे पहले वह कथाकार का अभिनय कर रहा था। वह दर्शकों को सम्बोधित करके कहता है, "अब मैं अजहक का अभिनय करूँगा।"—और जज का चोगा पहन लेता है।

एक और नाटक 'हर आर्थर आई' हिटलर के राज्यसत्ता पर अधिकार जमाने का रूपक है। इसमें एक धूर्त गुण्डे का चरित्र है। इसके आरम्भ में मंच पर काग़ज़ के बड़े चमकदार पुतले खड़े कर दिए जाते हैं। कथाकार इन सबका परिचय करवाता है। पुतलों के पीछे खड़े हुए पात्र एक-एक करके सामने जाते हैं और फिर पीछे छिपकर जा खड़े होते हैं।

प्रकाश-प्रभाव में कोई ट्रिक नहीं होती। उसने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि रोशनी सीधी और तेज़ हो ताकि उसके पात्रों के चेहरों पर भावों के उतार-चढ़ाव स्पष्ट नज़र आएँ। उसने अभिनय-कला, मंच-सामग्री, पर्दों, गीतों और दैनिक नाट्य-चर्या पर बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं, जो सूत्रों की तरह हैं। इसी प्रकार की एक कविता 'मंच-प्रकाश' पर भी है। इसमें वह कहता है: "ऊँघती हुई रोशनी में मेरे दर्शक ऊँघने लगेंगे। मिस्त्री जी! चुंधियाने वाली तेज़ रोशनी दो ताकि दर्शक जागते रहें। अगर उन्हें सपने देखने हैं, तो चमकती हुई रोशनी में देखें। रात के अन्धेरे को हमारे जगमगाते हुए लैम्प और चाँद और गहरा सकते हैं। हम अपने अभिनय के द्वारा डूबते हुए दिन और आती हुई रात को व्यक्त करेंगे।...रोशनी तेज़ करो ताकि दर्शक हमारे नाटक को देखें, जो हमने उनके लिए तैयार किया है।"

मंच-सामग्री और वेशभूषा पर वह बहुत ज़ोर देता है। उसे पात्रों को चमका-दमकाकर पेश करने और 'सुन्दर' अभिनेत्रियों से चिढ़ थी। 'दिलेर मां की गूंगी बेटी' और 'न्याय-चक्र की नौकरानी ग्रूसा' का अभिनय अन्य देशों के अधिकांश मंचों पर खूबसूरत लड़कियों ने किया है। परन्तु ब्रेख्त के निर्देशन में यह अभिनय एक साधारण, मोटी ताजी मज़बूत लड़की करती है।

ब्रेख्त को ऐसी चीज़ें पसन्द थीं, जो इस्तेमाल करने से घिस गई हों। वह कहता है: "जो चीज़ें टूटी हुई हैं, इस्तेमालशुदा हैं, जो इन्सान के हाथ लग-लगकर घिस गई हैं—मुझे बहुत पसन्द हैं। प्याले जिनके दस्ते टूट गए हैं, किवाड़ जो चिकने हो गए हैं, पीतल के कटोरे जिनमें दगचे पड़े हुए हैं, जिन्हें सैकड़ों-हज़ारों हाथों ने छुआ है, जो [illegible] हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके नाटकों में निचले तबके के लोगों की घिसी हुई पतलूनें, चिकने कोट, फटी हुई आस्तीनें और चीकट घाघरे बनाने के लिए एक विशेष फैक्टरी थी, जो कपड़ों में मध्यकाल के समय और बीते हुए युगों की बू-बास और रंग ले आती थी। एक बार ब्रेख्त की कम्पनी किसी दूसरे देश में नाटक खेलने गई। वहाँ के कुछ नाट्य-मुखियाओं ने जब एक्टरों को मंच पर घिसे-पिचे और मैल से मोमजामा बने कपड़ों में देखा, तो उन्होंने सहानुभूति दर्शाते हुए कहा कि इस कम्पनी के पास वेशभूषा और वस्त्र बहुत घटिया हैं। वे यह नहीं जानते थे कि इन कपड़ों को घटिया बनाने के लिए कितनी मेहनत और व्यय हुआ है।

ब्रेख्त पात्रों के स्वभाव और चरित्र को उभारने के लिए उनकी प्रकृति के अनुसार अर्द्ध-मुखौटे और बड़ी-बड़ी नक़ली दाढ़ी-मूँछें लगा देता था। किसी विशेष पात्र की आँखें तीखी और भेड़िए की तरह भूखी बनाने के लिए वह इनके इर्द-गिर्द लेप लगा देता था, नाक और गालों पर मोटी परत जमा देता था। 'न्याय-चक्र' का मोटा हँसोड़ शहज़ादा छाज-सी चौड़ी दाढ़ी लगाए हुए आता है और उसके हाथ की दसों उँगलियों में कीमती हीरे-पन्नी जड़ी अंगूठियाँ चमक रही होती हैं।

ब्रेख्त ने नाटकों से भावुकता और रूढ़िगत नाटकीय सज्जा की केंचुली उतार फेंकी है। वह 'विचार' के कपड़े उतार कर उसे नंगा कर देता है, जिससे हम उस 'विचार' के स्वस्थ शरीर और अंग देख पाते हैं। अभिनेता केवम अभिनय ही नहीं करता, बल्कि इसका प्रदर्शन भी करता है। प्रसिद्ध इतालवी अभिनेता सालवेनी ने कहा था, "अभिनेता अपने पात्र के भावमय जीवन में बसा हुआ केवल हँसता और रोता ही नहीं, बल्कि अपनी हँसी की आवाज़ भी सुनता है और अपने आँसुओं को बहते हुए भी देखता है।" ब्रेख्त के नाटकों में अभिनेता केवल दो जीवन ही नहीं जीता, बल्कि वह एक तीसरे रूप में भी प्रकट होता है, जो इतिहास के इसी प्रकार के अन्य पात्रों का आईना भी बन जाता है। उदाहरण के लिए 'न्याय-चक्र' का अजदक केवल जज ही नहीं, वह सुलेमान भी है, विक्रमादित्य भी है और धर्मराज भी। वह न्यायाधीशों का न्यायाधीश है।

ब्रेख्त के पात्र साधारण जीवन में मिलने वाले चरित्रों से बड़े हैं। उन्नीसवीं शताब्दि में इब्सन, आस्त्रोव्स्की और चेखव जीवित दुनिया को मंच पर ले आए। स्टान्सोल्वस्की ने इस यथार्थवादी प्रवृत्ति को शिखर पर पहुँचाया और हमें ऐसे पात्रों से परिचित कराया जिनको हम जानते हैं, जो हमारी दिनचर्या के अंग हैं और जिन्हें हम अन्तिम पर्दा गिर चुकने के बाद अपने भीतर देख सकते हैं। परन्तु ब्रेख्त के पात्र व्यक्तित्व का खोल तोड़कर बाहर निकलते हैं। उनका आकार बड़ा होता है। वे एक बड़े उद्देश्य को एक बड़ी पृष्टभूमि पर साकार करते हैं। उसने यथार्थ में कविता और संगीत का संचार करके इसके अन्दर एक और प्रकार का यथार्थ भरा, जो मानवता के मूल-तथ्यों को परखता है और हम में एक अन्तर्दृष्टि पैदा करता है। इस अर्थ में वह टैगोर, लोर्का, शेक्सपीयर और यूनानी नाटककारों की पंक्ति में आ खड़ा होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

डॉ० रमेश कुन्तल मे

चारुचन्द्रलेख

मध्यकालीन इतिहासखण्ड का एक वर्त्तुल दर्पण

यह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का दूसरा उपन्यास है जो उपन्यास की दृष्टि से एक नया प्रयोग ज़रूर कहा जाएगा—बहुत कुछ 'एंटी-नावेल' जैसा प्रयोग। इस प्रयोग को चाहे असफल कहें या सफल; लेकिन प्रयोग ज़रूर है। यदि हम 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को हर्षकालीन संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में कला का अंगूर कह सकते हैं, तो 'चारुचन्द्रलेख' को भी पृथ्वीराज-जयचन्द्र के परवर्तीकाल के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन समाजचिन्तन की भूलभुलैयाँ। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कला और धर्म की नीरक्षीर मैत्री है, तो 'चारुचन्द्रलेख' में धर्म और इतिहास का भ्रमर-चम्पक कुयोग। सारे उपन्यास में आधुनिक शिक्षित संस्कारों से समावृत वैष्णवदृष्टि से जड़ीभूत मध्यकालीन धार्मिक और सामाजिक संस्कृति की विवेचना की गई है। इस वैष्णव दृष्टि में एक साधारण समाज (—गृहस्थजन) की भाँति एक ओर तो सामाजिक यथार्थता है, दूसरी ओर विवेकशीलता तथा परम्परा (Rationality and Tradition)। उपन्यास में तथ्य (fact), कल्पना (imagination), यथार्थता (reality) और अन्वेषण (invention) का जो इतना अद्वितीय और किंचित् अगल्पात्मक संयोग हुआ है, उसने पूरी तरह से उस युग के समाज तथा लोकचित्त को ही साक्षात् कर दिया है जिसके विषय में या तो इतिहास मौन है, या इतिहास कुछ महान् पुरुषों के रूप में पुष्पित नहीं हो पाया या फिर इतिहास ने उस युग की विशाल जनता को अपना उपजीव्य नहीं बनाया। इसलिए इस उपन्यास की महत्ता (शायद महानता भी) इस बात में है कि उपन्यास-कला पर बदलने की अपेक्षा इसने महान् नायक और महान् घटनाओं से विहीन अधोमुखी **"मध्यकाल के इतिहास की पुनर्रचना"** की है। इसीलिए लेखक को एक काल्पनिक घुड़सवार राजा (सातवाहन) को नायक मानना पड़ा और एक कल्पित चन्द्रलेखा को रानी नायिका। किन्तु उस काल के इतिहास की पुनर्रचना में 'पृथ्वीराज रासो' को उपजीव्य बनाकर लेखक ने विद्याधर (विज्जाहर), धर्मायण (बोधा प्रधान के पिता), नाटी माता (कनवज्जसमय की करनाटी), सुहागदेवी (सूहवदेवी), जल्हन, चन्द्रबलिद्दय (चन्द्रबरदाई), हाहुलीराय, धीर शर्मा, सीदी मौलादि जैसे राज एवं जनजीवन के अल्पख्यात पात्रों द्वारा ऐतिहासिक रोमांस को ऐतिहासिक उपन्यास तथा ऐतिहासिक अनुसंधान के स्तर पर उद्घारित किया है। इसके अलावा एक बात और भी प्रमाणित की गई है—'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पृथ्वीराज रासो' की तुलना से रासो के इतिहास तथा ऐतिहासिकता की स्थापना तो परोक्षरूप से यह उपन्यास 'पृथ्वीराज रासो' की। पर छानबीन भी है। सारांश यही है कि राजारानी, नागनाथ आदि की अधिकारिक कथा को तो मेरुतुंग के जैन प्रबन्ध ('प्रबन्ध चिन्तामणि') से गृहीत किया गया है (जो काल्पनिक है); और प्रासंगिक कथाओं को 'पृथ्वीराज रासो', 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह', 'तवकाते नासिरी' आदि से ग्रहण किया गया है (जो ऐतिहासिक हैं)। इस तरह यहाँ एक निजंधर (लीजेंड) की वृत्ति (theme) पर एक इतिहास का आच्छादन ही उस युग के समाज और युगबोध को उद्घाटित कर सका है। यह स्वयं में लेखक के इतिहास लेखन—(Historiography)—उपन्यास को निमित्त बनाकर इतिहास लेखन—के क्षेत्र में राहुल की तरह एक साहसपूर्ण प्रयास है; और काफी उत्तेजक है। इसलिए सफल भी है कि लेखक ने युग की अन्तर्मुखी चेतना को पूरी तरह उद्घाटित भी किया और, उसकी, उसी युग की साधनाचित्त की भाषा में, आलोचना भी की है। एक बात और ध्यातव्य है कि लेखक ने ऐतिहासिक तारीखों को एकसूत्र में पिरोने की कोशिश की है। चूँकि समय पृथ्वीराज-जयचन्द्र के बाद का है इसलिए बूढ़ा जगनिक आता है, चन्दवरदाई का बेटा जल्हण आता है, नालन्दा के (बख्तियार की ध्वंसलीला के बाद) राहुलभद्र और अक्षोभ्य भैरव आते हैं, जयचन्द्र का बेटा हरिश्चन्द्र आता है, सीदी मौला आते हैं (किन्तु उपन्यास में उन्हें दिल्ली के सुलतान की आज्ञा से हाथी के पाँवों तले कुचलवाया नहीं जाता क्योंकि यह बाद का तथ्य है)। सीदी मौला मध्यऐशिया का काफ़ी प्रामाणिक इतिहास भी बताते हैं दो बार। यहाँ राहुल सांकृत्यायन कृत 'मध्यऐशिया का इतिहास' से सामग्री ली गई है। यूँ तो पूरे उपन्यास में लेखक ने स्वयं अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन धर्मसाधना' से सामग्री ली है। उपन्यास में कथन शैली की दृष्टि से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' वाली पहेली ही चली आई है। सारा उपन्यास चन्द्रगुहा पर उट्टंकित शिलालेख का भाषांतर है जिसे अघोरनाथ ने व्योमकेश शास्त्री को सम्पादित करने को दिया। हजारीप्रसाद द्विवेदी अर्थात् व्योमकेश शास्त्री ने इस पर टिप्पणियाँ लिखीं। यूँ मूलकथा दैनंदिनी-शैली में है। यहाँ आत्मकथा शैली कम, जीवनी शैली ही प्रधान है। इसके अलावा इसमें वाणी (स्पीच) के विभिन्न प्रकारों का उपयोग किया गया है। रानी चन्द्रलेखा प्रथम पुरुष में बात कहती है। नागनाथ ने मध्यम पुरुष में कहना शुरू किया था किन्तु नहीं कह पाये। राजा उत्तम पुरुष में कहते हैं। इस तरह शुरू में प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष की साधना को उद्घाटित करने की योजना भी रही थी जो बाद में त्याग दी गई। कला-रूपों की दृष्टि से यहाँ **लेखों, पत्रों** और **सम्बोधनात्मक भाषणों** की भरमार है; पत्रों के अनूठे **रेखाचित्र** यत्र-तत्र छिटके हैं; **श्लोक**, उनके अर्थ, उनकी व्याख्याएं-टिप्पणियाँ भी कहीं-कहीं मिल जाती हैं। इस तरह उपन्यास में एक ओर तो ऐतिहासिक तथ्यों को (घटनाओं को भी) सोच-विचारकर पिरोया गया है, तो दूसरी ओर चित्रों के खण्ड-खण्ड खिचे-से सजे हैं जिनके बीच में कार्यव्यापार का तीर लड़खड़ाता हुआ निकलता चलता है। लेखों और पत्रों की—विशेषतः चन्द्रलेखा के चारुलेखों की —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुतायत से ही कृति का नाम 'चारुचन्द्रलेख' पड़ा है। नाम के अन्य हेतु भी है: जैसे, चन्द्रगुहा का लेख; या, जिसमें चारुचन्द्रलेखा (नायिका) हो!

पहले हम घटनात्मक इतिहास लें जो इस उपन्यास में आया है। यह घटनाएँ दो ही केन्द्रों में अभिमुख हैं—धर्मसाधनाएँ तथा युद्ध। घटनाओं का बहुमत धार्मिक साधनाओं से जुड़ा है। इस प्रकार कृति में मध्यकालीन साधनाओं का तथा सामंतयुग के समाज एवं राजनीति का इतिहास जुड़ जाता है। जहाँ तक साधनाओं का सम्बन्ध है वे आगमों और तन्त्रों की परम्परा में हैं और उनसे सम्बन्धित लगभग सभी घटनाएँ काल्पनिक हैं। अलबत्ता उनसे सम्बन्धित कुछ पात्र (नाटी माता, धी शर्मा, जल्हन, गोरखनाथ) अवश्य ऐतिहासिक हैं। इस तरह धर्मसाधनाएँ एक विशे भूमिका रखती हैं जिनका विवेचन हम आगे करेंगे। लेकिन जहाँ तक राजा-राज्य-राजनीति का सम्बन्ध है वहाँ काल्पनिक राजा सातवाहन एवं रानी (बाद में सिद्ध-योगिनी) चन्द्रलेखा के साथ कई ऐतिहासिक पात्र एवं घटनाएं गुँथी हैं। इसकी वजह से कृति में मध्यकालीन सामंतीय सेनासंगठन, अर्थतन्त्र, समाज आदि का अनुभाव भी जुड़ जाता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में लेखक ने अपने कलादर्शन और मर्यादा के आदर्श को प्रस्तुत करना लक्ष्य बनाया था। इसमें लेखक ने सामाजिक दर्शन और धार्मिक साधनाओं के सर्वेक्षण-विश्लेषण को अपना आदर्श बनाया है। यद्यपि साध-नाओं की भरमार के कारण कथातन्त्र बहुत ज़्यादा ढीला हो गया है किन्तु (दिल्ली के सुलतान को छोड़कर) सभी पात्र राजा और रानी की धुरी में बंधे हैं। इस प्रकार राजा तत्कालीन ज्ञान और समाजचित्र का एवं रानी तत्कालीन व्यष्टिमूलक सिद्धि की खोज और व्यक्ति के असंतुलित व्यक्तित्व का प्रतिनिधि हो जाती हैं। इस पृष्ठ-भूमि के द्वारा कृति के दो पक्षों को बताने के बाद हम क्रमशः घटनात्मक इतिहा का उद्घाटन करेंगे जो कथातन्त्र में विन्यस्त है। पहले परिच्छेद में सीदी मौला परिचय होता है जो हिन्दू-मुसलिम (सिद्ध+मौला) संस्कृति के संगम हैं। वे बिलकु फक्कड़ हैं किसी में विश्वास नहीं करते। बिलकुल कबीर जैसे हैं। किन्तु कबीर भक्त भी हो गए थे और सीदी मौला भक्त नहीं ही हुए। लेखक ने मानो 'आत्मकथा' धावक की पूर्ति इनमें की है। सीदी मौला तत्कालीन मध्य एशिया की—मंगोलों और भोटों की—साधनाओं तथा इतिहास से भारत का गठबन्धन कर देते हैं। वे चिलमि खान् तथा तिब्बती लामाओं की महायानी साधना से (तीसरा परिच्छेद) भारती साधना-भूमि का पुनर्मिलन करा देते हैं। दूसरे परिच्छेद में हम 'पुरातन प्रब संग्रह' के चतुर्दश विद्याधर मन्त्री को पाते हैं जो अब राजा सातवाहन के मन्त्री हैं वे महाराज जयित्रचन्द्र की डोम रानी सूहवदेवी की बीती ऐतिहासिक कथा आख्यान करते हैं तथा संस्कृत कवि श्रीहर्ष के अपमान की कथा भी गूंथते हैं। जि तरह 'आत्मकथा' में बाण सम्राट् हर्ष के सभाकवि हुए थे उसी तरह विद्याध गाहड़वार नरेश जयित्रचन्द्र के मन्त्री, सभाकवि और सभापण्डित हुए हैं। चौ परिच्छेद में लेखक एक ओर तो चन्द्रलेखा को परमाल की दौहित्री बनाकर उ ऐतिहासिक गात देता है तो दूसरी ओर जयचन्द्र व परमाल के विग्रह के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वमेव व्याख्या करता है (इस विषय में इतिहास चुप है)। यहाँ भी 'आत्मकथा' की भट्टिनी का भाव साकार हुआ है। भट्टिनी की तरह चन्द्रलेखा—किसान-कन्या—चन्टलेखा एक राजबाला है; जिस तरह भट्टिनी की शिविका पर प्रत्यन्त दस्युओं ने हमला किया था उसी तरह चन्द्रलेखा की माँ चन्द्रप्रभा की शिविका पर हमला होता है। छठे परिच्छेद में राजा सातवाहन के यहाँ वृद्ध जगनिक को लाकर लेखक वीरगाथाकाल का वृत्त पूरा करता है। सातवें परिच्छेद में उज्जयिनी के गधैयाताल की दन्तकथा के पीछे लेखक वास्तविक इतिहास का उद्‌घाटन करता है। यहाँ सरस्वती-विक्रमादित्य-अडोलिया—की ऐतिहासिक गुत्थी सुलझती है और कालिदास के 'शाकुन्तल' की कथा में इसका मूल संस्कार उद्‌घाटित होता है। इस व्याख्या के द्वारा लेखक ने लोककथाओं में से ऐतिहासिक तथ्य ढूंढ़ निकालने की पद्धति का भी अनुसरण किया है। दसवें परिच्छेद में नाना गोसाईं के माध्यम से दक्षिण में शैव-जैनों के द्वन्द्व के ऐतिहासिक तथ्य को प्रकट किया गया है। बारहवें परिच्छेद में ऐतिहासिक धर्मायन कायस्थ के काल्पनिक पुत्र बोधा प्रधान का प्रवेश हुआ है। तेरहवें परिच्छेद में कन्ह चाचा की कथा द्वारा ढोंगी सामंतीय दर्प की खिल्ली उड़ाई गई है। इसके बाद बाइसवें परिच्छेद में बोधा राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयशल वंश के इतिहास में धर्म की पहल का विवेचन करते हैं। तेइसवें परिच्छेद में सूहवदेवी के पुत्र हरिश्चन्द्र का अनुसंधान होता है जो तुर्कों की सहायता किया करता था। इसी में भंभल के द्वारा कारुनटों के अर्थतात्त्विक (सीमेंटिक) इतिहास की व्याख्या होती है। भंभल ही नाटी माता और कदम्बवास मन्त्री के सम्बन्धों की कथा कहकर कर-नाटी (=नाटीमाता) का पूरा इतिहास खोल देता है जिससे रासो के एक समय पर पूरा प्रकाश पड़ सकता है। चौबीसवें परिच्छेद में काशी के हरिश्चन्द्र घाट की ऐतिहासिक छानबीन हैं। पच्चीसवें परिच्छेद में अशोक चल्ल नामक ऐतिहासिक पात्र का आगमन होता है जिससे कि नालन्दा का भी पूरा इतिहास खुल जाता है (सत्ताइसवें परिच्छेद में)। अट्ठाइसवें परिच्छेद में ऐतिहासिक जल्हन के प्रवेश ने रासो में वर्णित कई ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग कराने में मदद की। जल्हन अपने पिता चन्दबरदाई का पूरा चरित्र प्रकाशित करता है। पृथ्वीराज द्वारा कदंबवास मन्त्री की हत्या का भेद खोलता है। हाहुलीराय-प्रसंग को गूंथता है; करनाटी (नाटी माता) के प्रति पृथ्वीराज की आसक्ति की बात भी बताता है। इस तरह यह पूरा परिच्छेद रासो पर आधारित है। उन्नीसवें परिच्छेद से दिल्ली के सुल्तान का नेपथ्य आभास चलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ इतिहास संस्मरण के रूप में आया है। क्यों ? इसलिए कि लेखक पृथ्वीराज-जयचन्द्र के ऐतिहासिक युग के आधार पर ठीक उनके बाद के युग के रंगमंच में क्रियाशील है। उस युग के पात्र प्रौढ़ और बूढ़े होकर आए हैं (जगनिक विद्याधर, धीरशर्मा, नाटीमाता), या किशोरपात्र युवक होकर (अशोक चल्ल, जल्हन)। प्रमुख घटनात्मक इतिहास के दो तथ्य हैं – करनाटी (नाटीमाता तो लेखक का दिया हुआ स्वरूप है) तथा कैमास या कइंवास (कदम्बवास); और नालन्दा क्षेत्र में विध्वंसलीला। इन तथ्यों में लेखक ने जो प्रचुर कल्पना की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है वही तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र रचती है। किन्तु इन ऐतिहासिक तथ्यों के साथ लेखक ने जो अन्वेषण किये हैं वे कई ऐतिहासिक गाँठों को खोलते हैं (गधैया ताल प्रसंग, सूहवदेती के पुत्र हरिश्चन्द्र का प्रसंग,); काल्पनिक पात्रों को या तो अधिक जीवंतयुग भूमिका में प्रतिष्ठित कराते हैं (चन्द्रलेखा, विष्णुप्रिया, अमोघवज्र मैना,) अथवा उन्हें चरित्र का एक दूसरा प्रभामंडल दे देते हैं (नाटीमाता, सीदीमौला विद्याधर, जल्हन)।

इतिहास-परिचर्चा में आगे भावात्मक इतिहास लिया जा सकता है। यहाँ राज्य, युद्ध, राजा, इतिहास, क्षण, काल, संयोग, घटना आदि जो अवधारणाएँ (Concepts) के रूप में आए हैं वे एक ओर तो लेखक के इतिहासदर्शन को समग्र सर्वांगीणता में प्रस्तुत करते हैं तथा दूसरी ओर उसके सामाजिक-आलोचनाशील (क्रिटीक) का प्रतिपादन।

इस संदर्भ में लेखक ने पहला सवाल किया है कि इतिहास क्या है ? इतिहास काल-प्रवाह (जिसे वह 'कालदेवता का आधिभौतिक प्रतीक मानता है) है या क्षण-खंड ? इतिहास अन्तर्मुखी (एक ब्रह्माण्डव्यापी समष्टि मन) है या बाहरी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का पुञ्ज ? इतिहास हमें बनाता है या हम इतिहास को बनाते हैं ? क्या इतिहास की आवृत्ति होती है ? क्या इतिहास से सीखा जा सकता है ? क्या इतिहास में संयोग (जिसे लेखक हमेशा 'दैव संयोग' में रूपांतरित कर देता है) अपनी व्यवस्था (Cosmos) को अस्तव्यस्त कर देते हैं ? अब हम इस नितांत गम्भीर पहलू का सर्वेक्षण करेंगे। सभी आदर्शवादियों की भाँति लेखक इतिहास की प्रथम धारणा को प्रारब्ध-विचार (Destiny idea) के रूप में ग्रहण करता है। यह प्रारब्ध अर्थात् कालदेवता है जो संसार की नाव को चला रहा है; व्यक्ति केवल पतवार (गति) थामे बैठा है लेकिन दिशा और परिणाम कालदेवता ने निश्चित कर दिया है (पृष्ठ ४२३)। हाँ, लेखक का मानवतावादी दृष्टिकोण भी यहाँ अनुस्यूत हो गया है जिसकी वजह से वह मानता है कि कालदेवता एक शक्तिमात्र है—और मानव-पिण्ड में भी वही शक्ति है। जब मानव-पिंड उस ब्रह्माण्ड व्याप्त शक्ति के साथ सामंजस्य कर लेता है तब इतिहास का अनुसंधान या आविष्कार हो जाता है। अतः यह इतिहास हमारे अन्तःकरण में ही स्फुरित होता है। जब हम व्यष्टि चित्त में जकड़े होते हैं स्वार्थवश होते हैं, तब हम इतिहास से कट जाते हैं। हम यद्यपि प्रवाह में हैं फिर भी एक क्षण अपना चित्र और व्याख्या छाप देता है क्योंकि यह एक क्षण अराजकता (Chaos) नहीं, सुव्यवस्था (Cosmos) का सुर है। अतः क्षणों की व्याख्या हमेशा नवीन और क्रमशः होती है (पृ० ३१७-१८)। ये सारे क्षण उस सुव्यवस्था की ताल हैं जो अद्भुत एवं नवीन भी हैं। इतिहासप्रवाह (महाकाल, महाशून्य) में इन क्षणों की ताल ही सृष्टि का उत्सव है (पृ० ३१४)। क्षण की आवश्यकता के कारण ही इतिहास की नई व्याख्याएं होती हैं। अतः बाद में इतिहास का नाम भी बदल जाता है। (पृ० ३४३)। इस तरह लेखक का इतिहास-दर्शन-अन्तर्विरोधों से भरा है क्योंकि उस में रहस्यवाद एवं मानवतावाद का द्वन्द्व है। एक ओर तो वह इतिहास प्रवाह तथा क्षण या कालखण्ड का सामंजस्य करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ अनेक विरोधी गतियाँ 'एक' के महान् मन्त्र में दीक्षित हो जाती है (पृ० ३४३), तो दूसरी ओर इतिहास में क्षण की कोई सत्ता ही नहीं मानता (पृ० ४१०)। एक ओर वह मानवचेतना से परे ब्रह्माण्ड-चेतना मानता है तो दूसरी ओर ब्रह्माण्डचेतना को मानव-चेतना का ही समष्टिरूप मानता है। हाँ दो बातें पूर्णतः सुदृढ़ हैं—पहला, इतिहास महान् सम्राटों और महान् युद्धों का लेखा-जोखा नहीं है, बल्कि लोकचित्त का आत्मबल और जनजीवन है; दूसरी, इतिहास से सीखा जा सकता है, भविष्य की दिशाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इन्हीं दो मज़बूत नीवों पर लेखक ने 'चारुचन्द्रलेख' में अपना इतिहास-दर्शन और इतिहास-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ एक ओर बोधा घुण्डकों-जैनों-वैष्णवों के इतिहास की सहायता से वर्तमान को अपने अनुकूल कर लेते हैं और दूसरी ओर अमोघवज्र भारत की सदियों पुरानी विच्छेद परम्परा, दुर्बल सामाजिक संहति तथा खण्डविदीर्ण असंख्य छोटी इकाइयों को पढ़कर भविष्य के प्रति चिंतित हो जाते हैं; अक्षोभ्य भैरव इतिहास को समझाने के बाद छोटे-छोटे सामंतों की स्थायी परम्परा को देश की सैनिक और राजनीतिक पराजय का मुख्य हेतु मानते हैं, विद्याधर इतिहास को केवल सकालीन कूटनीति एवं राजनीति मानते हैं; राजा भविष्य में बड़ी दूर तक जाते हैं क्योंकि वे राजा रूप में जनचित्त हैं। वे कहते हैं कि उस समय राजा वही होगा जो लोकसेवक होगा। इस तरह लेखक इतिहास में 'अन्तर्मुखी निश्चयवाद' की स्थापना करता है जिसमें प्रगाढ़ मानवतावादी नींव है।

लेखक इतिहास और दैवसंयाग का अन्तर्सम्बन्ध बताता है। इतिहास और दैवसंयोग से घटने वाले जागतिक व्यापार में अन्तर है। इतिहास मानवीय संकल्पों से बनता है। ये कोमल मानवीय संकल्प बाहरी कठोर परिस्थितियों से टकराकर परिवर्तित होते हैं अतः इतिहास वैसा ही नहीं होता जैसा हम चाहते हैं। (पृ० ३०५)। अतः इतिहास हमें बनाता भी है, और हम इतिहास का निर्माण भी करते हैं। इस निर्माण में अनुकूल मंगल है और प्रतिकूल अमंगल। यह द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध स्वीकार करने पर लेखक दैवसंयोग को ज़रा अलग हटा देता है। इतिहास की आन्दोलक शक्ति क्या है—विशेषरूप से सामंतीय व्यवस्था में? युद्ध? धर्म? युद्ध और धर्म? दोनों!—किन्तु दूसरे स्तर पर!! मूल हैं—धरती और सोना! यही इतिहास के अश्वत्थ का मूल हैं। धरती का मतलब केवल इस मिट्टी से नहीं किन्तु किसानों और साधारण प्रजावर्ग से है जिनकी अपूर्वनिष्ठा कठोर परिस्थितियों को जीत लेती है। यह धरती उन असंख्य गृहस्थों के बलिदान की कथा है, जो परम्परा के रूप में अनुभव होकर समष्टि चित्त हो जाती हैं और जो भविष्य को दिशाएँ बताती हैं (पृ० १३२, २५०)। अतः इतिहास सामूहिक है। इसी तरह अर्थतन्त्र ('स्वर्ण' के प्रतीक में) तभी बदला जा सकता है जब एक दूसरी व्यवस्था की मज़बूत नींव पड़ जाए। गरीब देशों और सामंत व्यवस्था में अर्थव्यवस्था (सोना) और युद्ध (सेना) साथ-साथ रहते हैं। जिसके हाथ में सोना होगा उसके कब्ज़े में सेना। युग की चेतना वेतनभोगी लोगों के ऊपरी युद्धों से चला करती थी किन्तु बाहरी चेतना किसानों, गृहस्थों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण: प्रजा के आपसी सम्बन्धों में। हाँ, एक समस्या है कि हम नाना पात्रों के इतिहास सम्बन्धी मतों को लेखक के निजीमत किस हद तक मानें ?

इसी परिप्रेक्ष्य में इतिहास के दौर में सामंत-युद्धों पर लेखक ने गूढ़ विचार किया है। उस युग में राज्य व्यक्ति को मिलते हैं, पूरे जन को नहीं। अत: युद्धों के प्रति जनता उदासीन है और कुछ स्वार्थी व्यक्ति या धार्मिक और शोषक समूह आपस में मारकाट किया करते हैं। ये युद्ध जुल्मों से आगे कभी भी क्रान्ति की चेतना से परिपूर्ण नहीं हो सकते जब तक कि उनमें जनता का बलिदान, आत्मबल न आए। युद्ध के विषय में इसीलिये लेखक कहता है कि शस्त्रबल से देश हार जाए (=राजा पराजित हो गए) तो कोई बात नहीं; जनता का आत्मबल नहीं पराजित होना चाहिए। इसीलिये रानी चन्द्रलेखा लाख-लाख निरीह प्रजाओं की रक्षा को युद्ध का धर्म मान लेती हैं। इसीलिये घुण्डकेश्वर और दिल्ली के सुलतान के युद्धों तथा राजा और विद्याधर के युद्धों में क्रमश: साध्य और साधन का अन्तर है। यहाँ राजा चक्रवर्ती जरूर है किन्तु वह लोकनेता हो गया है जो संसार में दरिद्रता, रोग, शोक, अभाव के उन्मूलन को कटिबद्ध है। जो पूरी प्रजा को आश्रय करके श्रद्धार्चित अनुगामिता को पुष्पित करता है और सेवाभाव को ही उत्तम नेतृत्व में बदल देता है। यहाँ युद्ध देश की रक्षा, जनता की प्राणरक्षा, शोषण से मुक्ति, गुलामी के मुक्ति के निमित्त मात्र हो जाते हैं। इसी क्रम में लेखक ने इतिहास के सामंत युग (भारत में विशेषकर) पर एक आलोचनाशील रचा है। इस युग में जन और प्रजा का राज्य में सहकर्म नहीं होता इसलिए अर्थव्यवस्था (राजलक्ष्मी) खण्डतिक्षत हो जाती है। फलस्वरूप छोटे-छोटे राज्यों की स्वार्थी राजनीति विच्छेदकारिणी ही होती है। सामंत युग में वंशानुक्रम से राजा, मांडलिक, नृपति आदि चलते आते हैं जो लगातार कृषकों का शोषण करते हैं। फलत: सारी व्यवस्था बिखर जाती है। यह पहला दोष है। दूसरे, भूमि-व्यवस्था का बँटवारा होता जाता है और सारी सम्पत्ति टूटती जाती हैं। तीसरे सीधे जनसम्पर्क रखने वाले राजनेता नहीं होते। ऐसी राजनीति और ऐसी रणनीति भयंकर अत्याचार तथा आतंक फैलाती है। इस तरह लेखक ने अपने इतिहास-चिंतन के क्रम में मध्यकालीन सामंतीय भारत की राज्य, युद्ध, राजनीति और अर्थनीति की भी मीमांसा की है। राजनैतिक-आर्थिक (Politico-economic) निष्कर्षों को प्राप्त करने में यह कृति सामंतवाद का एक समाज-दर्पण हो जाती है।

इस ऐतिहासिक एवं राजनैतिक आलोचनाशील के साथ-साथ लेखक ने भारत के उस सामंत-युग की सामाजिक चेतना का भी संधान किया है। लेखक ने पहले परिच्छेद में ही सार दे दिया है कि लोगों को बाहुबल की अपेक्षा तन्त्रमन्त्र पर अधिक विश्वास था। प्रजा सिद्धों-योगियों की श्रद्धा नहीं करती थी बल्कि उनसे डरती थी। सारे समाज में नाना भाँति की तन्त्र, मन्त्र, जन्त्र मूलक साधनाएँ फैली थीं जो व्यक्ति-स्वार्थ या व्यक्तिगत मोक्ष पर ही बल देती थीं। अत: समष्टिगत चित्त और स्वस्थ मन का अभाव हो गया था। इस धार्मिक चेतना की हम आगे विवेचना करेंगे। अन्य दृष्टियों से भी सामाजिक जीवन जर्जर था। व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये सत्ताधारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशी आक्रांताओं को निमन्त्रण देते थे (सूहवदेवी, घुण्डकेश्वर)। उनमें आपसी विच्छेद था। सभी आक्रांता भयंकर अत्याचार करते थे (मंगोल)। राजाओं के प्रेमोदय से राज्य भी विनष्ट हो जाया करते थे। भाट तथा चारण कवि मात्र निराधार चाटूक्तियाँ कहा करते थे। कवियों की यह दुर्दशा थी। इसके वैपरीत्यमें लेखक जल्हन और जगनिक प्रस्तुत करता है। लोगों के संकल्प बहुत ही छोटे होते थे और उनमें कातरता या कायरता घर कर गई थी। व्यर्थ के कुलाभिमान के कारण ही आर्यदर्त का विनाश हुआ। इसीलिए पृथ्वीराज, परमाल आदि की तुलना में रानी चन्द्रलेखा अपने राजा सातवहन के इस सामंतीय बोध का खण्डन करती हैं। नारी को केवल कोमलता, काम या श्री सुन्दरी साधना का हेतु माना जाता था। रानी चन्द्रलेखा इसको भी तोड़ती हैं और नारी तथा युद्ध के विरोधी तत्वकल्प को समाप्त कर देती हैं। वे स्वयं भी दो बार युद्ध करती हैं। देश-भर में चहुँव्यापी निराशा के बीच जो ये छोटे-छोटे युद्ध होते हैं उन्हें साधारण प्रजा अपनी हार या जीत नहीं मानती। अतः रानी कहती हैं कि युद्ध का उद्देश्य बड़ा होना चाहिए। युद्ध केवल सैनिकों का ही नहीं प्रजा का भी कर्तव्य है। अब कहीं आशा है तो प्रजा की संगठित शक्ति में। जनता अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का शिकार है। इसे प्रकट करने के लिए लेखक ने वर्तमान का यथार्थ नहीं, बल्कि 'तत्कालीन सामाजिक यथार्थ' लिया है। हम देखते हैं कि जनता का तन्त्रमन्त्र में, शकुनों में, रानी की सिद्धियों में, नारियों पर देवी आने में (वज्रेश्वरी मन्दिर की सेविका का प्रसंग, पृष्ठ ३८२) अलौकिक चमत्कारों और अवश भाग्यवाद में घोर विश्वास था। मन्त्री और पुरोहित और कवि भी ज्योतिष, शकुन, वर्ण, साधु आदि के प्रति गहरी आस्था रखते थे (विद्याधर ज्योतिष में विश्वास रखते हैं, अशोक चल्ल और जल्हन शकुनों में,)। गृहस्थ धर्म और सती नारी की महत्ता को सिद्धों ने समाप्त-सा कर दिया था। अतः इनकी प्रतिष्ठा के लिए आन्दोलन चल पड़े थे। लोगों के विचारों, कार्यों और कथनी में खाई हो चुकी थी। सभी जगह से सहज जीवन, समष्टि-चित्त और सांस्कृतिक गौरव लुप्त हो गया था। इसलिये सामाजिक दर्शन की दृष्टि से लेखक ने सिद्धरस के बजाय प्रेमरस, मठों के बजाय गृहस्थगृह और वैयक्तिक स्वार्थ के बजाय सेवाभाव इन तीनों अनिवार्यताओं का अभिषेक करके अपने सामाजिक दर्शन का उत्कर्ष प्रस्तुत किया है। उनके सामाजिक दर्शन की दलित द्राक्षा का निचोड़ है—१) सिद्धियाँ मनुष्य को पशु, पक्षी, अजगर, प्रेत बना दें किन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाने में तब तक सहायक नहीं होगी जब तक सहज शरीर धर्मों को ही परम लक्ष्य समझा जाता रहेगा (पृष्ठ १५७)—गोरखनाथ; एवं २) एक साधारण किसान, जिसमें दया-माया है, सच-झूठ का विवेक है और बाहर-भीतर एकाकार है, वह भी बड़े-से-बड़े सिद्ध से ऊंचा है। जाहिर है कि यह लेखक की वैष्णववादी, रवीन्द्रवादी, मानवतावादी जीवन दृष्ठि का चरम रूप है।

धार्मिक चेतना की दृष्टि से तो यह उपन्यास मध्यकालीन भारतीय धर्म-साधनाओं का एक समाजशास्त्रीय शब्दकोष ही है। शिल्प की दृष्टि से इन साधनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने कथा-वस्तु को बहुत बिलम्बित और शिथिल और खण्डित किया है; इनसे न तो चरित्रों की अधिक विविधता उद्‌घाटित हुई है और न ही विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याएँ चरमोत्कर्ष के रूप में उठी हैं। कुतूहल की दृष्टि से इनमें एकरसता है और परिणाम की दृष्टि से भक्ति और सिद्धि की दो दिशाएँ। लेकिन उस युग का धार्मिक इतिहास—जनता के बीच में जिस तरह धर्म की माया फैली थी—प्रस्तुत करने के लिए इन सभी साधनाओं का वर्णन स्यात् वांछनीय था। मध्ययुगीन धार्मिक साधनाओं के विषय में हमारे देश में बहुत कम विद्वानों का हस्तामलकवत् ज्ञान है; द्विवेदीजी उनमें से एक हैं। इन साधनाओं के समावेश ने उपन्यास को ही धार्मिक साधनाओं का सन्दर्भ-ग्रन्थ बनाने के अलावा एक शोध-ग्रन्थ भी बना दिया है। इस धरातल पर लेखक ने मानो मध्ययुग का नया अनुसन्धान ही किया है जिनमें विभिन्न साधनाओं, यन्त्रशक्तियों, चक्र, तन्त्र, उपासना-पद्धतियों आदि का पूरे प्रमाण के साथ वर्णन ही नहीं, इतिवृत्त भी है। यहाँ पारद-अभ्रक की सिद्धि वाली रसेश्वर साधना है (नागनाथ-चन्द्रलेखा); सीदी मौला की भी रसेश्वर सिद्धि है; तिब्बत के प्रसंग में बौद्धों की महायानी साधना है; शाक्त आगमों की षोडश-कुमारी साधना है (अमोघवज्र); वज्रयानी साधना है; महाचीनाचार है; वामाचारियों का चक्रपूजन है; नील-सरस्वती की साधना है (जल्हन, अशोकचल्ल); लौकिक साधना का साधारण रूप है (साधारण पुरुषों तथा नारियों पर देवी का भाव आता है); नाना गोसाईं तथा घुंडकेश्वर की बहुत-कुछ शैव तथा पाशुपत साधना है। इसके साथ-साथ और समानान्तर दो साधनाएँ और हैं—पहली है नाटीमाता की मधुर भाव (राधा भाव) की वैष्णव उपासना, और भगवती विष्णुप्रिया की वैष्णव-सी साधना। लेखक ने आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में—किन्तु उसी युग की भाषा-शैली में—इन साधनाओं के रहस्यों के तार्किक निरूपण की कोशिश भी की है। इस तरह पहले तो इन साधनाओं का इतिवृत्त और विवरण दिया गया है; फिर इनके मनोवैज्ञानिक अर्थ खोजे गए हैं। तदुपरान्त सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से इनमें से कई की तीखी आलोचना की गई है—स्वयं इनके साधनों के द्वारा। सबसे पहले रसेश्वर साधना करने वाली चन्द्रलेखा को लें। आठवें परिच्छेद से वे स्वयं को प्रथम पुरुष में 'चन्द्रलेखा' कहकर सम्बोधित करने लगती हैं जहाँ से उनकी प्रथम पुरुष की साधना शुरू होती है। किन्तु वास्तव में मनोवैज्ञानिक तौर से उनका व्यक्तित्व विभक्त (Split-personality) हो जाता है और उनके मस्तिष्क का सन्तुलन नष्ट हो जाता है। भगवती विष्णुप्रिया, अमोघवज्र और नैना तीनों विमर्शों (suggestion) के द्वारा उन्हें पुनः नर्मिल बनाना चाहती हैं क्योंकि वे अब नर्मिल हो गई हैं। जहाँ उनके गुरु नागनाथ ने कोटिवेधी रस की साधना के लिए उन्हें अभिभूत किया है, वह भी मात्र विमर्श है। जब अमोघवज्र उनको भरथरी और युद्धरत राजा दिखाते हैं और रानी देखती हैं तब वहाँ वशीकरण (hypnotism) की क्रिया है। अमोघवज्र स्वयं कहते हैं—'ध्यान से देखो। कहीं कुछ नहीं···सब दृष्ट तथ्य सत्य नहीं होते। यह सब तुम इसलिए देख सकीं कि तुम्हारे मन में मेरे प्रति श्रद्धा व विश्वास है। प्रत्यक्ष देखा, पर सत्य नहीं था।'' (पृ० ३०८)। रानी चन्द्रलेखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की फैंटेसी-विधायक क्षमता अत्यन्त प्रचण्ड है। प्रत्येक विमर्श को वे इस क़दर फैलाती हैं कि वह मायावरण (hallucinatin) का रूप ले लिया करता है। इसलिए वे उड़ती हैं, आनन्दभैरव देखती हैं, भरथरी देखती हैं आदि-आदि। इनके विषय में अमोघवज्र कहते हैं कि ये रानी चन्द्रलेखा के 'भयत्रस्त चित्त के विक्षोभ से निकली हुई अद्भुत सिद्धि कथाएँ' हैं—मात्र किस्से! वे प्रत्येक विमर्श को प्रत्यक्ष (बिम्ब) या मायावरण में रूपान्तरित करने की अद्भुत क्षमता रखती हैं। पुरानी शब्दावली में भगवती विष्णुप्रिया कहती हैं—'चन्द्रलेखा की मनोगमा नाड़ियों में कठिन गाँठें (द्वन्द्व ?) पड़ गई थीं।···देख यह कल्पिका नाड़ी (फैंटेसी) सूज गई है।' इसमें अनेक साधनाओं में तारा, आनन्दभैरव, अक्षोभ्यबुद्ध, योगिनियों, छिन्नमस्ता आदि के अवतरित होने के जो जीवन्त विवरण हैं उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्याविमर्श—फैंटेसी, विभ्रम-मायावरण के द्वारा की जा सकती है। साधनापीठों में या तो मद्यपान के कारण नाड़ियाँ शिथिल हो जाती हैं, या हवनीय द्रव्य की उत्कट गन्ध के कारण अवचेतन आन्दोलित हो जाता है, या भयत्रस्त वातावरण के कारण या गुरु अथवा तान्त्रिक के अधिक सशक्त मनोबल के कारण वशीकरण की स्थिति आ जाती है। जैसे राजा, बोधा आदि भी ऐसे ही चमत्कार देखते हैं। उन्मादावस्था में राजा को भी काले बादलों में रानी के उड़ने आदि का विभ्रम (illusion) हो जाया करता है। इसके अलावा ये सिद्धि मनोवैज्ञानिक विचार-पठन (thought reading) भी काफ़ी करते हैं। अक्षोभ्य भैरव भद्रकाली की तथा राजा रानी चन्द्रलेखा की याद करता है जो विचार-पठन के उदाहरण हैं। कई स्थलों पर 'टेलिपेथी' (Telepathy) प्रक्रिया भी मिलेगी। इन मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं के अलावा लेखक ने बौद्धिकतावादी व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं। चंगिस् खान् द्वारा ज्वालादेवी की साधना का वर्णन बाकू क्षेत्र में किरोसीन तेल की खोज का मध्यकालीन वातावरण में विवरण है।···रसेश्वर साधना अणु-परमाणु से तुलनीय है।···ऊपर से नीचे झाँकने पर मैना को मानो लगता है कि कोई बलात् उसे पकड़कर नीचे फेंक रहा है—इसका मनोविश्लेषण बोधा करते हैं और फलस्वरूप उसके एक शैशव ट्रौमा (childhood trauma) का निराकरण कर देते हैं।··· तान्त्रिकों के चमत्कार पर स्वयं मैना भी कहती है कि ये तान्त्रिक लोग केवल उतनी ही बात बता सकते हैं जितनी प्रश्नकर्त्ता के मन में होती। इसी का पूरक है भैरव का जल्हन को उत्तर—'भाई जल्हन तू समझता है कि मैं सारी दुनिया की बात जानता हूँ। ना भाई, मैं स्वयं अपनी मर्मवेदना का उत्तर नहीं जानता।' इस तरह हम देखते हैं कि इन मध्यकालीन साधनाओं की व्याख्याओं में लेखक ने रहस्यवाद का नहीं, आधुनिक मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं का सहारा लिया है। यह उसकी परम्परा और विवेकगामिता की एक श्रेष्ठ उपलब्धि है जो पहली बार इन साधनाओं को बीसवीं शती के सन्देहशील मन के सम्मुख स्पष्ट करने की कोशिश करता है। इन साधनाओं का तीसरा पहलू है इनकी आलोचना। यह आलोचना स्वयं सिद्धों के मुँह से कराई गई है। धार्मिक और सामाजिक आलोचना मिली-जुली है। गुरु गोरखनाथ स्त्रीपूजा के स्थान पर ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा करने को व्याकुल हैं, वे माया को हराने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कटिबद्ध हैं और सिद्धों की साधनाओं के बजाय मनुष्य द्वारा सहज समाधि लगाने को मोक्ष घोषित करते हैं। वे सिद्धों की मूर्खता की भर्त्सना करते हैं। राजा को सन्देह है कि क्या सचमुच ही इन विचित्र साधनाओं से संसार जरा-मृत्यु के चक्र से त्राण पाएगा ? नाटी माता रानी की सिद्धि की ग़लती बताती हैं। मैनसिंह कहता है 'इन बकवादी निठल्ले सिद्धों के चक्कर में मत पड़ो। ये बिगाड़ना जानते हैं, सँवारना नहीं। व्यक्तिगत साधना के द्वारा इन्होंने सत्य को खण्डित किया है।' शैव घुण्डकेश्वर स्वार्थ के लिए हिंसा, बलि, लूट-पाट करता है और दिल्ली के सुलतान से मिल जाता है। सन्देहवादी (skeptic) अमोघवज्र कहते हैं—'मैं देख रहा हूँ कि सिद्धियों के पीछे पागल बने लोगों ने देश को निर्वीर्य और कायर बना दिया है। माया को पराभूत करने का ढोंग रचने वाले लोग माया के सबसे मज़बूत वाहन सिद्ध हुए हैं।' इस तरह अमोघवज्र और मिसिलपाद (बौद्ध) काफ़ी विवेकशील हैं और बाद में सन्देहवादी भी हो जाते हैं। इस युग की आलोचना के उपरान्त लेखक ने विकल्प दिये हैं—साधना के क्षेत्र में भक्ति (पूर्ण आत्म-समर्पण) और अपने भाव के अनुरूप विभाव पुरुष की कल्पना सिद्ध-रस के बजाय प्रेम रस की प्रतिष्ठा। अर्थात् समाज के परिवेश में समष्टि चित्त की साधना, जनता के मन में भय के बजाय श्रद्धा-विश्वास की प्रतिष्ठा, प्रजा में छोटी-से-छोटी और अत्यन्त पतित समझी जाने वाली जातियों पर भी स्नेह रखना। देश के पैमाने पर लेखक ने तन्त्र-मन्त्र बल के बजाय शस्त्रबल तथा बलिदान की, स्त्रीपूजा के विकृत रूपों के बजाय नारी के दुर्गा रूप, क्रिया रूप (युद्धरत रानी, अटवी योद्धा मैनसिंह) की महिमामय स्थापना की है। लेखक ने तान्त्रिकों और सिद्धों के बजाय एक सरल किसान और एक सहज गृहस्थ को अधिक महान् माना है। उस युग का इससे अधिक यथार्थवादी आदर्श और क्या हो सकता है, धर्मयुग को युगधर्म में स्थापित करने का ?

वैयक्तिक चेतना के स्तर पर हम कृति को 'अन्तरानुभूति का महाकाव्य' (epic of empathy) कह सकते हैं। अनुभूति, संवेदना, अनुभव और अभिव्यक्ति यहाँ प्रगाढ़ और रस ललाम हो उठे हैं। अनुभूतियों तथा संवेगों को अंकित करने में वाणी की स्वप्नमुग्ध लीला, चित्रों को बिम्बधार में नहलाने में शब्दों का उत्सव, वार्तालापों में सत्ता को तिरोभूत करने में अन्तर्मन का पूर्ण आत्मदान मानो लेखक की भाषा-शैली का सत्व बन चुके हैं। संवेगों और प्रतिवस्तु स्थापन की उभय भाषाएँ (Languages of emotion and representation) की कई दिशाओं का इसमें अनुसन्धान हुआ है; इसमें 'अर्थ की भाषा' के समानान्तर एक अनुभूति-अतीत 'भाव-भाषा' को भी समानान्तर उच्छलित किया गया है। फलस्वरूप अर्थों की बहुलता (multiplicity of meaning) और अभिव्यंजना की विविधता (ambiguity of exprcssion) की सोलहों कलाएँ साकार हो गई हैं। यदि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाषा अलंकारों की भाषा है, तो 'चारुचन्द्रलेख' की प्रतीकों एवं बिम्बों (आधुनिक प्रतीकवादी अर्थ में) की भाषा। इस भूमिका पर लेखक ने वैयक्तिक चेतना के स्तर अर्थात् पात्रों के अन्तर्लोक, परिस्थितियों से उनके संघातों, प्रकृति के प्रति उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तरानुभूतिमूलक रागवृत्तियों को ज्योतिर्मय किया है। इसीलिए हमने कहा है कि इस दृष्टि से यह कृति 'अन्तरानुभूति का महाकाव्यत्व' लिए है। अन्तरानुभूति के द्वारा हम अपने अन्तर्लोक की मनोदशाओं को बहिर्वस्तु में लीन-विलीन कर देते हैं। उदाहरणार्थ दालान भागते हैं, गुम्बद फूलते हैं, गवाक्ष झाँकते हैं—इन कथनों में दालान, गुम्बद, गवाक्ष के प्रति हमारी ही भागने, फेफड़ों के फूल उठने और झाँकने की अनुभूति अच्छादित हो गई है। राजा की भाषा तो इस दृष्टि से परिपूर्ण है। अन्य पात्र भी अन्तर्द्वन्द्वों, भावों, परिस्थितियों के अन्तराल की प्रत्येक सूक्ष्मता को पकड़कर अपनी 'आत्मा की अन्तर्कथा' उद्घाटित करते हैं और, साथ-साथ परानुभूति-गमिता से चरितार्थ हो जाते हैं। ज़रा रानी के स्वप्नों में प्रतीकों की छटा देखें—'घुड़सवार आता है, पिंजड़ा भी ले जाता है, चिड़िया भी ले जाता है और रानी कह उठती है विश्वास करोगे महाराज घुड़सवार बिलकुल तुम्हारे जैसा था।' रानी युद्धरत राजा का विभ्रमस्वप्न देखती हैं; घुण्डकों के हमले के अवसर पर सिद्धयोगिनी रानी युद्धरत हो जाती हैं। मानो वे आद्यन्त स्वप्न और यथार्थ में प्रथम पुरुष और उत्तम पुरुष में, और शरीर में भेद ही नहीं कर पातीं। फलतः हमेशा स्वप्नों और प्रतीकों में बात करती हैं। रानी कहती भी हैं कि 'मैं तुम्हें पतिरूप में वरण कर रही हूँ। इस बात को कभी मत भूल जाना।' बाद में रानी का इस साधना की ओर मुड़ना भी एक अन्तर्लीला ही है। रानी के सामने जयचन्द्र और सूहवदेवी की कथा, तथा गर्दमिल्ल और सरस्वती की कथा है जहाँ राजाओं में आकस्मिक प्रेमोदय हुआ तथा रानियाँ ही राज्य के विनाश का कारण बनीं। अतः रानी को इन दोनों कथाओं के निष्कर्ष मथ डालते हैं, उनका चरित्र रूपान्तरित हो जाता है और वे लोक-संगठन के बजाय मन्त्रबलपूर्ण कोटिवेधी रस की खोज में सिद्धि पाने की ओर मुड़ने लगती हैं। बाद में नाटीमाता और भगवती विष्णुप्रिया के उपचार के फलस्वरूप वे परम् प्रेयान को अहैतुक समर्पण करने की बात समझती हैं। उनके अश्रुमुखी होने पर मानो वृन्दावन अवतरित हो उठता है। रानी सम्बोधन भी बहुत बार करती हैं (हाय महाराज ! महाराज !) रानी सिद्धि में भी स्त्री-शरीर को इतना महत्त्व देने वाले को बहुत ऊँचा सिद्ध नहीं समझतीं क्योंकि यह विकृत चिन्तन का परिणाम है। इस तरह सिद्धयोगिनी चन्द्रलेखा के अन्तर्मूल में पद्मिनी चन्द्रलेखा कम विषपायी नहीं है। इसी तरह राजा अपनी इच्छाशक्तिरूपा रानी के बिना अपने आत्मज्ञान को पूर्णतः प्रकाशित नहीं कर पाते। बार-बार उन्हें यह अनुभव होता है कि वे पतिधर्म से च्युत तो नहीं हो रहे हैं रानी को स्वाधीन करके। राजा के ये द्वन्द्व अनुपम हैं और इनकी नाना भावदशाओं-पूर्ण बहुलता है। एक ओर नागनाथ और दूसरी ओर वचनबद्ध राजा! यदि रानी सिद्धरस से विश्वास हटाकर भी प्रेमरस नहीं पा सकीं तो राजा रानी के बिना पुरुष नहीं रह सके। एक ओर सिद्धयोगिनी तथा सती का द्वन्द्व; दूसरी ओर राजा और पति का द्वन्द्व। राजा भयंकर गिरिकान्तारों को पार करते हुए; असाध्य साधन का संकल्प लेकर चल रहे हैं—लेकिन 'हाय, रानी!' रानी के घायल होकर वियुक्त हो जाने पर राजा भी विरहोन्माद में रहते हैं—एक पुरुरवा की तरह! उनकी अन्तर्व्यथा जानती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो केवल मैना अर्थात् मैनसिंह—उनकी क्रियाशक्ति, उनकी नील सरस्वती ! रानी के वियुक्त होने के बाद राजा एक त्रासद नायक (tragic hero) हो जाते हैं और एक गहरी अन्तर्पीड़ा उनके बहिर्जगत को रंजित कर देती है। मैना राजा की अकुंठ सेवा में (बाणभट्ट की निपुणिका की तरह) अपने को निःशेष कर देना चाहती है। वह रानी की सखी है, और राजा की सेविका। उसमें लोभ नहीं है, वह अपने को निःशेष भाव से उँडेलकर देना चाहती है। किन्तु उसे मिला है नारी विग्रह। जब वह देना चाहती है तो विग्रह भी ढरक जाना चाहता है। उसके गंगाजल में फूल भी तैरता है, देना चाहती है गंगाजल की धारा, आगे उतरकर बह जाना चाहता है फूल ! (यह मानो बाण-निपुणिका-भट्टिनी जैसा त्रित्व पूरा है)। और राजा ? वह बहुत छिपकर या पार्श्व में आकर रानी-मैना, मैना-बोधा, मैना-अलहना की बातें सुन लिया करते हैं। मानवीय-परिस्थितियों (Human situation) का कैसा अद्भुत महा भागवत है, इच्छा, क्रिया और ज्ञान शक्ति की यह कैसी विभक्ति है। इसी तरह नाटी माता स्वयं को राधाभाव में तिरोभूत करके मोहातीत हो गई हैं—यह उनके 'करनाटी'-चरित्र का महत्तम उदात्तीकरण है। वे भाव-विह्वल नागर की नटी हो गई हैं। आदि नागर का अन्त नटी का ! वे साक्षात् मधुरभाव ही हैं। इसी तरह सीदी मौला की फक्कड़ता मस्ती को मैनसिंह एक झटके में झटक देता है। कितना अद्भुत उनमें परिवर्तन होता है। पहली बार वे माया से विचलित होते हैं। भद्रकाली विष्णुप्रिया और जल्हन भी इसी तरह के अन्तर्लीलापात्र हैं। इस गम्भीर चरित्र व्यूह में भंभल और धीरशमन विलक्षण चरित्र हैं। त्रासद विश्रान्ति (tragic relief) तथा हास-परिहास के लिए, कथा की गझिनता के बोझ को हलका करने के लिए मैनसिंह और अलहना के चपलपट्टु युगल (करनाटी का विचित्र नृत्य भी) हमें स्फूर्तिमय कर देते हैं और कथा की विचित्रवीणा के सुरों से हटकर हम उल्लास में भी हलका हो लेते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से आगे उठकर इस तरह की चरित्र रचना का भेद क्या है ? एक, इसमें लेखक ने स्वप्निलता और प्रतीकात्मकता का पूरा उपयोग किया है; दूसरे पात्रों में नर्मिल (normal) से अधिक अवनर्मिल और अतिनर्मिल पात्र चुने हैं। हाँ, यहाँ भी उनके चारित्रिक आदर्शवाद का धरातल तो बाज़ाप्ता क़ायम है। और अब अन्तिम मूल्यांकन धरातल, कलाशिल्प के विशिष्ट स्तरों पर कसने पर इसकी कई विशेषताएँ और त्रुटियाँ स्वतः उद्भासित हो उठती हैं।

सबसे पहले तो यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने अपनी चरित्र-रूढ़ियाँ (character conventions) विकसित कर ली हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और इस कृति के चरित्रों में समानान्तरताएँ हैं। भट्टिनी का और चन्द्रलेखा का बचपन एक जैसा दुःखभरा है। निपुणिका और बाण के सम्बन्धों की मैना और राजा के सम्बन्धों से गहरी समानता है। कविधावक और सीदी मौला में समता है। लोरिकदेव और अशोक चल्ल भी क्रमशः हर्ष और राजा के लिए एक समान भूमिकाएँ रचते हैं। अघोर भैरव (आत्मकथा) और अक्षोभ्य भैरव के चरित्र एक जैसे हैं। महामाया (आत्मकथा) और सुचरित में पर्याप्त सादृश्य है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कलाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अजंता और उनकी व्याख्या है, तो चारुचन्द्र लेख में साधनाओं का तीर्थ और उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। 'आत्मकथा' में आसन्न युद्ध का वातावरण है और इसमें युद्धों की गर्जन-हुंकार है। 'आत्म-कथा' में बाण की जड़ता से आहत निपुणिका की मृत्यु है तो इसमें राजा की नियति से आहत मैना का अवसान। 'आत्मकथा' में पात्र अपनी-अपनी आत्मकथाएँ कहते हैं तो इसमें वे अपनी-अपनी आत्मकथाओं के साथ-साथ अन्य पात्रों की जीवनियाँ और अपने संस्मरण भी कहते हैं। पत्रों और भाषणों की प्रचुरता दोनों में है। 'आत्मकथा' में कला और साधनाएँ हैं, इसमें इतिहास और साधनाएँ हैं। 'आत्मकथा', में लेखक का कलादर्शन है तो इसमें इतिहास दर्शन और सामाजिक दर्शन। 'आत्मकथा' में यात्रा-वृत्त है, इसमें यात्रांत-वृत्त। 'आत्मकथा' आत्मकथात्मक है और यह जीवनीमूलक। इस संदर्भ में विभिन्न पात्रों के संस्मरण और उनके द्वारा कही गई अन्य पात्रों की (अपनी कम) जीवनियाँ ही हमें पृथ्वीराज रासो वर्णित घटनाओं (करनाटी, कदम्बवास, सूहव देवी आदि) के दायरे में अथवा उन ऐतिहासिक घटनाओं के सम्पर्क में ला देती हैं जो उपन्यास के पूर्ववर्ती सीमान्त में है, (नालन्दा, भद्रकाली, किशोर, अशोक चल्ल, जयचन्द्र का पुत्र हरिश्चन्द्र आदि)। इस तरह लेखक ने पूर्वकथाओं को कहने की अपनी प्रविधि (तकनीक) का विकास किया है। मूलतः कथाएँ कहने वाले हैं --विद्याधर भट्ट जयचन्द की, सोहागदेवी की, चन्द्रलेखा की माँ की, सीदी मौला चिल्मिश खान् की, बोधा मैना के बचपन की, भद्रकाली की, जगनिक करनाटी की, चन्दबरदाई की, हाहुलीराय की, अशोकचल्ल की, भंभल कारुनटों की। मूलरूप से ज्योतिषी विद्याधर भट्ट और चारण कवि जल्हन ही किस्सागो हैं। यह संस्कृत रूढ़ि के अनुकूल भी है।

सारी की सारी कथावस्तु गति (actoin) की दृष्टि से--साधनाओं की बहुलता और अवांतरता के कारण--बड़ी मंथर तथा बिखरी हुई हैं। इसमें आवृत्ति है :—बार-बार युद्ध (एक ही शत्रु घुंडकेश्वर तुर्क सेनापति से) और बारम्बार तान्त्रिक साधनाए॑। घटनाओं से अधिक प्रतीक अग्रसारित करते हैं कार्य को। यहाँ प्रतीक कार्य व्यापार को चंक्रमित-सा कर लेते हैं। यहाँ प्रतीक और प्रयोजन (symbols & motifs) एकतान हो गए हैं। स्वप्न एक जबर्दस्त प्रतीक हैं कार्यव्यापार और वृत्ति (थीम) के। चिड़िया और पिंजरे का प्रतीक तो सारी कथा में व्याप्त है। ये कृति के आर्केटाइप हैं। एक आर्केटाइप त्रिकोण और भी है जो आद्यंत लीलायित हुआ है—इच्छा (रानी), ज्ञान (राजा) और क्रिया (मैना) नामक तीन शक्तियों का संयोग-वियोग। जब संयोग होता है तब कथा निर्झर-सी फूट निकलती है। जब वियोग होता है तो अन्तर्चेतना की स्थिर झील बन जाती है। श्रीकृष्ण की गोदी में अस्तव्यस्तभाव से पड़ी विद्युत् गौरी किशोरी राधा की मूर्ति मधुरोपासना के प्रतीक के साथ-साथ एक सामाजिक प्रतीक भी है—सिद्धों की ठूंठभगोड़ी गृहस्थ धर्म विध्वंसक साधना के विरोध में सहज भाव की सगुण, अवतारवादी सामाजिक जिन्दगी का। यह नारी सुलभ मधुरोपासना की दीक्षा है। नटनागर राधिका मूर्ति नाटी माता का विरेचन (कैथार्सिस) करती है; रानी चन्द्रलेखा की सच्ची सार्थकता का निर्देश करती है; सिद्धों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिथ्याचार और शुष्कता के विरोध में सामाजिक जीवन की रसधारा और मंगल सौभाग्य का प्रतिनिधित्व करती हैं, अन्तत: व्यष्टिचित्त की साधना का उच्छेदन करके समष्टिचित्त की, लोकचित्त की साधना का प्रचार करती है। यह मूर्ति-प्रतीक मध्यकालीन, व्यक्ति साधनाओं के विरोध में युग क्रान्ति है और (रेखांकित करने वाला तथ्य है कि—) लेखक की चेतना तथा समाजदर्शन का निष्कर्ष भी है। इसी का पूरक पान का प्रतीक है। यह प्रेमविवाह, नारी पुरुष, शिवशक्ति के लीलाबिलास का प्रतीक है। यही गृहस्थ का श्रीचक्र है। मैना के नि:शेष आत्म समर्पण के गंगाजल की धारा में नारी हृदय के फूल का प्रतीक पूरी तरह गमगमा उठा है। सारांश यह है कि प्रतीकों की रचना द्वारा लेखक ने समाज, मानवपिंड और समाजदर्शन की गाथा का संक्षेप किया है। कृष्णराधा मूर्ति हमें 'आत्मकथा' की महावराह मूर्ति की याद दिलाती हुई यह स्पष्ट करती है। इसमें उद्धार का क्षेत्र, स्वरूप और स्वभाव बदल गया है। इतिहास ने ऐसा परिवर्तन कर दिया है!

कथावस्तु में कई सम्पूर्ण परिच्छेद प्लॉट के निमित्त नहीं, बल्कि धार्मिक या ऐतिहासिक दर्शन के हेतु विन्यस्त हुए हैं। मिसाल के लिए छठवें परिच्छेद में युद्ध और जनता, जनता और राजा, राजा और कुलीनता के सम्बन्ध में एक सामाजिक-राजनैतिक आलोचनाशील (critique) दिया गया है। इस परिच्छेद में नारी और युद्ध के विरोधी तत्त्व-कल्प को समाप्त कर दिया जाता है। यह एक अन्य सामाजिक क्रांति है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की देवोपम नारियाँ युद्ध में भाग नहीं लेतीं किन्तु यहां रानी और मैना क्रमशः दुर्गा की तरह शत्रु संहार करती हैं या गुरिल्ला सेना (अटवी सेना) का संचालन करती हैं। आठवें और नवें परिच्छेद में कोटिवेधी रस की साधना और महाविद्या-कुल देवियों की साधना है। सातवें परिच्छेद में गर्दभिल्ल-सरस्वती-कालिदास आदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अन्वेषण हैं। ग्यारहवें परिच्छेद में स्त्री पूजा के विकृत रूपों का दिग्दर्शन हुआ है जिसकी शिकार चन्द्रलेखा तथा तापस बाला हैं। चौदहवें परिच्छेद में नाटी माता एवं भगवती विष्णुप्रिया की वैष्णव साधनाएं हैं। अठारहवें परिच्छेद में मैना द्वारा सिद्धों की कसकर भर्त्सना की गई है। इक्कीसवें परिच्छेद में भगवती द्वारा गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता और अवतार की सामाजिक व्याख्या का उपाख्यान है। पच्चीसवाँ परिच्छेद देश की चहुँमुखी अवस्था-व्यवस्था का दिग्दर्पण है। छब्बीसवें परिच्छेद में शिवा-साधना दी गई है। तीसवें परिच्छेद में देश की सामन्तीय व्यवस्था की राजनीति, अर्थनीति का विश्लेषण हुआ है। ये परिच्छेद प्रधान रूप से वृत्तिमूलक (thematic) हैं, क्योंकि उपन्यास में इनकी प्रधानता और प्रचुरता दोनों हैं, इसलिए यह रचना इतिवृत्तात्मक के बजाय वृत्तिमूलक हो जाती है। इसलिए अब हम 'चारुचंद्र' को 'अन्तरानुभूति मूलक एवं वृत्तिमूलक उपन्यास' (Empathic and thematic novel) कह सकते हैं। ज़ाहिर है कि इससे उपन्यास शिल्प बिखरेगा ही; गल्प के बजाय तर्क व चिन्तन छाएगा। अब कथातन्त्र वाले परिच्छेदों का लेखा-जोखा किया जाए। दूसरे परिच्छेद में चन्द्रलेखा की आत्मकथा है। तीसरे में सीदी मौला के मध्य एशिया के संस्मरण हैं। दसवें परिच्छेद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुर्कों की सेना से चम्बल के ढूहों में युद्ध है और घुंडकेश्वर तथा मैनसिंह का प्रवेश है। घुंडकेश्वर के रूप में उपन्यास में एक महत् लक्ष्यहीन खलनायक मिलता है। महत्त्व की बात तो यह है कि लेखक ने खलनायक तो दिया (जबकि 'आत्म कथा' खलनायक विहीन है)। इससे भी बड़ी महत्त्व की बात यह है कि यहाँ घुंडकेश्वर का खलनायकत्व बेहद नगण्य है क्योंकि उससे भी बड़ा सामन्त युग स्वयं खलनायक है। इस प्रकार खलनायक युग (Villain age) और वृत्तिमूलक इतिहास (thematic history) का संयोग हो जाता है। खलनायक युग से मेरा तात्पर्य सामन्ती व्यवस्था की राजनीति, धर्म की पतनावस्था, जनता का शोषण आदि हैं। तेहरवें परिच्छेद में मैनसिंह तथा अलहना बघेला के हास-परिहास हैं जो विकृत साधनाओं और महत् संकल्पहीन युद्धों के बाद त्रासद विश्रान्ति उत्पन्न करते हैं। पन्द्रहवें परिच्छेद में सिद्धयोगिनी रानी को सौभाग्यवती सती बनाने के उपचार होते हैं कि अचानक घुंडकेश्वर का हमला हो जाता है। इस तरह करुणा और रौद्र का समतोलन (Synaesthesis) होता है। सोलहवें में रानी को नर्मिल बनाने के उपचार जारी हैं; सत्रहवें में बिखरी घटनाओं के सभी सूत्र जुड़ते हैं। उन्नीसवाँ और बीसवाँ परिच्छेद मैनसिंह की वीरता तथा बचपन की कथा के निमित्त है। बाइसवें में पुनः घुंडकेश्वर का हमला होता है और रोमांचक युद्ध में रानी तथा अलहना घायल होते हैं। उपन्यास का असली घटनात्मक चरमोत्कर्ष यहीं है। यह सर्वाधिक बाह्य संघर्षों वाला परिच्छेद है। इस परिच्छेद के बाद ही समष्टि चित्त की क्रिया शक्ति का सक्रिय संधान शुरू होता है। पहले की सभी साधनाओं और उपायों की परीक्षा हो चुकी है। तेइसवें परिच्छेद में नाटी माता की जीवनी है। चौबीसवें में संदेहाकुल अमोघवज्र के निभ्रान्तिकरण (disillusionment) के व्याज से देश की चेतना का भी नया उन्मेष शुरू होता है। वे भक्ति एवं सिद्धि दोनों की वैयक्तिक साधनाओं की माया झाड़कर समाजचित्त को स्फूर्ति देने में कृतसंकल्प हैं। सत्ताइसवें परिच्छेद में वैयक्तिक साधनाओं के दुष्परिणाम दिए हैं। इसमें अक्षोम्य भैरव तथा भद्रकाली की कथा के मिस नालन्दा-ध्वंस का ऐतिहासिक तथ्य ही गूंथा गया है। अठाइसवें परिच्छेद में कवि जल्हन के द्वारा पृथ्वीराज की राजसभा का पिछला इतिहास दुहराया गया है। उन्तीसवें में राजा और मैना के अन्तर्लोक की ललित-भूमियाँ हैं। इकतीसवें परिच्छेद में मैना (क्रियाशक्ति) की विस्फोटक गति, सारी घटनाओं का विपरीत भाग्य (Nemesis) और राजा की सारी योजना का विध्वंस हो जाता है। बत्तीसवें में मैना उतावली में अनर्थ कर बैठती है। अन्त में राजा के दुर्भाग्य को ओढ़कर अपने ही भाले से अपने को भोंक लेती है। जल्दी में राजा बेहोश रानी (यहाँ एक भ्रम बना हुआ है) को कन्धे पर लादे और बोधा घायल मैना को लादे घने अन्धकार में विकट वन भूमि के मार्ग से भाग चलते हैं। खलनायक युग—अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और सामन्ती अराजकता का युग—इतिहास के रंगमंच में पुनः पूर्ववत् क़ायम रहता है। इन परिच्छेदों से कुछ नतीजे पाए जा सकते हैं—(१) कुछ परिच्छेद पात्रों की पिछली कथाओं को उद्घाटित कर उनका पूरा चरित्रांकन कर देते हैं। (२) कुछ परिच्छेद घटनाओं के एकत्रीकरण और फिर युद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा उनके आकस्मिक विस्फोटन का तकनीक स्पष्ट करते हैं; (३) कुछ परिच्छेद पात्रों की अन्तर्कथा-अन्तर्लीला का प्रकाशन करते हैं तथा, (४) कुछ परिच्छेद [विशेषतः तेरहवाँ] हासपरिहास के लिए है, कुछ वीरता के उन्मेष के लिए [१९, ३३, २२, १५] और कुछ दो विरोधी रसों के समतोलन के लिए जिससे कि संघर्षों में तेज़ी आए [१५, २२, २५, ३१]। सबसे अधिक गत्यात्मक ये विरोधी स्थितियों का समतोलन करने वाले परिच्छेद हैं। प्रभाव की दृष्टि से ये कौशल हैं। ये परिच्छेद कथा को अचानक १८०° का विरोधी या विपरीत घुमाव दे देते हैं। इसके अलावा लेखक ने कुछ पात्रों को—विशेष रूप से सीदी मौला को—केवल इतिहास तथा ऐतिहासिक सूचनाओं का डाकिया बना दिया है। अन्य हैं विद्याधर और बोधा। पात्रों का अकस्मात् प्रवेश और गमन—अपटीक्षेप प्रवेश—घटनाओं की स्वाभाविकता की क़ीमत पर गति देता है। इस अपटीक्षेप प्रवेश के अलावा संयोग से मिलन और गमन की पद्धति भी लेखन ने पूर्व उपन्यास की भाँति रखी है; किन्तु काफ़ी कम। लेखक ने जीवनियों और संस्मरणों के कथनों द्वारा बार-बार कथा को काल की दृष्टि से पीछे लौटाया है। इससे गति की धारा थमी है। लेखक ने दो छल भी फैलाये हैं (१) पहला है युवती मैना का पुरुष वेश में मैनसिंह होकर रहना। उसके इस भेद को थोड़े ही पात्र जानते हैं; (१) दूसरा है, बाइसवें परिच्छेद के बाद रानी के जीवित या मृतक होने के चारों ओर भ्रम। इसके बाद यद्यपि रानी तो उपन्यास में प्रत्यक्षतः नहीं आतीं, किन्तु वे नारी शक्ति (सिद्धयोगिनी, विमला देवी) के रूप में राजा को अविश्रान्त प्रेरणा देती रहती हैं।

दोनों प्रकार के परिच्छेदों को मिलाने पर हम पाते हैं कि कथानक के चार वातावरण मूलक खण्ड हैं। पहले खण्ड में (पन्द्रहवें परिच्छेद के अर्धांश तक) नाना भाँति की नाथपंथी, सिद्धपंथी साधनाओं का पूरा प्रभाव और राजा तथा विद्याधर द्वारा समाज संगठन की परिकल्पनाएँ हैं। यह खण्ड फिलम की भाँति चित्र खण्डों से गुँथा है। दूसरे खण्ड में (पन्द्रहवें परिच्छेद के उत्तरार्ध से बाइसवें परिच्छेद तक) इन साधनाओं का विरोध करनेवाली शक्तियों का विस्फोट शुरू होने लगता है। तीसरे खण्ड में (तेइसवें परिच्छेद से इकतीसवें परिच्छेद तक) समष्टिचित्त की क्रियाशक्ति का तेज़ी से सन्धान शुरू होता है। शनैः शनैः समाज का मोह भंग होता है। उपसंहार रूप में चौथे खण्ड (बत्तीसवाँ परिच्छेद) में इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति विखण्डित हो जाती है। देश पुन अनिश्चय और अन्धकार में डूब जाता है। राजा-रानी-मैना-बोधा के रूप में देश की आदर्श और भविष्यधर्मा शक्तियों पर युगरूपी खलनायक का वर्तमान अधिकार कर लेता है। इस तरह यह उपन्यास आदर्शवाद का नहीं बल्कि एक त्रासदी और सामाजिक यथार्थता (Social reality) का अनुसन्धान एवं अभिज्ञान करा देता है।

निष्कर्ष के रूप में हमने 'चारुचन्द्रलेख' की परिचर्चा और मीमांसा **चेतना के विभिन्न धरातलों के आधार** पर की है। प्रमुख धरातल इतिहास दर्शन और उसके अन्तर्गत घटनात्मक इतिहास एवं भावात्मक इतिहास के; सामाजिक दर्शन और उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत राजनैतिक और धार्मिक आलोचनाशील के; वैयक्तिक धरातल और उसके अन्तर्गत अन्तरानुभूति और चरित्रगत विलक्षणताओं के तथा अन्त में कलाशिल्प का धरातल और उसके अन्तर्गत चारित्रिक रूढ़ियों, प्रतीकों, वृत्तियों, प्लॉट, वातावरण आदि के रहे हैं।

सबसे अन्त में हम एक प्रक्षेप देना चाहते हैं। मैनसिंह के पालतू कुत्तों के नाम हैं बाघा और भलुआ। इनमें से बाघा लेखक का ही बाघ की तरह गरजने वाला कुत्ता था। हम इन दो पशुओं को मैना के वैसे ही सेवक मानते हैं, जिस प्रकार मैना राजा की पार्श्वशक्ति थी! बस।

पुनश्च—

लेखक के दोनों 'उपन्यासों' को पढ़ने के बाद हमें यह लगता है कि वे गल्प (फिक्शन) की एक नई विधा की खोज कर रहे हैं। इसीलिए 'आलोचना' के पिछले दो अंकों में हमने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को एक 'कलारूप' सिद्ध किया था, न कि उपन्यास। जिस तरह नाटक और महाकाव्य के तत्त्वों के मेल से उपन्यास विधा का विकास हुआ; नृत्य और अभिनय और गान के मेल से बैले, ऑपेरा और पेंटोमाइम का विकास हुआ; इसी भाँति लेखक ने ललित निबन्धों और कथात्मकता के संयोग से अपनी दो गल्पात्मक कृतियों की रूप-रचना की है। विषयवस्तु के निर्देशन में ही रूप ढलता है। लेखक की विषयवस्तु में कथा, चारुत्व (लालित्य) और निबन्ध (आलोचना, भावोच्छ्वास, भाषण आदि) का मेल है। इसलिए उनकी दोनों कृतियों के आधार पर हम यह प्रपत्ति दे सकते हैं कि उन्होंने उपन्यास से आगे और समानान्तर एक काव्यात्मक विधा की भूमि खोजी है। इस नई विधा को हम 'चारु कथा लेख' कहें—'उपन्यास' नहीं। दोनों कृतियों में चारुत्व अर्थात् सृजनात्मक साहित्य का सौंदर्य गुण है, कथात्मकता (गल्प) भी है एवं लेख (निबन्ध की विविध विधाएँ, जैसे भाषा, आलोचना, पत्र, डायरी, आत्मालाप आदि भी। हिन्दी में इस नई विधा के प्रथम अंकुरण के प्रति सजगता की अपेक्षा है। उपन्यास के चौखटे में फिट करने पर लेखक की दोनों कृतियों के प्रति अपेक्षित मीमांसालोचन नहीं खुल सकेंगे, क्योंकि उनकी रूप-संरचना बदली हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रामगोपालसिंह चौहान

चार नए उपन्यास

[१]

'शुभदा'[1] १८वीं सदी के राजनीतिक और सामाजिक तथ्यों पर आधारित उपन्यास है। यह वह समय था जब अँग्रेज़ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से भारतवर्ष पर अपना प्रभुत्व दृढ़ करने के लिए प्रयत्नशील थे। अंग्रेज़ों के इस प्रयत्न की प्रतिक्रिया में भारतवर्ष के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में तीन धाराएँ उभरती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर तो धीरे-धीरे तीव्र अंग्रेज़-विरोध उभर रहा था। अंग्रेज़ मिशनरी हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता और छुआ-छूत से लाभ उठाकर सतत् एवं द्रुत गति से अपने धर्म और संस्कृति का प्रभाव बढ़ा रहे थे। इस कारण उच्च हिन्दू वर्ग में, विशेषतः ब्राह्मण वर्ग में, अंग्रेज़ों के विरुद्ध घोर आक्रोश उभर रहा था। राजनीतिक अत्याचार इसको और भी बल प्रदान कर रहे थे। दूसरी ओर अंग्रेज़ी भाषा, साहित्य, सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पर्क में आकर अपनी रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास जन्य सामाजिक कुरीतियों की ओर भारतवासियों का ध्यान जाने लगा था। समाज-सुधार के उदार किन्तु दृढ़ प्रयत्न आरम्भ हो गए थे। भारतीय संस्कृति, धर्म, मर्यादा और जीवन मूल्यों की नवीन परिस्थितियों की अनुरूपता में पुनर्स्थापना के प्रयास होने लगे थे। भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण का सूत्रपात हो गया था। राजा राममोहन राय द्वारा ब्रह्म समाज की स्थापना इस दिशा का प्रथम सक्रिय प्रयत्न था। तीसरी ओर अंग्रेज़ी भाषा, शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति के प्रभावस्वरूप भारतीय साहित्य, सभ्यता, संस्कृति आदि के प्रति स्वयं भारतवासियों के एक वर्ग में हीन-भावना का उदय हो चला था। विशेष रूप से अछूत समझे जाने वाले निम्न हिन्दू वर्ग में अंग्रेज़ी शासन, जाति, सभ्यता और संस्कृति की पक्षधर भावना बद्धमूल होती जा रही थी। हिन्दू समाज की इस आन्तरिक तथा हिन्दू-मुस्लिम एवं हिन्दी-उर्दू के भेद-भावों को बढ़ाते हुए और उनका लाभ उठाते हुए भारत भूमि पर अपने चरण मज़बूती से जमाने की अंग्रेज़ नीति सफल होती जा रही थी। १८वीं सदी के इस वातावरण में १८५७ की क्रान्ति की चिनगारियाँ सुलगने लगी थीं। प्रस्तुत उपन्यास में १८५७ से पूर्व की इसी राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति को उपन्यास का रूप दिया गया है।

इस उपन्यास में एक सम्मानित बंगाली ब्राह्मण परिवार की बाल-विधवा शुभदा के जीवन को केन्द्र बनाकर तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति के

१. 'शुभदा' लेखक—आचार्य चतुरसेन शास्त्री; प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। मूल्य : ४ रु० ५० न० पै०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घात-प्रतिघात के बीच 'भारतीयता' के विकासमान स्वरूप के उभार को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अनदेखे और अनभोगे मृत पति की चिता पर सती होने के लिए बाध्य की जाती शुभदा अंग्रेज़ सैनिक अफसर मेकडानल्ड द्वारा चिता पर से अध-जली स्थिति में बचाई जाकर, पादरी जनसन के संरक्षण में रहकर अंग्रेजी भाषा-साहित्य, रहन-सहन, शिष्टाचार-व्यवहार में ढल जाती है। मेकडानल्ड से विवाह भी कर लेती है, लेकिन आचार-विचार और मन से पूर्ण भारतीय बनी रहती है, उसमें नवीन 'भारतीयता' के स्वरूप का प्रस्फुटन होता है। इस केन्द्रीय कथा के गिर्द अनेक प्रासंगिक कथाएँ जुड़ी हुई हैं; जिनमें से अनेक में तो शुभदा की सक्रिय भूमिका प्रस्तुत कर लेखक उन्हें केन्द्रीय कथा का अंग बना सकने में सफलता पा सका है—जैसे गोपाल पाण्डे द्वारा सेना में विद्रोह की चेतना उभारने तथा रानी रासमणि के प्रसंग आदि। लेकिन राजाराममोहन राय तथा झण्डूशाह और मण्डूशाह जैसे प्रसंगादि मूल कथा से असम्बद्ध ही बने रहे गए हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन स्थिति का लेखक द्वारा प्रस्तुत विस्तृत विवरण भी कथा का अंग न बन पाने के कारण कथा के बीच में, थेगली-सा लगता है और कथा की गति को शिथिल बना देता है। यह सारा विवरण कथात्मक रोचकता से रहित निबन्ध जैसा हो गया है। अतः यह उपन्यास शिल्प-गठन की दृष्टि से शिथिल ही कहा जायगा। किन्तु निश्चय ही यह उपन्यास तत्कालीन यथार्थ स्थिति के विषय में पाठक को परिचित कराकर भारतीय नवजागरण की भूमिका को स्पष्ट कर पाता है। यही इस उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता है। इसका मूल कलेवर ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। तत्कालीन परिस्थितियों में संघर्ष के बीच किन दिशाओं की ओर चरण बढ़ाकर भारत प्रगति की ओर बढ़ा है, यह दिखाना ही इस उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य है, जिसे दिखा सकने में निश्चय ही उपन्यासकार को सफलता मिली है।

[२]

'हम तिनके'[1] विद्यार्थी जीवन के छिछले रूमानी प्रेम-प्रसंगों पर आधारित उपन्यास है; जो विद्यार्थी जीवन की यथार्थता से कोसों दूर है। यद्यपि उपन्यास की मूल कथा विद्यार्थी जीवन के बचकाने प्रेमाकर्षणों और संयोग-वियोगों के अति रूमानी छिछले भावुकतापूर्ण प्रसंगों—जो छिछोरेपन की सीमा तक पहुँच गए हैं—से सम्बन्ध रखती है, किन्तु प्रासंगिक रूप से उपन्यास का चित्र-फलक काफी विस्तृत है। लेखक ने उपन्यास के नायक विजय को अनेक स्थितियों में रखकर जीवन के अनेक चित्रों को उभारने की कोशिश की है। लेकिन कोई भी चित्र न तो सत्य बन पाया है और न मार्मिक ही। न जीवन की मूलभूत समस्याओं को प्रस्तुत करने वाला बन पाया है न जीवन के विषम-वैविध्य का ही। न उनमें समाज के विभिन्न स्तर और वर्गों के व्यक्तियों का ही चित्र उभर पाया है और न वातावरण या परिस्थितियों का ही। और न

१. 'हम तिनके': लेखक—रमेश बक्षी; प्रकाशक—न्यू एज पब्लिशर्स प्राइवेट लि०; १२, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट कलकत्ता-१२; मूल्य ६ रु० ५० न० पै०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन विभिन्न स्थितियों में विजय को रखकर आज के जीवन-संघर्ष में विद्यार्थी समा की जीवनगत विडम्बनाओं और समस्याओं का ही मर्मबोधी चित्र बन पाया है। सा चित्रण बड़ा ही सतही बनकर रह गया है। न केवल विजय ही वरन् उपन्यास प्रत्येक पात्र उपन्यास के नाम के अनुरूप विभिन्न परिस्थितियों में तिनके के सम उड़ता फिरता है। जैसे तिनके में अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता, कोई गरिमा न होती, स्थैर्य और दृढ़ता नहीं होती, उसी तरह विजय, शोभा, सुलभा, माउ, न प्रिंस, पंडित, लमते बाबू, पापाजी आदि सभी पात्र व्यक्तित्वहीन, छिछले, छि और हल्के स्तर के हैं। 'तिनके' जैसे छुद्र व्यक्तित्व के। विजय के जीवन का एकम संघर्ष प्रेम की सफलता-असफलता में सपनों की दुनिया में ऊब-चूब होते रहना है।

विजय घर के पास रहने वाली अपने से बड़ी उम्र की एक लड़की भानु साथ पकड़े जाने पर घर से भाग निकलता है और अपने एक मित्र मन्दिर के पणि के साथ रहकर उसके सहयोग से कालेज में दाखिल हो जाता है। वह अपनी पढ़ चलाने के लिए यहाँ-वहाँ नौकरी करता है। लेकिन विद्यार्थी जीवन का यह पह उपन्यास में कोई महत्त्व नहीं रखता। महत्व रखता है केवल कालेज में विजय प्रेम की आँख-मिचौनियों के प्रसंग। जो लड़की उससे ज़रा-सा बात कर लेती है समझने लगता है कि वह उससे प्रेम करती है। और फिर डूब जाता है ख्यालों में लड़कियाँ भी उससे प्रभावित होती हैं (लेखक के इशारे पर, उसके व्यक्तित्व के कार नहीं)। शोभा की ओर से सबसे अधिक बढ़ावा पाकर वह उसके प्रति प्रेम की रं नियों के सपने देखने लगता है। कभी शोभा की उपेक्षा पाकर निराश हो जाता है उपन्यास का सारा कलेवर कालेज के बचकाने प्रेम, परस्पर के ईर्ष्या-द्वेष और रूमा भावुकता आदि के सतही वर्णनों से भरा पड़ा है, जो इतना अयथार्थ है कि वर्तम कालेज-जीवन की समस्याओं के सत्य को भी गहराई और मार्मिकता के साथ चित्रि नहीं कर पाता। विजय तिनके के समान कभी शोभा तो कभी सुलभा के दामन चिपकने की कोशिश करता है और अन्त में भाई-भाभी द्वारा निश्चित की लड़ से विवाह कर तिनके के अस्तित्व से भी हीन हो जाता है। पुराने रूमानी आदर्शवा उपन्यासों में जैसे नायक सर्वगुण सम्पन्न—ऐसा कि हर लड़की उसे देखते ही उस मुग्ध हो जाय—दिखाया जाता था, उसी परम्परा में लेखक ने विजय को दिखाया है वह कवि भी है, सम्पादक का भी कार्य करता है, वक्ता भी है और कलाकार भी और नाक-नक्शा तो आकर्षक है ही। नहीं है तो उसमें—व्यक्तित्व की गरिमा न है, जिसे लेखक अपनी असमर्थता के कारण दिखा सकने में समर्थ भी नहीं हो सक था; जब उपन्यास की सारी थीम ही अत्यन्त हल्के स्तर की है तो नायक में गरिमा कहाँ से आती?

उपन्यास का शिल्प तो कथा से भी अधिक बेजान है। कथा-गति को अवरुद्ध कर वाले अनावश्यक 'डिटेल्स' के अतिरिक्त लेखक की पत्रात्मक आत्म-स्वीकारोक्तिपर आत्म-विश्लेषण की टेकनीक ने तथा अनबूझ नीरस प्रारम्भ ने शिल्प में एक अजी उदासी पैदा कर देने वाला शैथिल्य उत्पन्न कर दिया है। उपन्यासकार यदि आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यार्थी जीवन के बिखराव और समस्याओं का ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर देता तो उपन्यास की कुछ सार्थकता हो जाती।

[३]

'भागते किनारे' एक सिनेमाई कहानी की परम्परा का उपन्यास है। सिनेमा ने जहाँ आज हमारे जीवन को अनेक कोणों से प्रभावित किया है वहाँ उपन्यास की थीम, चरित्र-चित्रण और शिल्प को भी प्रभावित किया है। अनेक 'फार्मूला चित्रों' की भाँति फार्मूला उपन्यास की टेकनीक भी चल पड़ी है। कुछ स्थितियाँ चुन लीं, नायक-नायिका के आकस्मिक मिलन, आकर्षण-विकर्षण के स्थल निश्चित कर लिए, खल-नायक की भूमिका स्थिर कर ली, दो-चार सस्ते सेक्सी या भावना को उत्तेजित करने वाले स्थल चुन लिए और सबको मिलाकर रख दिया—उपन्यास बन गया। वैसे तो 'हम तिनके' और 'एक और अजनबी' भी इसी परम्परा के 'फार्मूला' उपन्यास हैं, लेकिन 'भागते किनारे' पर यह बात बिलकुल ठीक लागू होती है।

प्रस्तुत उपन्यास का सिनेमा-प्रेमी नायक अजीत की भेंट देवदास चित्र की भीड़-भाड़ में भटकी एक लड़की माला से हो जाती है (जो यद्यपि तेरह-चौदह वर्ष की है फिर भी नन्हीं बालिका की तरह रोती दिखाई गई है और अगले ही पृष्ठों में नायक से पूरी समझदार लड़की की तरह बात करने लगती है)। उसे घर पहुँचाने जाकर ही अजीत का उसके परिवार से ऐसा ममत्व हो जाता है, विशेषकर माला से कि सारे जीवन के लिए वह माला के साथ एक आदर्श भावुक प्रेम-बन्धन में बँध जाता है। माला के परिवार में वह, उसकी दीदी लता और उसकी विधवा माँ, बस यही तीन प्राणी हैं। अजीत इस परिवार के इतना निकट आ गया कि माला की माँ उसके साथ लता के विवाह के सपने देखने लगती हैं। लेकिन जब अजीत ने लता द्वारा प्रस्तुत विवाह-प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया तो लता यह समझकर कि वह शायद माला को चाहता है, जल-भुन गई। अजीत के प्रति लता का क्रोध तब भी शान्त नहीं होता जब अजीत उससे स्पष्ट कह देता है कि उसने कभी यह सोचा भी नहीं कि वह माला को अपनी पत्नी बनाएगा। माला के प्रति उसका स्नेह निश्छल है। लता का उसके प्रति क्रोध अजीत और माला के परस्पर प्रगाढ़ होते जाते स्नेह-सम्बन्धों को देखकर और भी उग्र होता जाता है और वह अजीत के मित्र और उसी के द्वारा उस परिवार से परिचित कराये गए राजबाबू से विवाह कर लेती है और अजीत की ओर से राज का मन मैला कर उससे उसका अपमान कराती है। वह निरन्तर प्रयास करती है कि माला और अजीत का मिलना-जुलना बन्द हो जाए। अजीत भी विवाह कर नौकरी कर लेता है लेकिन माला से उसका सम्पर्क निरन्तर बना रहता है। वह उसके आगे पढ़ने का प्रबन्ध करता है। लता यह सब सहन नहीं कर पाती और कह-सुनकर राजबाबू की माँ के एक अधेड़ रिश्तेदार से माला का विवाह करा देती है। माला यद्यपि विवाह नहीं करना चाहती किन्तु अजीत के आग्रह पर तैयार हो जाती

१. 'भागते किनारे' : लेखक—उदयराजसिंह; प्रकाशक—अशोक प्रेस पटना-६; मूल्य : ४ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। माला अपने पति की सेवा और भक्ति करने पर भी उसे अपना प्रेम नहीं दे पाती। यह जानकर उसका पति अन्दर-ही-अन्दर तिल-तिल घुटता हुआ एक दिन सारे प्रयत्नों और माला की अथक सेवा के बाद भी मर जाता है। इस बीच वह निरन्तर अजीत को पत्र लिखती रही, पर अजीत ने एक का भी उत्तर नहीं दिया। पति की मृत्यु के बाद वह अध्यापिका हो जाती है। वहीं पति की मृत्यु की खबर पाकर अजीत उससे मिलने आता है। थोड़े दिनों तक नौकरी करने के बाद माला स्कूल के मैनेजर द्वारा उससे विवाह करने के प्रस्ताव को ठुकराकर स्कूल से इस्तीफा देकर अजीत के पास चली जाती है। उसे लगता है जैसे अब उसे 'किनारा' मिल जाएगा। लेकिन अजीत के यहाँ उसकी उपस्थिति अजीत के चरित्र पर लाँछन बन जाती है और वह एक दिन चुपचाप वहाँ से वापस लौट आती है। माला के जीवन की यह मर्मस्पर्शी कहानी निश्चय ही नारी की विवशताओं को उजागर कर देती है।

[४]

'एक और अजनबी' का आरम्भ पीड़ा से होता है और पीड़ा की तीव्रता में अन्त होता है। लेकिन वह जान-बूझकर ओढ़ी हुई पीड़ा स्पष्ट हो जाती है। पीड़ा कथा का अंग न बन पाने के कारण पाठक को प्रभावित नहीं कर पाती। प्रस्तुत उपन्यास में एक नारी मनील की घुटनपूर्ण ज़िन्दगी की कहानी है। उसकी घुटन का बिन्दु है कि वह एक ऐसी माँ की उपेक्षित सन्तान है जिसने अपनी वासनापूर्ति के लिए उसे अनचाहे उदर में धारण किया और जन्म होते ही लोक-लाज से बचने के लिए उसे फेंक दिया। अपने जन्म की यह स्थिति उसके जीवन में एक कुण्ठा बन गई। पुरुष-मात्र के प्रति उसके मन में एक अविश्वास की भावना भर गई। प्रेम के लिए उसका मन तड़पता है पर किसी पर विश्वास न जम पाने के कारण वह चाहकर भी किसी को अपना प्रेम नहीं दे पाती। वह डॉ० प्रकाश के नज़दीक आती है। यह निकटता परस्पर-आकर्षण, विश्वास और प्रेम का रूप ले लेती है, लेकिन न तो मनील ही उसे स्वीकार और अंगीकार कर जीवन का अंग बना पाती है और न डॉ० प्रकाश ही। दोनों ही जीवन-भर घुटते रहते हैं और उसी घुटन में दोनों का जीवन समाप्त हो जाता है। दोनों क्यों नही मिल पाते ? लेखक दोनों के जीवन की इस विवशता को पूरी मार्मिकता के साथ उभार नहीं पाता। इसीलिए प्रकाश और मनील के जीवन की सारी पीड़ा अकारण, कृत्रिम बनकर रह जाती है। वह पीड़ा पाठक की दया का विषय तो बन पाती है पर सहानुभूति को नहीं जगा पाती।

प्रस्तुत उपन्यास का शिल्प अत्यन्त शिथिल है। अनावश्यक 'डिटेल्स' भरे पड़े हैं, जैसे—"हमारे घर से सिविल-लाइन्स तक बस पाँच मिनट का रास्ता है। इसलिए हम पैदल ही टहलते हुए गये।" जहाँ-तहाँ वाक्य-रचना भी बड़ी अनगढ़ है, जैसे—"मैंने कोट हाथ में ली और घर में ताला बन्द करके बाहर सड़क पर आए।" उपन्यास डायरी शैली में लिखा गया है। उपन्यास अति सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ पाता।

---

१. 'एक और अजनबी' : लेखक–सुरेश सिनहा; प्रकाशक–ममता प्रकाशन, इलाहाबाद; मूल्य ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवप्रकाश गुप्त

अर्ध-शती

आलोच्य काव्य-पुस्तिका 'अर्धशती' १९६४ का सुपरिष्कृत, परिमार्जित एवम् रसानुभूतियों का संपृक्त प्रकाशन है। प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार "इन कविताओं के लिए परिचय की अपेक्षा नहीं, जैसे प्रवाल के दानों के लिए या गंधराज के टटके फूलों के लिये नहीं होती" बहुत हद तक सार्थवाह लगता है। इसमें हिन्दी के प्रौढ़ हस्ताक्षर बालकृष्णराव की १९५८ से १९६३ तक की समय-समय पर लिखी कविताएँ संग्रहीत हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह कवि के स्वानुभूत तात्विक क्षणों की सार्थकता से पाठकों का आत्मसाक्षात्कार कराती है। सचमुच 'अर्धशती' आज की नयी कविता की चक्रवाली बौद्धिकता से हटकर रसात्मक, शालीन एवं स्वच्छ आत्माभिव्यक्ति की ऐसी स्वर्ण किरण है जिसकी स्वर्णिमा में जीवन-मुक्ति स्पष्टतया आभासित है। ये खण्डित यात्राएँ भी नहीं जिनके गन्तव्य-द्वार तक परिस्थितियाँ और परिस्थितियाँ ही छाई हुई हों। युग-बोध की सशक्त अभिव्यक्ति और मोहक अभिव्यंजनाओं से शृंगारित यह काव्यकृति गेयता (Lyricism) को जैसे नवीन परिभाषा से समलंकृत करती है। तुकांत काव्य में गीत-तत्व की उपादेयता सभी स्वीकार करते हैं। 'अर्धशती' गेय-तत्व, रसात्मकता तथा शक्ति-शिल्प की परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ती है और स्वयम् के लिए ठोस धरातल का भी निर्माण करती है। ये पचास कविताएँ कवि की अर्धशती के शुभावसर पर प्रकाशित की गई हैं। रचनाओं से स्पष्ट है कि कवि ने छायावाद के सौन्दर्य-बोध को मौलिक अभिव्यक्तियों से शृंगारा है। आज तो तथाकथित नये हस्ताक्षरों का एक वर्ग छायावाद की शव-परीक्षा में जुटा हुआ है और पाश्चात्य सिद्धान्तों का स्लोगन देकर जूठी मान्यताएँ अपने पाठकों पर जबरन मढ़ना चाह रहा है। बालकृष्णराव की इस समीक्ष्यकृति में छायावाद का सूक्ष्म सौन्दर्य इस सप्राणता के साथ विद्यमान है कि कहीं-कहीं ये संवेदनाएँ इस प्रकार उभर जाती हैं जो बड़ी व्यग्रता से झेली जाती हैं और कुछ कहा भी नहीं जाता।

कवि समाज का द्रष्टा ही नहीं, भविष्य सृष्टा भी होता है। इस आवश्यक सम्भावना का भी सहज साधर्म्य 'अर्धशती'[१] में समन्वित है। वर्तमान जीवन पीड़ा, विवशता, कुण्ठा, अज्ञानता एवं भ्रमपूर्ण उत्तेजना आदि सामान्य उपकरण हैं जो आज की ऐसी समग्र संभावनाओं के साथ मिलकर एकीकृत हो गया है। 'गरमियों की एक शाम', 'शाम हो गई', 'धुरी हो या चक्रनेमि' एवम् 'मध्याह्न'—जैसी वस्तुपरक एवम् प्रभावक्षम रचनाओं में कवि की स्वानुभूति सहज ढंग से उठ-उभर सकी है और हमें

१. अर्धशती, लेखक बालकृष्णराव, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, मूल्य ३.००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान जीवन की सर्पीली 'अन्ध-अवस्थिति' तथा 'निर्जीव अन्धी मान्यता' पर कुछ सोचने-विचारने को विवश करती है। संग्रह में ऐसे कुछ स्थलों पर कवि ने अपना नाम बिम्बवादियों (Imagist) में न लिखवाकर सृजनात्मक अनुभूतियों (Creative expressions) को उत्तरोत्तर मुखरित करने में ही अपनी सफलता मानता रहा है। वह व्यक्तित्व की खोज (Quest for personality) में निरंतर प्रयत्नशील है। यों कहें 'आत्मसीम' होकर भी कवि आत्मबोध के प्रति जागरूक है और उसे साफ अनुभव हो रहा है कि आज के मानव की रात जैसे 'बीमार की एक रात' है। वह अपनी समस्त संवेदनाओं को लोकोत्तरता की ग्रन्थियों में बाँधते हुए भी कह उठता है :

"ऐसी कभी दीखीं नहीं दिन में
स्नेहभरी
कोई दुराव जैसे शेष नहीं
नग्न हो गई है मुझे अपना समझ कर
लगता है
इनसे घिरा नहीं हूँ, इनका हूँ।"

(पृष्ठ ४८)

कवि-कर्म की परिणति वर्तमान के चिन्तन मात्र से ही शेष नहीं हो जाती और न ही वह तीव्र अनुभवगम्यता को छोड़कर भाग खड़ी होती है। वह तो अन्तर्मन में व्याप्त आकुलता एवं मुक्ति के लिए व्यग्र उर्जस्विनी आत्मा की उस पवित्र पारदर्शी रश्मियों का भी दर्शन कराती हैं जो एक झटके के साथ असमंजस-भरे अन्धकार के बाँध को तोड़कर वेगवती होकर बहने लग जाती है। सच है, कवि प्रच्छन्न वेग के साथ आज के मानव को 'पाषाण कारा' से भी मुक्त करना चाहता है। वह वर्तमान के प्रति भले ही थोड़ा घिरा-घिरा हो, पर आगामी कल के प्रति वह पूर्णतः आशावान् है और घिरे आकाश की चिन्ता न कर वह इस हद तक आशान्वित है कि इन्हीं घटाओं में "अब जब-जब मुस्कराने का अवकाश" उसके अन्तरस्थित मानव को अवश्य प्राप्त होगा।

संग्रह में प्रकृति के भी मधुर चित्र हैं। यह चित्रोपमता कवि की उदात्त प्रौढ़ता और तीव्र अनुभूति की रसात्मक अभिव्यक्ति है। 'आई उमस असाढ़ की', 'शाम हो गई' एवम् 'खो ही गया होगा चाँद' आदि गीतवर्णी (Lyrical) रचनाएँ उसी परम्परा में परिगणित की जा सकती है। कवि की 'मीलदेवी' जैसी सशक्त रचना युग की नवीन देवी की अवतारणा-प्रतिष्ठा करती हुई मनुष्यता को आत्मनिर्भरता और साहसिक श्रम की ओर उन्मुख करती है।

कोई भी कविता कैसी ही क्यों न हो भावक-वर्ग की सहमति की अपेक्षा तो रखती ही है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल'[1] के प्रारम्भ में भी महाकवि कालिदास ने ऐसी साफ इंगिति दी है कि कला के सौजन्य से अभिभूत आत्मचेता प्रयोग भावक-वर्ग से

१. आप रितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्णतः सहमति की अपेक्षा रखता है।

अस्तु, इस निकष पर भी संग्रह की अधिकतर कविताएँ पर्याप्त संवेदनशील, ग्रहणशील एवं नये मूल्यों के स्थापनार्थ नये आयाम (New Dimensions) चित्रित करने में प्रयत्नशील हैं। सचमुच 'स्वर की समर्थ बाँह' गहती हुई ये कविताएँ मर्म की बात करती हैं। इस प्रकार 'अर्धशती' काव्यजनित नवीन सम्भावनाओं के अरुण द्वार खोलने में पूर्णतः समर्थ हो पाई है—इसमें दो मत नहीं हो सकते।

संग्रह में वर्ड्‌स्वर्थ, वाल्ट ह्विटमैन एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कतिपय महत्वपूर्ण रचनाओं का भी अनुवाद दिया गया है पर यदि हम कवि के अनुवादक रूप को न देखकर मूल रूप को ही आत्मसात् करें तो अधिक सन्तोष मिलेगा। निर्जन समुद्र-तट पर बहनेवाली 'ब्रीज़' की तरह कुछ कविताएँ तो मर्म को छू-छू जाती हैं। कवि से पूर्ण-शती की भी अपेक्षा की जाती है।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

कविसमय-मीमांसा[1]

भारतीय साहित्य-शास्त्र में प्राचीन काल से कतिपय अशास्त्रीय अलौकिक एवं परम्परागत पदार्थों का वर्णन होता रहा है। इस प्रकार के अलौकिक या विचित्र वर्णन को कवि-समय नाम से व्यवहृत किया जाता है। अंग्रेजी में इस अभिप्राय का वाचक 'पोइटिकल कनवेनशन' शब्द है। देश-काल आदि के विरुद्ध, लोकाचार और व्यवहार के विपरीत कभी-कभी कवि ऐसे विलक्षण अर्थ और पदार्थ प्रस्तुत करते हैं जो हमें इस दृश्यमान् जगत् में उपलब्ध नहीं होते। ऐसे वर्णन बड़े-से-बड़े कवियों की श्रेष्ठतम रचनाओं में भी प्राप्त होते हैं। फलतः सामान्य पाठक की जिज्ञासा होती है कि विवेक-बुद्धि समन्वित कवि ने इन असंभाव्य पदार्थों का वर्णन क्यों किया। यदि इनकी बौद्धिक धरातल पर परख की जाय तो निश्चय ही इनकी निस्सारता सिद्ध होगी और हम इन्हें कवि कल्पित मिथ्या पदार्थ ही ठहरायेंगे। किन्तु प्राचीन परिपाटी का अनुसरण करने के कारण आधुनिक वैज्ञानिक युग में भी हम कवियों को ऐसे अर्थ एवं पदार्थों के वर्णन में फँसा देखते हैं। तब यही निष्कर्ष निकलता है कि यह कवि-परिपाटी है, कवि-समय है, काव्य-रूढ़ि या कवि-प्रौढ़ोक्ति मात्र है। 'कवयः किं न जल्पन्ति' के प्रवाद की सृष्टि कदाचित् 'कविसमय' के असत् वर्णनों को देखकर ही हुई होगी या 'कविसमय' का आधार पाकर कवियों ने अपनी कल्पना को व्यापक तथा जल्पना को असीम बनाया होगा।

'कविसमय' काव्य-शास्त्र का एक प्रकरण बन चुका है। इसके भीतर उन समस्त

१. 'कविसमय-मीमांसा', लेखक विष्णुस्वरूप, प्रकाशक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; मूल्य : ८ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्-असत् कल्पनाओं को समेट लिया गया है जो असंभाव्य एवं अलौकिक प्रतीत होती हैं । किन्तु इन्हें असीम और अनगिनत बनाने से बचाने के लिए 'कविसमय' को काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में परिगणित कर परम्परित एवं परिपाटीवद्ध भी कर दिया है ताकि मनमाने ढंग से इस प्रकार के वर्णनों को प्रश्रय न मिलता रहे । यों तो प्रत्येक देश और प्रत्येक भाषा के साहित्य में कुछ वर्णन ऐसे होते हैं जो कविसमय (पोइटिकल कनवेशन) कहलाते हैं किन्तु संस्कृत साहित्य में इनका विस्तार से वर्णन हुआ है। सबसे पहले इसे शास्त्रीय शैली में वर्णित करने का श्रेय काव्य मीमांसाकार राजशेखर को प्राप्त है : उनके बाद और भी कई आचार्यों ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत 'कविसमय-मीमांसा' ग्रन्थ काशी विश्वविद्यालय का एक शोध-प्रबन्ध है जिसमे कविसमय की सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक धरातल पर गवेषणात्मक शैली से विवेचना की गई है ।

शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर्ता श्री विष्णुस्वरूप ने कविसमय-मीमांसा को अपने अनुसन्धान का विषय चुनते समय इसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर कदाचित् ध्यान दिया होगा । संस्कृत तथा हिन्दी काव्यों में कविसमय का प्रचुर प्रयोग देखकर ही लेखक ने इसकी वैज्ञानिक व्याख्या का विचार किया होगा । मैं अनुभव करता हूँ, इस प्रकार के शास्त्रीय विषयों का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन-विश्लेषण अवश्य होना चाहिए । लेखक महोदय ने इस विषय की मीमांसा करते समय कहाँ तक न्याय किया है इस पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। संक्षेप में शोध-प्रबन्ध के वर्ण्य-विषय का परिचय देकर ही मैं इसके नीर-क्षीर विवेक की चेष्टा करूँगा ।

प्रबन्ध के प्रारम्भ में, दो शब्द, कृतज्ञता-ज्ञापन तथा निवेदन के अतिरिक्त एक लम्बी १८ पृष्ठ की प्रस्तावना दी गई है । इस प्रस्तावना में लेखक ने विषय का महत्व और सीमा विस्तार तथा इस क्षेत्र में हुए कार्य का सिंहावलोकन किया है। प्रस्तुत कार्य का लक्ष्य, अनुसन्धान प्रणाली, प्रबन्ध योजना, निष्कर्ष और उपलब्धियाँ भी प्रस्तावना में ही समाहित हैं। निस्सन्देह इन प्रस्ताविक पृष्ठों में लेखक ने शोध परक दृष्टि से विचार-विमर्श पूर्वक अच्छी सामग्री जुटाई है किन्तु निवेदन को प्रस्तावना से पृथक् रखने का कारण मेरी समझ में नहीं आया । निवेदन के पाँच पृष्ठ भी प्रस्तावना के साथ सम्पृक्त होने चाहिए थे । निवेदन में लेखक ने काव्य-रूढ़ियों के भेदों का संकेत देकर उन्हें कविसमय से बाहर ठहराया है । यह प्रश्न प्रस्तावना में रहना चाहिए था । और इस पर व्यापक प्रकाश अपेक्षित था । यह ठीक है कि काव्य-रूढ़ि सर्वतोभावेन कविसमय नहीं है किन्तु उसके व्यावर्त्तक धर्म का उद्घाटन किये बिना हम कोई निर्णय नहीं दे सकते । रूढ़ियों में पिष्टपेषण रहता है; काव्य-रूढ़ियाँ लीक पर आरूढ़ करने का इंगित भी करती हैं; किन्तु क्या कविसमय में पिष्टपेषण और लीक का अनुमोदन नहीं है ? वस्तुतः काव्य-रूढ़ि और कवि-प्रौढ़ोक्ति या कविसमय का पार्थक्य तर्क, युक्तिप्रमाण पुरस्सर प्रस्तुत करके ही स्वमन्तव्य की स्थापना करनी चाहिए थी ।

लेखक ने शोध-प्रबन्ध को दो खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैद्धान्तिक पक्ष अर्थात् कवि-समय का शास्त्रीय स्वरूप प्रतिपादित करने वाला है। दूसरे खण्ड में व्यावहारिक पक्ष अर्थात् कवि-प्रसिद्धियों का प्रमाणपूर्वक वर्णन किया गया है। सैद्धान्तिक पक्ष में कवि-समय शब्द का अर्थ और परिभाषा दी गई है। राजशेखर ने कविसमय को काव्य-मीमांसा में समाविष्ट कर सीमा-मर्यादा को आबद्ध क्यों किया यह प्रश्न दो कारणों से पाठक के सामने आता है। पहला कारण तो यह है कि क्या राजशेखर से पूर्व इस विषय का कहीं वर्णन नहीं हुआ था और दूसरा प्रश्न है कि राजशेखर ने इसे लिखना क्यों आवश्यक समझा। श्री विष्णुस्वरूप ने इस सम्भावित प्रश्न की कल्पना नहीं की, अतः समाधान भी प्रस्तुत नहीं किया। मेरा अनुमान है कि कविसमय का प्रतिपादन करने वाला कोई-न-कोई ग्रन्थ राजशेखर से पहले भी रहा होगा जिसके लुप्त या अप्रचलित होने से राजशेखर को इस विषय का सविस्तार वर्णन करना अभीष्ट प्रतीत हुआ। काव्य-मीमांसा के चौदहवें अध्याय के प्रारम्भ में ही कविसमय की परिभाषा में राजशेखर ने लिखा है—"अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातंयमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।" इस परिभाषा के बाद ही शंका प्रस्तुत की गई है कि शास्त्र और वेद दोनों से रहित मनमानी बातों का उल्लेख करना तो दोष है। ऐसी दोषयुक्त वस्तु का उल्लेख उचित नहीं है। इसके उत्तर में राजशेखर कहते हैं कि इसके (कविसमय) द्वारा कवियों का उपकार होता है। यह काव्य का मार्गदर्शक है, अतः दोष कैसे माना जा सकता है? इस शंका के बाद ही राजशेखर ने दोष निराकरण के लिए वेद-शास्त्र आदि का प्रमाण देकर अपने मन्तव्य की स्थापना की है। राजशेखर ने यह भी अनुभव किया था कि कविसमय के नाम से जो वस्तु-पदार्थ विख्यात हैं उनमें कुछ धूर्तों ने स्वार्थ या प्रतिस्पर्धा के कारण भी समाविष्ट कर ली हैं। उनका भविष्य में निरोध करने के लिए वर्णन एवं वर्गीकरण आवश्यक है।

'कविसमय' के भीतर गृहीत वस्तु नितान्त अस्तित्वहीन अथवा मिथ्या नहीं होती, यह सिद्ध करने के लिए लेखक ने दो-एक पदार्थों का उल्लेख प्रमुख प्रवृत्तियों के भीतर किया है। मेरी अपनी सम्मति में इस स्थापना को स्वीकार्य बनाने के लिए लेखक को और अधिक प्रसंगों को उदाहृत करना चाहिए था। वस्तुतः पदार्थ का अस्तित्व तो कहीं-न-कहीं होता है किन्तु वैसा प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं होता जैसा काव्य में वर्णित होता है। कवि अपनी कल्पना से उन पदार्थों को नया रूप देकर कविसमय के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। परम्परा से पाठक का उनसे परिचय होता है। अतः असम्भावित या विचित्र होते हुए भी वह उन्हें रूढ़ मानकर ग्रहण कर लेता है। 'कविसमय' वस्तुतः एक प्रकार की शिक्षा है जो परम्परा के समझने में सहायक होती है। यह एक ऐसी छूट है जिसे स्वीकार कर कवि अपनी कल्पना को उन्मुक्त कर सकते हैं, किन्तु एक सीमा के भीतर ही उड़ने का नियम कविसमय में है।

'कविसमय-मीमांसा' में व्यावहारिक पक्ष का आधार कवि-प्रसिद्धियाँ हैं। कवि-प्रसिद्धियाँ अनेक वर्गों में विभक्त हैं—वनस्पति वर्ग, वृक्षदोहद, पक्षिवर्ग, रत्नवर्ग, वारिवर्ग, आकाशवर्ग, वर्णवर्ग (रंग), संख्यावर्ग, स्वर्ग्यवर्ग, पातालीयवर्ग। इन वर्गों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अतिरिक्त भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी तथा देवताओं और मनुष्यों सम्बन्धी कविसमय भी उपलब्ध होते हैं। प्रबन्ध-लेखक ने इन्हीं वर्गों के पदार्थों और वस्तुओं का ब्यौरेपूर्वक प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया है। उपसंहार में हिन्दी काव्य के कविसमय की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। कदाचित् इस उपसंहार के जोड़ने से ही लेखक का यह शोध-प्रबन्ध हिन्दी की सीमाओं में आ सका है। हिन्दी के व्यावहारिक पक्ष का उपयोग तो यथास्थान हुआ है किन्तु सिद्धान्तों में हिन्दी का वर्णन नहीं है। सम्भवतः उसके लिए अवकाश भी नहीं था क्योंकि 'कविसमय' मूलतः संस्कृत का ही विषय था जिसे प्रायः ज्यों-का-त्यों हिन्दी में स्वीकार कर लिया गया।

'कविसमय मीमांसा' से पूर्व इस विषय में हिन्दी में जो कार्य हुआ है लेखक ने उसका पूरी तरह अध्ययन नहीं किया। खेद है कि दो विद्वानों की प्रसिद्ध पुस्तकों का तो लेखक महोदय ने नामोल्लेख तक नहीं किया। पहली पुस्तक है श्री जगन्नाथ दास भानु रचित 'काव्य प्रभाकर'। काव्य प्रभाकर के एकादश मयूख में 'निबन्धन-विधि' शीर्षक से कविसमय का वर्णन है। सत, असत, नियम निबन्धन के अतिरिक्त भानुजी ने विकल्पेन निबन्धनीय का भी वर्णन किया है। भानुजी ने 'लक्ष्मीश्वरभूषण' तथा 'मन्दारमरन्द' के आधार पर अपना कविसमय लिखा है। 'कविसमय-मीमांसा' के लेखक ने न तो भानुजी का ग्रन्थ देखा और न उपर्युक्त दोनों मूल ग्रन्थों का ही अनुशीलन किया। दूसरा ग्रन्थ जिसमें कविसमय का वर्णन है, डा० गंगानाथ झा लिखित 'कवि रहस्य' है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९२९ में हिन्दुस्तानी अकादेमी द्वारा हुआ था। इतने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ से भी लेखक अपरिचित है, यह आश्चर्य की बात है। हिन्दी में हुए पूर्व कार्य के संकेत में लेखक ने डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय और दिवाकरमणि त्रिपाठी का ही नाम दिया है। भानुजी और डॉ० झा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों का ज्ञान न होना अनुसन्धान विधि की अपूर्णता का द्योतक है। इस प्रकार की भयंकर त्रुटियाँ शोध के क्षेत्र में अक्षम्य हैं।

संक्षेप में, 'कविसमय-मीमांसा' का आद्योपान्त अध्ययन करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि विद्वान् लेखक ने एक प्राचीन काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त की मीमांसा प्रस्तुत कर प्रशंसनीय कार्य किया है। व्यावहारिक पक्ष में हिन्दी के नये-पुराने कवियों के काव्य-ग्रन्थों से उपयुक्त उदाहरण चयन करने में लेखक ने अपनी सूझ-बूझ का अच्छा परिचय दिया है। यदि शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर कार्य किया जाता तो निश्चय ही यह ग्रन्थ और अधिक प्रामाणिक एवं उपादेय बन सकता था। विस्तार की दृष्टि से भी विषय के साथ न्याय तभी होता जब इसके प्रत्येक वर्ग को हिन्दी के काव्य-ग्रन्थों से उदाहृत किया जाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल प्रकाशन की नई पुस्तकें

१. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक :

डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
तथा पं० पृथ्वीनाथ द्विवेदी १०.००

'दशरूपक' और उसकी वृत्तियों का अधिकारपूर्ण विश्लेषण, निरूपण और स्पष्टीकरण। साथ में नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा पर पांडित्यपूर्ण एक निबन्ध। धनिक की मूल वृत्ति भी।

२. चारु चन्द्रलेख : डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी १२.००

१२वीं-१३वीं शती के भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखा गया सप्राण उपन्यास जिसका कथ्य वर्तमान के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

३. चौरंगी : शंकर प्रेस में

कलकत्ता की वैभवशाली नगरी के आँखों को चकाचौंध करने वाले केन्द्र—चौरंगी—में घटने वाले जीवन के स्पन्दन को इस उपन्यास में रेखांकित किया गया है।

४. मानविकी पारिभाषिक कोश :

प्रधान सम्पादक : डॉ० नगेन्द्र
साहित्य खण्ड : सम्पादक डॉ० नगेन्द्र प्रेस में
दर्शन खण्ड : सम्पादक डॉ० वी० एस० नर्वाणे प्रेस में
मनोविज्ञान खण्ड : सम्पादक डॉ० पद्मा अग्रवाल प्रेस में

५. अंग्रेज़ी-हिन्दी पर्यायवाची कोश :

डॉ० बद्रीनाथ कपूर प्रेस में

६. अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश : फ़ादर सी० बुल्के प्रेस में

७. छोटे-छोटे सवाल : श्री दुष्यन्तकुमार प्रेस में

संवेदनशील कवि श्री दुष्यन्तकुमार का प्रथम उपन्यास।

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६ साइंस कॉलेज के सामने, पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल की गौरवशाली परम्परा में एक और अभिवृद्धि

श्री सुमित्रानंदन पंत

द्वारा रचित

लोकजीवन का महाकाव्य

लोकायतन

जिसमें आपको मिलेगा प्राचीन जीवन-मर्यादाओं का जीवन्त चित्रण, वर्तमान युग-जीवन का विकासकामी संघर्ष, भारतीय स्वतन्त्रता का संग्राम और गांधीजी का पर्वताकार व्यक्तित्व। नवीन आलोक-रेखाओं में चित्रित इस महान कृति में कवि ने अपने प्रौढ़-जीवन की अनुभूतियों का निचोड़ प्रस्तुत किया है।

- पृष्ठ संख्या लगभग ७०० • डिमाई आकार •
- कपड़े की पक्की जिल्द •
- सुन्दर एवं कलात्मक आवरण से सुसज्जित •

★

मूल्य २५ रुपये मात्र

★

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०

८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६ साइंस कॉलेज के सामने, पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

श्री ओंप्रकाश, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए श्री सत्यप्रकाश गुप्ता द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

३० आलोचना

R
054
दि 3607 आ
अं-30, पृ-

और प्रतिबद्धता	शिवदानसिंह चौहान
: छंद	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
लोकचेतना	डॉ० बेचन
यिकाओं का विकास-क्रम	डॉ० सुरेश सिन्हा
आचार्य वाजपेयी का निराला-विषयक विवेचन	धनंजय वर्मा
मानस का समाज-दर्शन : कुछ तत्व	कृष्णबिहारी मिश्र
विश्वविद्यालय और समकालीन साहित्य	गोपालकृष्ण कौल
	डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित
	डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय
ब्रेख्ट का थियेटर	बलवंत गार्गी

राजकमल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

२९ नवांक ४ अप्रैल, १९६४

अंक मूल्य १२)
क अंक का ३)

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री से पाने के लिए १४)

सूची

● *सम्पादकीय*

—लेखक की 'स्वतंत्रता' और 'परिसम्बद्धता' १

● *सिद्धान्त-विवेचन*

—सिसृक्षा का स्वरूप
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ७

—... आधुनिकता और लोक-चेतना
...० बेचन १४

—पाश्चात्य और हिन्दी की नई कविता में सांस्कृतिक विघटन
गोविन्द रजनीश २१

—सामाजिक कथा-नायिकाओं का विकास
डॉ० सुरेश सिनहा ३०

—नई कविता की भाषा : शब्द-प्रयोग पर एक विहंगम दृष्टि
डॉ० सियाराम तिवारी ५३

—आचार्य वाजपेयी का निराला-विषयक विवेचन
प्रो० धनञ्जय वर्मा ६६

● *विश्व-साहित्य*

—कामू की कला
प्रकाशचन्द्र गुप्त ७६

● *पुनर्मूल्यांकन*

—मानस का समाज-दर्शन : कुछ तत्व
कृष्णबिहारी मिश्र ८२

● *प्रस्तुत-प्रश्न*

—विश्वविद्यालय और समकालीन साहित्य
गोपालकृष्ण कौल
डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित,
डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय १०२

● *मूल्यांकन*

—चार चन्द्रलेख
डॉ० रमेश कुन्तल मेघ १२०

—चार नए उपन्यास
डॉ० राजगोपालसिंह चौहान १३८

—अर्ध-शती
देवप्रकाश गुप्त १४३

—कविसमय मीमांसा
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक १४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

सम्पादकीय

लेखक की स्वतन्त्रता और प्रतिबद्धता

शीत-युद्ध के पाश्चात्य संचालकों ने उन उदात्त शब्दों के परम्परागत अर्थों को विकृत करके और उनमें विपरीत अर्थ-ध्वनियाँ और आशय भरकर, जिनके प्रति जन-साधारण के मन में सहज अनुराग और आस्था थी, जो उनकी मुक्तिकामी, प्रगतिशील आकांक्षाओं को स्वरित करते थे और शताब्दियों से दार्शनिक चिन्तन और जन-संघर्ष के लक्ष्य बने हुए थे पिछले पन्द्रह वर्षों में भाषा, संस्कृति और मनुष्य की पुनीत भावनाओं के साथ ऐसा बलात्कार किया है जिसकी तुलना हिटलर के समय जर्मनी में पुस्तकों की होली जलाने से ही की जा सकती है।

शीत-योद्धाओं के शब्द-कोश में 'स्वतन्त्रता से प्रेम' का अर्थ है, 'समाजवाद से घृणा'। 'स्वतन्त्र-जगत्' का अर्थ है, पाश्चात्य-जगत् के पुराने साम्राज्यवादी देश और एशिया-अफ्रीका-अमरीका के वे देश, जो या तो अभी तक उनकी औपनिवेशिक गुलामी में हैं या उनके आर्थिक प्रभुत्व में हैं और, 'प्रजातन्त्र' का अर्थ होता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाली जाति-भेद, रंग-भेद, नस्ल-भेद, वर्ग-भेद-जैसी अमानवीय और बर्बर कुत्साओं को अक्षुण्ण रखकर उनको और भी प्रोत्साहन देनेवाला फ़ासिस्ट क़िस्म का सैनिक अथवा पूंजीवादी प्रशासन, जो उद्योगपतियों और ज़मींदारों के आर्थिक स्वार्थों की रक्षा करे और स्वतन्त्रता, बराबरी और एकता के लिए लड़नेवाली भूखी और दुखी जनता की आवाज़ को दबाने की ख़ातिर लाखों 'व्यक्तियों' का क़त्ल करने में भी आना-कानी न करे।

मनुष्य के हृदय में पुनीत सामाजिक लक्ष्यों की झंकार पैदा करनेवाले इन शब्दों के ऐतिहासिक अर्थों को बिलकुल बदलकर या कहें कि अपने 'नूतन-उपनिवेशवादी' उद्देश्यों को छिपाने के लिए इनको आवरण के रूप में इस्तेमाल करके, साम्राज्यवादियों ने पिछले पन्द्रह सालों में कितने षड्यन्त्र और कितने हत्या-काण्ड रचे हैं, कितने देशों को युद्ध की भट्टी में झोंका है और कितने देशों का बँटवारा करवाया है, इस इतिहास को दोहराने की ज़रूरत नहीं है। गोयबल्स का विश्वास था कि प्रचार के बल पर असत्य को सत्य के रूप में मनवाया जा सकता है। शीत-युद्ध के संचालकों का भी कुछ ऐसा ही विश्वास है कि 'स्वतन्त्रता', 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता', 'स्वतन्त्र-जगत्' और 'प्रजातन्त्र' का जय-घोष करते हुए वे अपने डॉलरों से हर चीज़ ख़रीद सकते हैं—व्यक्ति और राष्ट्र की आत्मा भी। और जो व्यक्ति, पार्टी या आन्दोलन ख़रीदा नहीं जा सकता उसे 'कम्युनिस्ट' या 'कम्युनिस्ट-प्रेरित' कहकर वे उसे जन-साधारण की दृष्टि में 'स्वतन्त्रता-विरोधी' सिद्ध कर सकते हैं और ज़रूरत पड़े, तो उसे हथियारों से कुचलने का नैतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थन पा सकते हैं ।

शीत-योद्धाओं की जो उपलब्धि है और लेखक के नाते जिससे हमारा सीधा सम्बन्ध है, वह यह कि वे तथाकथित 'स्वतन्त्र-जगत्' (फ्री वर्ल्ड) के अधिकांश देशों में, यहाँ तक कि उन सभी नये आज़ाद देशों में भी, जिन्होंने गुटों से दूर रहकर 'निष्पक्षता' की नीति अपनाई है, बुद्धिजीवी वर्ग के एक भाग को, विशेषकर तरुण पीढ़ी के लेखकों, चित्रकारों और अध्यापकों को गुमराह करने में सफल हुए हैं । तात्पर्य यह कि पश्चिम के शीत-योद्धा 'स्वतन्त्रता', 'स्वतन्त्र-जगत्' और 'प्रजातन्त्र' जैसे शब्दों में जो नये, विपरीत और विकृत अर्थ भरकर प्रचारित करते हैं, इतिहास-ज्ञान और अनुभव की कमी के कारण बुद्धिजीवियों के एक वर्ग ने उनको ही 'सत्य' स्वीकार कर लिया है । इस स्वीकृति को हर बिकाऊ व्यक्ति-विशिष्ट के लिए काम्य और अस्तित्ववादी दृष्टि से लाभदायक बनाने की ख़ातिर विभिन्न डॉलर-सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, फाउन्डेशन्स तथा उनकी राष्ट्रीय शाखाओं की ओर से अनेक रूपों में जो आर्थिक सहायता बाँटी जाती है, उसने 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' और सामाजिक कार्यों और उद्देश्यों से व्यक्ति (विशेषकर लेखक और कलाकार) की 'असम्बद्धता' को जीवन का सर्वोच्च मूल्य घोषित करनेवाले इन 'विशिष्ट' व्यक्तियों को हर देश में और फिर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शीत-युद्ध के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए 'परिसम्बद्ध' होने यानी राष्ट्रीय आज़ादी, समाजवाद तथा अन्य प्रगतिशील जनवादी उद्देश्यों और विचारधाराओं के विरुद्ध शीत-युद्ध की प्रचार-मशीन का अंग बनने की 'अन्तः प्रेरणा' प्रदान की है और उनके मनोजगत् को इस 'नये भाव-बोध' और एक 'नई संवेदनशीलता' से सम्पन्न बनाया है !

समाजवादी देशों को छोड़कर बाकी सारे संसार में और विशेषकर पाश्चात्य साम्राज्यवादी देशों में, आज अस्तित्ववादी-दर्शन का इतना व्यापक प्रसार क्यों है ? हर व्यक्ति केवल 'अपनी' 'सुख-सुविधा' के लिए ही अपने को क्यों ज़िम्मेदार समझता है ? वह समाज के जीवन से अपने को विच्छिन्न क्यों महसूस करता है ? आज बुद्धिजीवी-वर्ग में इतनी निराशा, इतना अवसाद, इतनी कुण्ठा और मानव-इतिहास, साहित्य और कला की परम्परा और मानववादी आदर्शों और प्रयोजनों के प्रति इतनी अनास्था और उपेक्षा क्यों है ? सामाजिक मूल्यों और नैतिक मान्यताओं का इतनी तेज़ी से विघटन क्यों हो रहा है ? व्यक्ति की मानवीय संवेदनाओं का क्षेत्र इतना संकीर्ण और आत्म-सीमित क्यों होता जा रहा है ? सेक्स के उत्तेजनापूर्ण क्षणों के अलावा व्यक्ति में जीवित होने का अहसास क्यों खो गया है ? कला में मानव-रूप और भावनाओं की पाशविक-विकृति को ही नई कला का श्रेय क्यों माना जाने लगा है ? मानव के सहज सौन्दर्य-बोध और आनन्द-भावना की परितुष्टि के लिए हिंसा, बर्बरता, नग्नता, अश्लीलता और अबौद्धिकता-जैसी निम्न प्रवृत्तियों और रुचियों को क्यों उभारा जा रहा है ? आज व्यक्ति अपने को इतना निरीह, त्रस्त और आतंकित क्यों महसूस करता है ? क्या यह सारा परिवर्तन स्वाभाविक है ? 'आधुनिकता' का तकाज़ा है ? क्या सांस्कृतिक ह्रास और सामाजिक, मानववादी चेतना का लोप और आत्म-केन्द्रित व्यक्तिवाद की बाढ़, औद्योगीकरण और भौतिक विकास और समृद्धि की एक दुर्निवार अनिवार्यता है, जैसा कि विभिन्न ढंगों से प्रचारित किया जाता है ? या ये विकृतियाँ उस ह्रासोन्मुखी समाज-व्यवस्था की आन्तरिक असंगतियों के परिणाम-स्वरूप पैदा हुई है, जो अपना ऐतिहासिक औचित्य खो बैठी है, किन्तु अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए हर सम्भव उपाय से मनुष्य के विवेक, उसकी न्याय-भावना उसकी सत्यान्वेषी दृष्टि, उसकी मानवीय संवेदना को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धूमिल और कुण्ठित करके उसे संकीर्ण और मानवद्रोही बना देना चाहती है ?

सन् '३६ के आसपास, जब मैंने साहित्य की दुनिया में पहला क़दम ही रखा था, मुझे प्रसिद्ध अमरीकी उपन्यासकार अप्टन सिन्क्लेयर की एक विचारोत्तेजक पुस्तक पढ़ने को मिली। नाम था Money Writes ! (पैसा लिखता है !) इसमें लेखक ने साहित्य के इतिहास से मिसालें देकर बताया था कि पूंजीवादी समाज की विषमताओं और उसके अन्तर्गत अन्याय और भेद पर आधारित मानव-सम्बन्धों की क्रूरता का यथार्थ चित्रण करनेवाले महान् मानववादी और सत्यान्वेषी लेखकों को अनिवार्यतः दुःसह आर्थिक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी हैं और पूंजीपतियों की पत्र-पत्रिकाओं ने अकसर उनको लांछित और बदनाम करके उनके बहिष्कार की मांग की है। मिसाल के लिए, Doll's House (गुड़िया का घर), Hedda Gabler (हेडा गैब्लर), और Pillars of Society (समाज के स्तम्भ) जैसे, पूंजीवादी नैतिकता की वास्तविकता का पर्दाफ़ाश करनेवाले नाटकों के विरोध में उनके महान् लेखक इब्सन को यूरोप के प्रायः सभी देशों के पूंजीवादी अख़बारों ने चुन-चुनकर जो गालियाँ दीं, उनको सभ्य समाज में दोहराना भी सम्भव नहीं है। लेकिन इसके विपरीत, अप्टन सिन्क्लेयर ने आँकड़े और तथ्य उद्धृत करके सिद्ध किया कि उन असंख्य घटिया लेखकों को, जिनमें प्रतिभा का अंश नाम-मात्र को ही है, पूंजीवादी व्यवस्था ने अपनी 'विचारधारा' का प्रचार करने के लिए मोटी-मोटी रक़में और तनख़्वाहें देकर पाल रखा है।

इससे सिद्ध हो जाता है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत लेखक को विचार और लेखन की 'स्वतन्त्रता' उपलब्ध नहीं है। इसीलिए पूंजीवादी व्यवस्था में एक 'सच्चा', 'ईमानदार' और 'जागरूक' लेखक (लांछन, अपवाद और अभावों से अविचलित रहकर) वर्ग-वैषम्य से पीड़ित मनुष्यों के जीवन की क्रूर वास्तविकताओं का उद्घाटन करके, उस पर कला की भाषा में प्रहार करके समूचे जन-साधारण की स्वतन्त्रता के दायरे को बढ़ाने में योग देता है, जिससे हर 'व्यक्ति' की स्वतन्त्रता का दायरा बढ़ता है, जिनमें 'लेखक' भी शामिल है। समाज में जब इतना दुःख-दैन्य हो, इतनी अशिक्षा और ग़रीबी हो, इतना अन्याय और शोषण हो, तब अलग से 'लेखक की स्वतन्त्रता' सिद्ध नहीं हो सकती, न भावना के स्तर पर जन-साधारण के संघर्षों, प्रगतिशील आकांक्षाओं और लक्ष्यों से उदासीन और असम्बद्ध रहकर ही लेखक ऐसी प्रेरणादायी, मूर्त और मांसल कला-कृतियों की रचना कर सकता है, जो मनुष्य का सौन्दर्य-बोध बढ़ाने के साथ ही चेतना-विकासी भी हों।

पूँजीवादी व्यवस्था में 'लेखक की स्वतन्त्रता' की माँग का अर्थ ही यह है कि लेखक को इस बात का अधिकार हो कि वह शोषित-पीड़ित जनसाधारण की प्रगतिशील, मुक्तिकामी आकांक्षाओं और संघर्षों, उसके दुःख-दर्द को कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके, अन्यायपूर्ण मानव-सम्बन्धों, जर्जर रूढ़ियों, नैतिक मान्यताओं और अबुद्धिवादी विचारपद्धतियों की खुलकर आलोचना कर सके और अपनी कला से नये, उच्चतर मानव-मूल्यों की सृष्टि कर सके। यानी 'लेखक की स्वतन्त्रता' और 'लेखक की प्रतिबद्धता' दो परस्पर-विरोधी विचार-सूत्र नहीं हैं, बल्कि प्रगतिशील सामाजिक उद्देश्यों के प्रति 'प्रतिबद्धता' ही 'लेखक की स्वतन्त्रता' की माँग को गरिमा और सामाजिक औचित्य प्रदान करती है।

लेकिन पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में 'लेखक की स्वतन्त्रता' के प्रश्न को एक सीमित व्यक्तिपरक अर्थ में भी देखा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में फ्रान्स के रिम्ब्राँ, बोद्लियर, मलार्मे आदि कवियों ने 'कला के लिए कला' का जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलन चलाया था और उसके फलस्वरूप प्रतीकवाद, बिम्बवाद, अभिव्यंजनावाद आदि योरुपीय काव्य में जो अनेक प्रवृत्तियाँ मुखरित हुईं, वे आरम्भ में साहित्य और लेखन के क्षेत्र में पूँजीवादी व्यावसायिकता के बढ़ते हुए संक्रमण के विरुद्ध, जिसने कलाहीन, प्रकृतवादी उपन्यासों और घिसी-पिटी पद्धति की कविता को कमाई का साधन बना रखा था, संवेदनशील, किन्तु आत्मनिष्ठ रचनाकारों के विद्रोह के रूप में प्रकट हुई थीं।

दुर्भाग्य से यह विद्रोह भाषागत प्रयोगों तक ही सीमित रह गया, जिससे सूक्ष्म भावाभिव्यंजन के नये, अपरिचित सीमान्त तो खुले, लेकिन पूंजीवादी व्यावसायिकता को इस वर्ग की रचनाओं ने न कोई क्षति पहुँचाई और न जन-साधारण में उसके विरुद्ध चेतना ही जगाई। इसके विपरीत, अपनी कला के प्रति पूँजीवादी समाज की व्यंग्यपूर्ण उपेक्षा से इस वर्ग के संवेदनशील लेखक और भी आत्मनिष्ठ होते गये और आगे चलकर उनका व्यक्तिवाद सामाजिक चेतना, सामाजिक जीवन और सामाजिक दायित्वों से विमुख होने को ही 'लेखक की स्वतन्त्रता' की आधारशिला मानने लगा। कलावादियों के 'व्यावसायिकता से विद्रोह' की परिणति जाकर हुई समाज से विद्रोह में, यानी प्रगतिशील सामाजिक लक्ष्यों से लेखक की असम्बद्धता के नारे में। इस दयनीय परिणति के लिए इस वर्ग के लेखकों की आत्मनिष्ठा और व्यक्तिवाद के अलावा, साहित्य और कला को व्यवसाय की वस्तु बनाने वाले प्रकाशकों, फ़ायडीय मनोविज्ञान, अस्तित्ववादी दर्शन और शीतयुद्ध की रणनीति के अनुसार विभिन्न देशों में 'सांस्कृतिक स्वतन्त्रता' और 'प्रजातान्त्रिक रिसर्च' या ऐसे ही आकर्षक नामों से स्थापित प्रचार-केन्द्रों, उनके द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं और सेठाश्रयी अखबारों की ज़िम्मेदारी भी कुछ कम नहीं है। कोरी व्यावसायिकता के युग में पहले घटिया किस्म के लेखक ही फ़रमायशी साहित्य की रचना करते थे, लेकिन अब विश्व में समाजवादी विचारधारा के बढ़ते हुए प्रभाव और एशिया-अफ्रीका में प्रगतिशील, मानववादी जीवनादर्शों और प्रजातान्त्रिक लक्ष्यों के अनुकूल अपने पिछड़े आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का पुनर्निमाण करने में संलग्न जनता की शान्ति-समर्थक नीति से उत्पन्न खतरे से, जो उनकी दृष्टि में लेखक को इन आदर्शों से बलात् सम्बद्ध करके उसके 'व्यक्तित्व' और उसकी 'स्वतन्त्रता' का अपहरण कर लेती है, पुरानी पीढ़ी के अनेक 'क्रान्तिकारी' लेखक और नई पीढ़ी के अनेक 'संवेदनशील' रचनाकार अपने 'व्यक्तित्व' और 'लेखन की स्वतन्त्रता' की रक्षा के लिए 'फ्री-वर्ल्ड' के संरक्षक अमरीकी सैनिक अड्डों की तरह दुनिया-भर में फैले शीत-युद्ध के प्रचार-केन्द्रों में जाकर शरणागत बने हैं। प्रतिभा और स्टेट्स के अनुसार इनमें बख्शीश, वेतन और वज़ीफ़े के रूप में जिसको जितना अधिक धन बाँटा जाता है, जनता की बर्बर, 'टोटेलिटेरियन' शक्तियों और प्रवृत्तियों से 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' और 'आधुनिक सभ्यता' और 'संस्कृति' के लिए उत्पन्न खतरे के प्रति उसमें उतना ही अधिक अहसास बढ़ जाता है। और वह इन प्रचार-साधनों के माध्यम से ऐसे वातावरण की सृष्टि में लग जाता है, जिसमें क्या सच है, क्या झूठ है, क्या शुभ है क्या अशुभ है और क्या सुन्दर है, क्या असुन्दर है, साधारण व्यक्ति में इसका बोध और विवेक ही खो जाय और उसे सभी प्रकार की उदात्त, नैतिक, मानववादी भावनाएँ ऊपर से ओढ़ी हुई बाह्य आडम्बर-मात्र दीखने लगें—यानी अपनी मनुष्यता से ही उसका विश्वास उठ जाए।

निस्सन्देह, Money Writes!

कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह विश्लेषण राजनीतिक है और इसमें लेखक की स्वतन्त्रता और प्रतिबद्धता के प्रश्न को साहित्य के सन्दर्भ में देखने का प्रयास नहीं किया गया। लेकिन हमारी कठिनाई यह है कि लेखक की 'स्वतन्त्रता' को लेखक के सामाजिक 'दायित्व' या उसकी 'प्रतिबद्धता' के विरोध में बलात् खड़ा करके, जैसे दोनों परस्पर-विरोधी स्थितियाँ हों—जिन्होंने पिछले पन्द्रह वर्षों से, अपने वक्तव्यों, विवेचनाओं और रचनाओं द्वारा, मनुष्य की प्रेम, न्याय, त्याग, करुणा-जैसी मानवीय भावनाओं और साहित्य और कला की उन सभी प्रवृत्तियों और विचार-धाराओं और कला-सर्जन की उन सभी प्रक्रियाओं और पद्धतियों की लगातार खिल्ली उड़ाई है, जिनमें सामाजिकता की ज़रा भी गंध मिलती है, उन्होंने अपने समाजवाद (और हमारे देश में नेहरू की निष्पक्षता और शान्ति की नीति)-विरोधी शीत-युद्धीय राजनीतिक मन्तव्यों को छिपाने की कभी कोशिश नहीं की। 'एन्काउन्टर' और 'क्वेस्ट', 'धर्मयुग' और 'ज्ञानोदय' तथा अन्य सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में अकसर प्रकाशित होने वाली ऐसी रचनाएँ और वक्तव्य इस बात के प्रमाण हैं। इसलिए इस प्रश्न के राजनीतिक सन्दर्भ को इस युग के वास्तविक संघर्ष की पृष्ठभूमि में पेश करने की ज़रूरत थी।

अन्यथा, अगर केवल साहित्य और कला के सन्दर्भ में ही देखा जाय तो हमारी मान्यता है कि 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' जीवन का सर्वोच्च मूल्य है। आदिकाल से मानववादी विचारधाराएँ और दर्शन इस बात को स्वीकार करते आये हैं। लेखक और कलाकार का कार्य चूँकि 'रचनात्मक' होता है, इसलिए उसकी 'स्वतन्त्रता' और भी अधिक स्पृहणीय है।

साहित्य और कला के इतिहास से यह भी प्रमाणित है कि उसमें मूलतः यथार्थवादी और कल्पनावादी—साहित्य में रोमाण्टिक और चित्रकला में अमूर्त—ये दो प्रवृत्तियाँ, कला-निर्माण की ये दो वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ सौन्दर्य-दृष्टियाँ ही किसी-न-किसी रूप में अपने को दोहराती आई हैं, कभी एक, दूसरी की प्रतिक्रिया के रूप में उभरी है, कभी दोनों समानान्तर चली हैं, कभी दोनों की सीमाएँ एक-दूसरे में घुलमिल गई हैं तो कभी दोनों में ज़ोर की टक्कर और विरोध भी हुआ है। और यद्यपि 'आज' की स्थिति में हम चाहे 'यथार्थवादी' प्रवृत्ति को अधिक उपयुक्त मानते हों, लेकिन रोमाण्टिक साहित्य या अमूर्त कला से हमारा कोई विरोध नहीं है। न वे हमें अरुचिकर लगती हैं और न अपने-आप में ह्रासोन्मुखी (डिकेडेण्ट) ही। दोनों में से कोई भी प्रवृत्ति देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों में विकृत होकर ह्रासोन्मुखी भूमिका अदा कर सकती है।

हमारी यह भी मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति आत्मनिरपेक्ष इकाई नहीं है, न परम्परा से असम्बद्ध हो सकता है। दरअसल, हर व्यक्ति जन्म के साथ ही एक संश्लिष्ट कड़ी के रूप में—ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों के ताने-बाने से बुनी परम्परा का वाहक होता है। इस परम्परा और विरासत से वह चाहकर भी मुक्ति नहीं पा सकता। अन्तरस्थ विरासत का यह बीज ही प्रस्फुटित होकर व्यक्ति की कला को सचाई, गहराई और मौलिकता प्रदान करता है। इस अन्तरस्थ विरासत को खोजने-पहचानने की दीर्घ कला-साधना के मार्ग में हम नहीं चाहते कि किसी भी लेखक या कलाकार को किसी प्रकार की बाधा का सामना करना पड़े। उस पर केवल राष्ट्रीय, जातीय या लोक-साहित्य या कला को ही आदर्श मानकर चलने का कोई दुराग्रह या प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे अपनी आन्तरिक रुचि के अनुसार विश्व-साहित्य और कला में जो सर्वश्रेष्ठ है—आज या गत युगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में—उसकी उपलब्धियों और अनुभवों को आत्मसात करने और ग्रहण करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए, ताकि वह राष्ट्रीय विरासत को नया रूप और नई अभिव्यक्ति देकर समृद्ध कर सके; ताकि वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शेक्सपियर की तरह 'राष्ट्र-कवि' भी बन सके और 'विश्व-कवि' भी।

साहित्य समाज का दर्पण और जीवन की आलोचना है—ये पुरानी मान्यताएँ आज भी सही हैं और किसी भी समाज-व्यवस्था में सही रहेंगी। इस दर्पण को मैला करने का अधिकार न लेखक या कलाकार को है और न समाज-व्यवस्था को ही। यानी लेखक और कलाकार की जीवन-सत्य को प्रतिबिम्बित करने की स्वतन्त्रता के हम हामी हैं—बल्कि लेखक से अगर कोई आग्रह है तो यह कि हर परिस्थिति और हर समाज में वह जीवन की वास्तविकता को कलात्मक अभिव्यक्ति दे। ऐसी हर कलात्मक अभिव्यक्ति अनिवार्यतः जीवन की—जीवन को कलुषित, क्षुद्र, अनैतिक, अभाव-ग्रस्त, पाशविक या हिंस्र बनाने वाली प्रवृत्तियों, समाज-व्यवस्थाओं, विचारधाराओं और नीतियों की—आलोचना होती है, स्पष्ट नहीं तो संकेत रूप में। इसलिए उन्नीसवीं शती के महान् यथार्थवादी उपन्यासकारों की तरह, आज भी लेखक निर्भीक भाव से 'सत्य' को रूपायित करें, पूँजीवादी जगत् में ही नहीं, समाजवादी देशों में भी, इससे किसी विचारशील व्यक्ति को आपत्ति नहीं हो सकती।

जिन देशों में व्यक्तिवाद और अस्तित्व-दर्शन ने व्यक्तियों के बीच अहं की दुर्लंघ्य दीवारें खड़ी कर दी हैं और उनमें अपने सुख-दुःख का विनिमय बन्द हो गया है, उनकी सर्जना चाहे व्यापक सामाजिक उद्देश्यों से उद्बुद्ध और उत्प्रेरित न हो पाती हो और उन्हें कामू की तरह लगता हो कि जीवन भी व्यर्थ है और मृत्यु भी व्यर्थ है और यह व्यर्थता की भावना भी व्यर्थ है, और अपने आप से बाहर किसी अन्य की बात सोचना भी 'प्रतिबद्धता' है जो लेखक की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाती है, लेकिन हमारे देश की परम्परा और परिस्थितियाँ इससे मूलतः भिन्न हैं। दीर्घकालीन गुलामी के दौर में रहने के कारण हमारे देश के ईमानदार लेखकों के लिए 'असम्बद्ध' रहकर ऐसी 'स्वतन्त्रता' की कल्पना भी सम्भव नहीं है जो समाजवाद, प्रजातन्त्र और विश्व-शान्ति-जैसे मान्य राष्ट्रीय लक्ष्यों के विरोध में साम्राज्यवादियों के शीत-युद्धीय घृणा-प्रचार का प्रच्छन्न साधन हो।

शिवदानसिंह चौहान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त-विवेचन

हजारीप्रसाद द्विवेदी

सिसृक्षा का स्वरूप—छंद

: २ :

ऊपर हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है (आलोचना २८) कि साधारण गद्यात्मक भाषा में हमें दो प्रकार के अनुशासनों को मानकर चलना पड़ता है—(१) बाह्यजगत् के तथ्यों का और (२) भाषा के व्याकरण और वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी नियमों का। काव्य में एक तीसरा अनुशासन भी है। वह छन्द का, लय का, संगीत का। जो कोई यह दावा करता है कि वह इस तीसरे अनुशासन की उपेक्षा करके भी काव्य लिख सकता है वह ग़लत दावा करता है। या तो उसका ऐसा प्रयत्न काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है या यदि है तो वह छन्द का अनुशासन मानकर चलता है। जो लोग आए दिन उच्च कण्ठ से यह घोषणा करते रहते हैं कि आज की कविता छन्द के बन्धन से मुक्त हो गई है वह वस्तुतः यह कहना चाहते हैं कि उनकी कविता पुराने छन्दः-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित रूढ़ियों से मुक्त हो गई है। पुराने छन्दःशास्त्रियों ने जो नियम बनाये हैं वे शाश्वत नहीं हैं। न तो वे सभी भाषाओं पर लागू होते हैं न सभी समय में। भाषा मनुष्य के साथ-ही-साथ विकसित होती जा रही है। उसमें नये उपादान आते रहते हैं और बहुत-से पुराने उपादान झड़ते रहते हैं। कालान्तर में वह नयी भाषा के रूप में प्रकट होती है, उसके बोलने और पढ़ने के ढंग में परिवर्तन होते रहते हैं और उसकी स्वर-मैत्री और काकु-विधि में भी अन्तर आता रहता है। नवोदित भाषा में छन्द खोजने के नये प्रयास करने पड़ते हैं। प्रतिभाशाली कवि ही ऐसा कर सकते हैं। नये छन्दों के समझने में साधारण मनुष्य को—विशेषकर जब वह पुरानी पद्धति से परिचित हो—कठिनाई होती है परन्तु धीरे-धीरे उसमें नये छन्द के परि-शंसन का अभ्यास होता है। वह घबराकर इसे 'विद्रोह' भी कहता है। परन्तु नवोदित भाषा की स्वर-मैत्री का सन्धान गुण है, निषेधात्मक धर्म नहीं। क्यों यह गुण है, क्यों यह मनुष्यमात्र को प्रभावित करने में समर्थ होता है, यह संगत प्रश्न है।

एक प्रश्न और है। हमने यह भी देखा है कि मनुष्य की बुद्धि ने कलाओं के विशुद्ध रूप में बहुत मिश्रण किया है। कविता (और साधारण गद्यात्मक भाषा भी) कानों का विषय है। वह कालवर्तिनी है और श्रव्य है। चित्रकला देशवर्तिनी और दृश्य है। एक गतिशील है, दूसरी स्थितिशील। परन्तु मनुष्य की बुद्धि ने भाषा को भी (और साथ-साथ कविता को भी) दृश्य और स्थितिशील बनाने का प्रयत्न किया है। लिखकर विविध अक्षर-प्रतीकों के द्वारा भाषा को नयनेन्द्रिय का विषय बनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। यह कठिन कार्य है। उच्चारित वर्णों को लिपिबद्ध करने का प्रयास बहुत सफल नहीं हुआ है। उच्चारित भाषा में प्रकट किए जाने वाले बलाघात और आवेग कम्पन लिपिबद्ध भाषा से ग़ायब हो जाते हैं। कविता में तो और भी विकट समस्या है क्योंकि कविता की भाषा का प्राण ही आवेग है। बहुत पुराने ज़माने से नाना चिन्हों के द्वारा उस बलाघात और आवेग कम्पन को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है। वैदिक मन्त्रों में उदात्त और अनुदात्त आदि के चिन्हों का समावेश इसी प्रयत्न का परिणाम है। आधुनिक भाषा में विराम के, आवेग के, प्रश्न के, स्पष्टीकरण के विभिन्न चिन्हों का व्यवहार करके वक्ता के वक्तव्य को ठीक-ठीक अंकित करने का प्रयत्न किया जाता है पर प्रयत्न आंशिक रूप में ही सफल हो पाया है। कविता में इस प्रकार के प्रयत्न अधिक असफल सिद्ध हुए हैं। पर कवि रुका नहीं, सहृदय पाठक भी अपने प्रयत्नों से विरत नहीं हुआ है।

यह प्रश्न संगत है कि क्यों इस प्रकार के प्रयत्न पूर्णतः सफल नहीं हुए। इसका प्रमुख कारण यह है कि व्यक्ति मानव के चित्र में उठनेवाले आवेगों की अनन्त श्रेणियां हैं, समष्टि मानव-चित्त के साधारणीकृत प्रतीक-चिन्ह बहुत थोड़े हैं। उनकी संख्या बढ़ती जा रही है पर सब कुछ इनमें समा नहीं पाता। कभी-कभी धन, ऋण या गुणन के चिन्हों के द्वारा आवेग का दैर्घ्य सूचित करने का प्रयास भी किया जाता है। पर ये भी अन्ततोगत्वा साधारणकृत चिन्ह ही सिद्ध होते हैं। व्यष्टिचित्त का विशेषीकृत आवेग समष्टि चित्त के लिए ग्रहणीय बनाना कठिन कार्य है। न जाने कब से मनुष्य व्यष्टि-चित्त के विशेषीभूत अनुभवों के साधारणीकरण का प्रयत्न करता आ रहा है। इससे भाषा में सूक्ष्म भावव्यंजक शब्दों की वृद्धि होती जा रही है परन्तु अन्तिम विश्लेषण से जाना जाता है कि समष्टि-चित्त की स्वीकृति प्राप्त होने के बाद विशिष्ट भावों के भी जातिवाचक शब्द ही बन पाते हैं। 'ईर्ष्या', 'असूया' आदि शब्द अनेक प्रकार के विशिष्ट भावों के साधारणीकृत प्रतीकमात्र सिद्ध हुए हैं। कवि जब इन शब्दों के द्वारा अपने चित्त की कोई विशिष्ट अनुभूति बताने का प्रयास करता है तो पाठक एक सामान्य भाव ही ग्रहण कर पाता है जो कवि-चित्त की विशिष्ट अनुभूति के थोड़ा दायें-बायें या ऊपर-नीचे तक पहुँच पाता है। बहुत कम पाठक उसके सही-सही सटीक भाव को पकड़ने में समर्थ होते हैं। जो लोग समझते हैं—अर्थात् कवि के हृदय के साथ जिनका हृदय एकाकार हो सकने में समर्थ होता है—उन्हें लोक में 'सहृदय' कहा जाता है। कुछ 'सहृदय' ऐसे भी होते हैं जो कवि के प्रयुक्त शब्दों को 'ठीक-ठीक' समझाने का प्रयत्न करते हैं। सब समय 'सहृदय' होने का दावा करने वालों के मत मिलते नहीं, अर्थात् जो बात अस्पष्ट थी वह अस्पष्ट ही रह जाती है! नये सहृदय इन पुराने सहृदयों की बातों की व्याख्या का प्रयत्न करने लगते हैं। यदि कवि सचमुच उत्तम श्रेणी का होता है तो यह परम्परा दीर्घकाल तक चलती रहती है।

ये प्रयत्न क्या निरर्थक पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र हैं या इनकी गहराई में कोई ऐसी व्याकुलता है जिसे रोका नहीं जा सकता—'दुर्निवार'—है? कवि अपनी विशिष्ट अनुभूति के साधारणीकरण का प्रयत्न क्यों करता है, सहृदय पाठक उसकी विशिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूतियों को और भी अधिक 'हृदयंगम' कराने का प्रयास क्यों करता है और उसकी असफलता को जानते हुए भी परवर्ती सहृदय पुनः प्रयास (या और भी ठीक से कहा जाय तो 'पुनः पुनः प्रयास') क्यों करते हैं ? क्या यह उचित न होता कि कवि अपने विशिष्ट अनुभवों को अपने तक ही सीमित रखता और यदि वह ग़लती से प्रकट करने का प्रयास भी करता तो उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता और दुनिया को अपने रास्ते चलने को छोड़ दिया जाता ? कठिनाई यह है कि दुनिया छूटना नहीं चाहती और कवि और सहृदय उसे छोड़ना नहीं चाहते । कवि भी व्याकुल और लाचार है, सहृदय भी व्याकुल और लाचार है और दुनिया भी व्याकुल और लाचार है । इतनी व्याकुलता का कारण क्या है ! इस प्रश्न के उत्तर में ही सिसृक्षा के उस रचनात्मक स्वरूप का रहस्य उद्घाटित होगा जिसे 'छन्द' कहा जा सकता है ।

कहीं-न-कहीं मानवचित्त की गहराई में कुछ ऐसा है जो अपने विशेष अनुभवों को सर्व-सुलभ बनाने और दूसरे लोगों के अनुभव को ग्रहण करने के लिए व्याकुल है । बहुत प्राचीन काल से मनुष्य इस बात को नाना रूप में कहता आ रहा है । एक प्रचलित मत यह है कि मनुष्य अपने व्यष्टि-रूप में अलग ज़रूर है पर वस्तुतः वह समष्टि-मानव का एक अंग है, इस समष्टि-रूप (जिसे कभी-कभी 'कामन ह्यूमैनिटी' भी कहा जाता है) की सही-सही जानकारी प्राप्त करने के लिए व्याकुल है । भारतवर्ष के प्राचीन आचार्य और भी आगे बढ़कर कह गए हैं कि वस्तुतः 'एक' से अनेक उत्पन्न हुए हैं और अनेकता या नानात्व के भीतर अब भी पुनः 'एक' होने की व्याकुलता है । नानात्व की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति ग़लत ज्ञान या अविद्या का परिणाम है और 'एक' हो जाने की प्रवृत्ति सही ज्ञान या विद्या से पैदा होती है । जब सही ज्ञान का आनन्द अनुभव होता है तो मनुष्य उसे शब्दों के, रंगों के, और रूपों के माध्यम से प्रकट करता है । जितना ही वह गहरा गोता लगाता है उतना ही बहुमूल्य रत्न उसके हाथ लगता है ! ग़लत जानकारी की अवस्था में वह कृपण की भाँति इन रत्नों को छिपा के रखता है । सही जानकारी होने पर वह दोनों हाथों लुटाने में आनन्द पाता है । कहा गया है कि अन्तिम बहुमूल्य रत्न वह जब प्राप्त करता है तो वस्तुतः चराचर जगत् में अपने को ही पा जाता है और उस आनन्द को लुटाने में वह अपने-आपको ही लुटा देता है । अपने-आपको लुटाने का आनन्द ही चरम आनन्द है । जब तक भेद बुद्धि बनी रहती है तब तक अपने-आपका अधिकांश हिस्सा रोक लिया जाता है, जब समाप्त हो जाती है तो कुछ भी छिपाने की आवश्यकता नहीं रह जाती । अपने को निःशेष भाव से दे देने के रास्ते में अनेक बाधाएँ हैं । उन बाधाओं पर विजयी होने की सफलता के अनुपात में ही मनुष्य की चरितार्थता का हिसाब किया जा सकता है । बड़ा वह है जो दे सकता है, सबसे बड़ा वह है जो अपने-आपको निःशेष भाव से लुटा देता है । अपभ्रंश के कवि ने सामान्य लोकनीति की बात कहते समय कहा था—

साहु विलोउ तडप्फडइ बड्डु तणहो तणेण ।
बडप्पणु पुणु पाइयइ हत्थेंहि मोग्गलिदेण ।

[सब लोग बड़प्पन पाने के लिए तड़फड़ाते हैं पर बड़प्पन हाथ के खुले रखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अर्थात् लुटाते रहने से, प्राप्त होता है !]

यही बात सौन्दर्यान्वेषियों के लिए ज़रा बदलकर कही जा सकती है। लोक में बड़प्पन पाने का मार्ग है अपनी सम्पत्ति को उचित भाव से लुटाना लेकिन सुकुमार भाव-जगत् में अपने-आपको लुटाने से ही वह प्राप्त होता है। लेकिन यह भी 'साधारण' सत्य है। इसके भी अनेक भेद हैं। काव्य और अन्य शिल्पों के माध्यम से अपने-आपको देना एक विशेष प्रकार का देना है। समाज-सेवक भी अपने को देता है, भक्त भी देता है, तत्त्वज्ञानी भी देता है। इसीलिए आत्मदान एक सामान्य धर्म है, जातिवाचक संज्ञा है। हमें यहाँ कला के माध्यम से किए गए आत्मदान को समझना है।

साधारण मनुष्य की भाँति कवि और कलाकार भी जानता है और अपनी जानी हुई बात को दूसरों तक पहुँचाता है। परन्तु जानकारी के कई स्तर हैं। कुछ जानकारियाँ केवल जड़-जगत् के विषय में सूचना-मात्र होती हैं। उनके द्वारा भी मनुष्य को परिवर्तित किया जाता है। हर नई जानकारी से परिप्रेक्ष्य में कुछ-न-कुछ अन्तर आता है और हर परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के कुछ-न-कुछ भिन्न रूप में दिखने की सम्भावना होती है। कुछ जानकारियाँ प्राणों के व्याकुल आवेग के बारे में होती हैं, वे सुनने वाले के प्राण-स्तर को परिवर्तित करने में समर्थ होती हैं। बहुत-से कवियों में प्राणतत्त्व को हिल्लोलित करने की शक्ति होती है। वे प्राणतत्त्व की पुकार को प्राणतत्त्व तक पहुँचाते हैं। उनसे श्रोता की नसों में झनझनाहट पैदा होती है। फिर, और भी सूक्ष्म जानकारी वह होती है जो मानसिक स्तर पर अनुभूत होती है और श्रोता को मानस-स्तर पर ही आन्दोलित करती है। और भी गहराई में बौद्धिक स्तर की अनुभूति और उसी को प्रभावित करने वाली जानकारियाँ हैं। परन्तु उससे भी सूक्ष्म वे जानकारियाँ हैं जो आध्यात्मिक कही जाती हैं। वे श्रोता को भी उसी स्तर पर अभिभूत करती हैं।

इस प्रकार समूची जानकारी मोटे तौर पर पाँच स्तरों में विभाजित की जा सकती है। ये हैं—जड़तत्त्व, प्राणतत्त्व, मनस्तत्त्व, बुद्धितत्त्व और अध्यात्मतत्त्व के स्तर। सभी स्तरों पर यह जानकारी दो प्रकार की होगी। घटिया क़िस्म की या अविद्याजन्य और बढ़िया क़िस्म की अर्थात् विद्याजन्य। घटिया क़िस्म की जानकारी या भ्रामक जानकारी की विशेषता यह होती है कि वह ज्ञाता के चित्त में अपने को समस्त जगत्-प्रवाह से अलग समझने की बुद्धि जागृत करती है। इस अलगाव की प्रवृत्ति को ही शास्त्रीय ग्रन्थों में 'अहंकार' कहा गया है। सही जानकारी या सच्ची विद्या अहंकार या अलगाव बुद्धि को समाप्त करती है और ज्ञाता को जगत्-प्रवाह के साथ एकमेव होने की वृत्ति जगाती है। जितनी ही अधिक यह वृत्ति जागती है उतनी ही अधिक जानकरी चरितार्थ होती है और उसी मात्रा में उसका सम्प्रेषण उत्तम कोटि का होता है। परन्तु सभी जानकारियों का सम्प्रेषण कला की कोटि में नहीं आता, क्योंकि सभी जानकारियों का देना 'आत्मदान' नहीं होता। अधिकांश ज्ञान सूचनामात्र बनकर सम्प्रेषित होते हैं। 'रचना'-रूप में बदले बिना वे कला की कोटि में नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आते । सूचना, रचना बनकर जब सम्प्रेषित होती है तो ग्रहीता को आन्दोलित और चालित करती है । सूचना केवल ज्ञान की गतिहीन छाप-मात्र है । छन्द के सहारे वह गतिशील होती है—'स्वच्छन्द' चारिणी बनती है । संगीत में, काव्य में, चित्र में, मूर्ति में छन्द का योग होने से गति आती है, प्राण आता है, प्रेषण-वेग आता है । 'छन्द' शब्द का प्रयोग यहाँ बहुत व्यापक अर्थों में किया जा रहा है । उसमें राग, लय, वेग, आवेग सभी का समावेश हुआ है । यह 'छन्द' विश्वव्यापी 'इच्छा'-शक्ति के साथ ताल मिलाकर चलने वाला गति-मात्र या वेग-मात्र (विशुद्ध गति) है । छन्द अर्थात् मनोयोग इच्छा । शास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ थोड़े से छन्दों के नाम गिनाए जाते हैं, वे केवल इंगित मात्र हैं । सब-कुछ वे नहीं हैं, अधिकांश भी नहीं ।

ऊपर बहुत-सी बातें एक ही साँस में कह दी गई हैं और अस्पष्ट-सी लगती हैं । उनको अलग विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया गया है । यहाँ स्थान संकोच है इसलिए थोड़े में इस प्रकार स्मरण किया जा सकता है । चेतन प्राणी में—विशेष रूप से मनुष्य में—ज्ञान के तुरन्त बाद इच्छा और प्रयत्न (क्रिया) नाम की दो असमानान्तर शाखाएँ फूटती हैं । 'इच्छा' चेतना के विभिन्न स्तरों पर शब्द (नाद), गति, स्वर आदि के रूप में अभिव्यक्ति पाती है और प्रयत्न या क्रिया विभिन्न स्तरों पर अर्थ (बिन्दु), स्थिति, ताल आदि के रूप में अभिव्यक्ति पाती है । केवल गति, रूप नहीं बन सकती, अनुभवगम्य नहीं हो सकती । स्थिति के द्वारा नियन्त्रित होकर ही वह रूपायित होती है, अनुभव का विषय सिद्ध होती है । स्थिति (ताल, यति, अर्थ) द्वारा नियमित गति से रूपायित होने की प्रक्रिया का ही व्यापक नाम 'छन्द' है । वह भी इच्छा ही है, परन्तु इच्छा की तुलना में वह कम व्यापक है । इच्छा का केवल रचनात्मक रूप छन्द है । जो इच्छा ज्ञान के सूचनात्मक रूप का सम्प्रेषण करती है वह अर्थ या स्थिति की ओर अधिक झुकी होती है, जो रचनात्मक रूप का सम्प्रेषण करती है वह छन्द का रूप ग्रहण करती है । छन्द का सहारा पाकर ही सूचना, रचना बनती है । छन्द ही सिसृक्षा या सर्जनेच्छा है ।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री 'आर्ट इम्पल्स' नाम देकर इस छन्दोरूपा इच्छा का स्वरूप समझाने का प्रयत्न करते हैं । साधारणतः इस कला-सिसृक्षा के मूलानुसन्धान के लिए आधुनिक युग में तीन प्रकार के प्रयोगों का सहारा लिया गया है—(१) बालकों की रचना-प्रक्रिया का अध्ययन, (२) आदिम अवस्था में विद्यमान जातियों की कला-प्रवृत्तियों का अध्ययन और (३) बड़े-बड़े कलाकारों की स्वयं कही उक्तियों का अध्ययन । इन अध्ययनों से विभिन्न मनीषी बड़े अद्भुत और उपयोगी किन्तु परस्पर-विरुद्ध-से दिखने वाले नतीजों पर पहुँचे हैं । (१) शिलर और स्पेन्सर जैसे मनीषियों का कहना है कि यह कला-सिसृक्षा मानव-मन की लीलावृत्ति या क्रीड़नेच्छा की उपज है । (२) कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि यह वृत्ति परप्रसादन द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करने की इच्छा का दूसरा रूप है । बताया गया है कि मार्शल ऐसा ही मानते हैं । (३) यह भी कहा गया है कि यह आत्मप्रदर्शन का ही एक रूप है और वाल्डविन इस मत के प्रवर्तक हैं । (४) लैंगफ़ील्ड जैसे विचारकों ने इसे क्रीड़नेच्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दूसरों को आकर्षण करने योग्य आत्मप्रदर्शन का मिलित रूप माना है। (५) कुछ लोग इसे मनुष्य में विद्यमान रचनात्मक वृत्ति का उन्नयन मानते हैं। (६) और दूसरे लोग (फ़ायड आदि) इसे कामवृत्ति से उत्पन्न मनोग्रन्थियों का उन्नयन समझते हैं। जिन लोगों ने आदिम जातियों की कला प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है वे समझते हैं कि आदि मानव की कला-सिसृक्षा सोद्देश्य थी। यह या तो मौन-आकर्षण के लिए या विभिन्न आवश्यक वस्तुओं की अभिवृद्धि कामना से प्रेरित थी। पर इन मतों की जाँच की जाय तो वे मूल कला-सिसृक्षा के भिन्न-भिन्न पहलुओं की पहचान मात्र सिद्ध होंगे।

कला-सिसृक्षा 'सुन्दर' की रचना करती है। 'सुन्दर' क्या है। मैंने 'कालिदास लालित्य-विधान' नामक अपने एक अन्य लेख में जो लिखा था, उसे यहाँ उद्धृत करना असंगत नहीं होगा :

"पश्चिम के कितने ही मनीषियों ने व्यक्ति-चित्त की इच्छा को ही सौन्दर्य का मुख्य हेतु माना है। कहते हैं कि स्पिनोज़ा जैसे मनीषी ने भी कहा था कि हम किसी वस्तु को अच्छी इसीलिए नहीं कहते कि वह अपने-आपमें सचमुच अच्छी है, बल्कि इसलिए कहते हैं कि हम उसे चाहते हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु को हम इसलिए सुन्दर नहीं कहते कि वह अपने-आपमें सुन्दर है बल्कि इसलिए कि हम उसे चाहते हैं, वह हमारी इच्छा-शक्ति की गति के अनुकूल हुआ करती है। इस युग के अन्यतम मनीषी नित्से कह गए हैं कि सुन्दर और असुन्दर की धारणा प्राणतत्त्व की माँग के अनुसार होती है, बॉयोलाजिकल है। हम चीनी इसलिए नहीं खाते कि वह मीठी होती है बल्कि वह इसलिए मीठी लगती है कि वह हमारे प्राणतत्त्व की माँग पूरी करती है, उसमें शक्ति देने का गुण है जो हमारी जिजीविषा के लिए आवश्यक है। असुन्दर वह है जो हमारी जिजीविषा के प्रतिकूल होती है। हमें प्रसन्न और मोहित वह वस्तु करती है जो हमारी प्राणशक्ति की पोषक है, दुर्दम जिजीविषा के अनुकूल है। इस प्रकार के विचारों से समस्या उलझती गई है यद्यपि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इससे व्यक्तिगत इच्छा की महिमा व्यक्त होती है। इस प्रकार की वैयक्तिक इच्छा का कोई अन्त नहीं है। इससे एक प्रकार की अनवस्था की बात उठती है। 'सुन्दर' का कोई निश्चित रूप स्थिर नहीं हो पाता। हर आदमी को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु को सुन्दर और किसी को असुन्दर कहने की छूट मिल जाती है। इस दोष से बचने के लिए दीर्घकालीन आदत, एक ही परिस्थिति में बसने वाली मानव-मण्डली के सामान्य अनुभव आदि बातों की कल्पना करनी पड़ती है। कालिदास के विचार इससे मिलते-जुलते होने पर भी इससे भिन्न हैं। वे व्यक्ति-इच्छा को समष्टि-व्यापिनी इच्छा का विशिष्ट रूप मानते हैं। समष्टि-इच्छा विश्व-व्यापिनी मंगलेच्छा के अनुकूल होने पर भी व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्ति-गत इच्छा उसके प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि-इच्छा चेतन धर्म है। जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है वही सुन्दर है। समष्टि चेतना सर्जनात्मक है—वह सिसृक्षा है। व्यक्तिगत इच्छा उससे अनुकूल रहकर ही चरितार्थ होती है। जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा में अज्ञान है, मोह है, परोत्सादनवृत्ति है वह पाप इच्छा है, वह चित्त में तमोगुण को उद्रिक्त करती है, जड़त्व से अभिभूत होती है, सौन्दर्य उसमें नहीं होता। रूप कभी पापवृत्ति को उकसावा नहीं देता। जो देता है वह रूप नहीं है :

'यदुच्यते पार्वति पाप-वृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।'

[हे पार्वति ! यह जो कहा जाता है कि रूप (सौन्दर्य) पापवृत्ति के लिए नहीं होता, यह वचन आज सही सिद्ध हुआ है।] जो रूप पापवृत्ति को उकसाता है वह जड़त्व की उपज है। वह तामसिक है, उसमें सत्वोद्रेक की शक्ति नहीं होती, इसीलिए वह 'सुन्दर' नहीं कहा जा सकता, व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति का साधन बनने पर भी।

कभी-कभी प्रकृति के सौन्दर्य-निर्माण और मनुष्य के सौन्दर्य-निर्माण में जो विरोध दिखाने का प्रयत्न किया जाता है वह दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानने का परिणाम है। प्रख्यात मनीषी एरिक न्यूटन ने इस विरोध को इस प्रकार प्रकट किया है—कलाकार की वृत्ति यह होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) मेरी इच्छा को सन्तुष्ट कर सकता है' और प्रकृति की वृत्ति यह होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) ठीक-ठीक उपयोगी हो सकता है' (दी मीनिंग ऑफ़ ब्यूटी, पृ० ८६)। कालिदास से पूछा जाता तो वे कदाचित् कलाकार की वृत्ति को इस प्रकार बताते कि 'एकमात्र यही आकार विश्वात्मा की मूल सर्जनेच्छा के अनुकूल है, दूसरा नहीं।' "

सही बात क्या है, यह शपथपूर्वक नहीं कहा जा सकता पर इतना असन्दिग्ध जान पड़ता है कि मनुष्य में अपनी विशिष्ट अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाने की लालसा दुर्निवार है। व्यक्ति-मानव एक-दूसरे से अलग दिखाई देता है पर यह दुर्निवार इच्छा उसे निरन्तर दूसरे व्यक्ति-मानवों से एकमेक हो पाने के लिए व्याकुल करती रहती है। वह अपनी विशिष्ट अनुभूतियों का साधारणीकरण करने को व्याकुल है। जो अदृश्य शक्ति व्यष्टि-मानव की पृथक्-पृथक् अनुभूतियों को साधारणीकरण या सामाजिकीकरण की ओर उन्मुख करती है उसी का नाम प्राचीनों ने 'छन्द' दिया था। एक समष्टिगत इच्छा शक्ति है जो समस्त भेदों को ढँककर आच्छादित किए है। छादन करने के कारण ही उसे 'छन्द' कहते हैं—'छादनात् छन्दांसि।' समष्टिगत छन्द सृष्टि के भिन्न-भिन्न दिखने वाले पदार्थों को छादन करके एक व्यापक सिसृक्षा के सूत्र में पिरोता है। भाषा में अक्षर अलग-अलग बिखरे हैं—असंश्लिष्ट हैं। उनको आच्छादन करके जो उन्हें धारा रूप में 'एक' की गति देता है वह भी छन्द है। जब व्यष्टि का छन्द समष्टिगत छन्द से ताल मिलाकर चलता है तो 'सुन्दर' की सृष्टि होती है, जब उससे विरुद्ध दिशा में जाता है तो 'कुत्सित' का जन्म होता है। बड़भागी मनुष्य को ही उस मूल छन्दोधारा की पहचान होती है। जिस समय वह पहचान जाता है उस समय ज़र्रे-ज़र्रे में उसे देख सकता है, हर चीज को वह छन्दोधारा के अनुकूल सजाकर सुन्दर बना सकता है। शब्द में, रेखा में, रंग में, वर्ण में, गन्ध में उस छन्द के परिचय के बल पर ही वह मैत्री और सामंजस्य का भाव ढूंढ़ लेता है। लेकिन छन्द की पहचान केवल आत्मदान की सामर्थ्य देती है, वह स्वयं आत्मदान नहीं है। अगले लेख में उस पर विचार किया जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—डॉ० बेचन

आधुनिकता और लोकचेतना

'आलोचना' त्रैमासिक के (२७ और २८ अंक) के सम्पादकीय अग्रलेखों में हिन्दी के प्रगतिशील आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान ने आधुनिकता के सम्बन्ध में बड़े ज़ोर-शोर से लेखकों और आलोचकों की राय को आमंत्रित किया है। नये लेखक, नये आलोचकों की माँग कर रहे हैं। नये लेखक अपने को आधुनिकता के अन्तर्गत समाता न देखकर नई कहानी, नई कविता और शायद नई आलोचना का सवाल पैदा कर रहे हैं। नये लोगों की शिकायत है कि पुरानी पीढ़ी के आलोचक उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। शिवदानजी ने इन सभी समस्याओं को समझा है और इसी प्रसंग को लेकर आधुनिकता के सम्बन्ध में कई सवाल उठाये हैं। उनका कहना है कि "माडर्न या आधुनिक की व्याख्या करनी होगी क्योंकि नई पीढ़ी में अधिकतर प्रगतिशील चेतना के जो लेखक हैं, वे भी अपने को मॉडर्न या आधुनिक दृष्टिकोण और जीवन-बोध से सम्पन्न बताते हैं और वे भी जो पाश्चात्य की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति की नक़ल करके मानव-द्रोही भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं—। मॉडर्न और मॉर्डनिज्म का भेद भी, इसलिए स्पष्ट विवेचना की अपेक्षा रखता है।" यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि कोई भी साहित्य बिना लोकचेतना का स्पर्श किए जीवित नहीं रह सकता। छायावादी काव्य (छायावादी युग नहीं) के प्रति विद्रोह, अनास्था का मूल कारण यही था कि छायावादी काव्य लोक-चेतना का स्पर्श करने में अशक्त था। इसलिए उसका विरोध छायावाद के श्रेष्ठ कवियों ने भी किया। उसके स्थान पर नई कविताएँ लिखी गईं और प्रगतिवाद, जो लोक-चेतनावाद का एक प्रकार से पर्याय है, विकसित हुआ। किन्तु यह भी एक आश्चर्य की बात है कि लोक-चेतना का यह अभाव उस युग के गद्य-साहित्य यथा प्रेमचन्द प्रभृति कथाकारों की रचनाओं में कभी नहीं दिखाई पड़ा—जब कि आज, उस युग की तुलना में—काव्य और कथा दोनों में लोक-चेतना के अभाव से हम चिन्तित हैं। नये साहित्य के विरोध का एकमात्र यही कारण है। यदि ऐसी चिन्ता व्यक्त न की जाती तो नयी पीढ़ी के लेखकों को शायद अपनी शिकायत पेश करने के लिए कुछ नहीं रह जाता। नई पीढ़ी के इन लेखकों को अपनी इस विरासत से सीखना चाहिए, उन्हें यह सोचने की अवश्य चेष्टा करनी चाहिए कि शिल्प के साथ साहित्य के विषय भी बदलते हैं—अतएव शिल्प के साथ-साथ विषयों के चयन और उसका सर्जन-संगठन ही नये साहित्य, आधुनिक साहित्य का उद्देश्य होना चाहिए। शिवदानजी ने ठीक ही लिखा है—"नये को वास्तव में नया होना चाहिए। जीवन के ठोस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नों से सम्बन्धित, जीवन की नयी शक्तियों का प्रतिनिधि।" इसी प्रसंग में शिवदान जी ने एक दूसरी बड़ी बात कही है, जिसका सम्बन्ध नई और पुरानी पीढ़ी के लेखकों की आलोचकों के प्रति अभिव्यक्त दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। उपर्युक्त दो विरोध जो इन विवादों के बीच चलते हैं उससे दो प्रकार के निष्कर्ष भी निकलते हैं—जिनका नामकरण 'आधुनिक' और 'वर्तमान' के रूप में किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि ये वर्तमान पीढ़ी के साहित्यकार नये साहित्य का निर्माण करने के लिए व्याकुल हैं क्योंकि इनके मन में यह भावना काम कर रही है कि हमारा युग कई दृष्टियों से विगत युग के संस्कारों और चेतनाओं से भिन्न है। दूसरी ओर, आधुनिक साहित्यकार इन स्थापनों को पूर्ण रूप से स्वीकार करने में असमर्थ हैं। उनका मत है कि ऐसी कोई वर्तमान प्रवृत्ति उत्पन्न ही नहीं हुई, जिसे मान्यता दी जाय। कलागत विवेचना के लिए कोई ऐसी समस्या पैदा ही नहीं हुई। दूसरी ओर कुछ वर्तमान लेखक प्रगति के प्रति अनास्था-अविश्वास प्रकट करते हैं। उन्होंने विज्ञान को एक ऐसे अभिशाप के रूप में देखा है जिससे मानवीय आस्थाओं के विनाश की संभावना है। आधुनिक लेखकों ने विज्ञान को कला, संगीत, चित्र, और कविता के लिये पोषक तत्व मानते हुए यह स्थापना दी कि कला विज्ञान को सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में परिवर्तित कर उसके बाह्य-स्वरूप को बदल सकती है। कुछ और बहुत-से लेखक हैं जो अपनी लेखन-प्रक्रिया को लेकर किसी प्रकार चलते चले जा रहे हैं और उन समस्याओं से बचते रहे हैं जो बराबर एक पर एक देश, समाज और विश्व में उठीं और उठती रही हैं। इसका यह भी अर्थ नहीं कि उन्हें आधुनिक जीवन-सम्बन्धों के विषय में कहने को कुछ नहीं है। वे कहना भी चाहते हैं तो उसके पीछे आधुनिकता के प्रयास का कोई आग्रह नहीं है। हिन्दी कविता में बच्चन, दिनकर और पन्त की आधुनिक रचनाओं का ऐसा ही स्थान है। लॉरेंस की कविताओं का भावानुवाद और नई लोक-चेतना का स्पर्श दिनकर की रचनाओं में है। किन्तु दिनकर को वर्तमान, यानी नया नहीं कहा जा सकता, वे उस सीमा से अलग हैं—यह नये लेखक और आलोचक का वक्तव्य है। हालांकि इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि दिनकर ने अपनी नयी कविताओं में नई समस्याओं और स्थितियों का परिचय दिया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' इसका सबसे उल्लेख्य उदाहरण है किन्तु इसे नई कविता कहना, नई कविता के लेखकों की दृष्टि में संकुचित अज्ञानता और आलोचकीय पूर्वाग्रह का परिचय देना है। क्योंकि दिनकर ने नई कविता के युग में 'उर्वशी' ऐसे आउट आफ डेट काव्य का सृजन किया। आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम हम नई कविता पर विचार करते हैं—हालांकि नई कविता के सम्बन्ध में बातचीत करने का सिलसिला अब बहुत पुराना पड़ चुका है, नई कविता से भी ज़्यादा पुराना। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि नयी कविता को उसका पुराना रूप मिल चुका है जिसकी वजह से हम उसे क्लासिक (कालसिद्ध) कविता मानने के लिए तैयार हों। आज भी उसमें संभावनाएँ वर्तमान हैं। मुमकिन है कल नई कविता का कोई एक नया रूप सामने आये और आज तक की सारी 'नई' कमाई का दिवाला बोल जाय। नई कविता कहकर नये काव्य का विकास ही सारी अना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थाओं से भरा हुआ था, जिसके प्रति आज अच्छे-अच्छे कवियों को भी अनास्था दीखती है। कुछ लोगों ने ठीक ही उनकी भावनाओं का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि आज का अधिकांश काव्य काव्याभास है। किसी भी अनायास क्षण में लिखी गई कविता में सचमुच ऐसा ही काव्याभास होता है। जहाँ कविता के पीछे दृष्टिकोण का अभाव होता है, वहाँ ऐसा होना स्वाभाविक है। ऐसा यदि नहीं होता तो छायावाद के पतन की घोषणा और छायावाद के प्रत्यावर्त्तन का उल्लेख व्यर्थ ही माना जाता। काव्याभास से भी ज़्यादा, यद्यपि अशास्त्रीय शब्द, नई कविता के लिए यह प्रयोग में आ सकता है कि यह फ़ैशनेबुल कविता है। 'फ़ैशन' की कविता, जैसे फ़ैशन बदलते हैं, कविता बदलती चलती है। ये फ़ैशनवादी ज़रूर नये हैं, चाहे इनकी कविता में कुछ हो या न हो। फ़ैशनधर्मी नई कविता की भाषा में चित्र तो है, क्षण को पकड़ा भी गया है, चौंकाने का प्रयास भी ये कवि करते हैं। इस प्रसंग में लोगों का यह आरोप मुझ ऐसे आलोचक पर हो सकता है कि हम नई कविता समझ नहीं पाते इसीलिये शायद ऐसी बातें बिना समझे-बूझे लिखी जा रही हैं। नामवरजी ने ठीक ही लिखा है कि नई कविता पर लिखने वाले लोग जबरन उस पर लिख रहे हैं, लिखने को कुछ है नहीं और ऐसा लिखने वालों में अधिकाँश रूप से आलोचक नहीं होते। वे कवि होते हैं जो यह सोचते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित नई कविता के ट्रेन्ड को आलोचक पकड़ नहीं पा रहे हैं, जो निस्सन्देह उनकी नज़रों में आउट ऑफ डेट हैं। स्टीफेन स्पेंडर ने अपनी नई पुस्तक "दी स्ट्रग्ल ऑफ दी माडर्न" में कुछ ऐसी ही बातों की विवेचना करते हुए लिखा है कि आज बीसवीं शताब्दी के लेखकों में कुछ तो "समकालीन (कनटेमपोरेरी) हैं और कुछ सचमुच "आधुनिक" (मार्डन) हैं—नये। ये नई कविता के कवि शायद ऐसा ही मानते रहे हैं। नये लोग 'अपरंपरा' की कल्पना करते हैं, क्योंकि इनके संस्कार विगत के साहित्य से बिल्कुल अपरंपरागत हैं। यह अपरंपरा का दावा तथ्यहीन है या नहीं है, इससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है, लेकिन वे नये हैं। इस तथ्य के अन्वेषण के लिए यदि ऐतिहासिक आलोचना का सहारा लिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि तथाकथित नई कविता के युग में दो प्रकार की कविताओं का प्रचलन हुआ। इन दोनों धाराओं की कविताओं के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। तत्काल यह उल्लेख्य है कि इन कवियों ने अपने को केवल 'आधुनिक' ही नहीं माना बल्कि 'नया'। अपने को नया कहकर वे साहित्य की संभावनाओं के साथ भी प्रश्नचिह्न लगाने के लिए तत्पर हो गए। परिणामस्वरूप इन कवियों ने समकालीन आलोचकों द्वारा अपनी कविताओं की समीक्षा से सन्तोष नहीं पाया, हालांकि उनके मन में पहले से ही असन्तोष था, इसलिए प्रत्येक कविता के लिए कथ्य से अधिक वक्तव्यों पर ज़ोर दिया जाने लगा। 'सप्तकों' की परम्परा इसका उदाहरण है। हालांकि इन नई कविताओं के दावेदारों ने दबी ज़बान में ही सही 'सप्तकों' की परम्परा को भी नई कविता कहने से इनकार किया। इसीलिए 'नयी कविता' और आधुनिक कविता के संग्रह निकालने के प्रयास होते रहे। यह बात दूसरी है कि काव्य-धारा की दौड़ में निखालिस ऐसी नई कविताओं का दम टूटा या नहीं। नई कविता का प्रत्येक नया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि एक नया ट्रेण्ड स्थापित करने के लिए बौखला उठा है। कहने का अर्थ यह है कि इन कविताओं का शिल्प भले ही नया हो, किन्तु इनकी संवेदनाएँ आधुनिक हैं। नामवरजी के शब्दों में इनमें महत्वबोध अधिक है। इसी प्रसंग में ऊपर छोड़ी हुई इस बात को स्पष्ट कर रहा हूँ जिसे शिवदानजी ने ही (१) प्रगतिशील और (२) ह्रासोन्मुख कहकर दो वर्गों में बांटा है—इन दो प्रकार की नई कविताओं में एक धारा की विशेषता थी महत्वबोध को प्रश्रय और बोधगम्यता का विकास। उनके शब्द, अलंकार, प्रतीक, वातावरण और संवेदनाएँ बिलकुल स्पष्ट हैं। मानवीय उपलब्धियों में इनकी अगाध आस्था है—काव्याभास के ये शिकार नहीं हैं। विश्लेषण के बाद इस धारा के कवियों का सम्बन्ध प्रगतिशील काव्यधारा से जोड़ा जा सकता है। प्रगतिशील काव्य-परम्परा का यह नवीन विकास, एवं द्वितीय चरण है, जिसमें स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय जागरण के बाद की काव्योपलब्धियों, यथा भाव एवं शिल्प का नयापन तथा प्रयोग दिखाई पड़ता है। द्वितीय वर्ग के कवि जो आवश्यकता से अधिक फ़ैशनपरस्त और काव्याभास के चक्कर में पड़े हुए हैं अस्पष्टता और अविश्वास के शिकार हैं मानवीय सवेदनाओं को सहलाना और क्षण की अभिव्यक्ति अर्थात् अनायास लेखन और ग्रहण इनकी विशेषताएँ हैं। सेक्स और घुटन, निराशा और साप्रयास मर्म उत्पन्न करने का प्रयास इन कवियों में मिलता है। कवि सम्मेलनों और रेडियो से पढ़ी गई इन कविताओं का स्वर शोक-सभाओं में पारित होने वाले गद्य प्रस्तावों की याद दिलाते हैं। इनकी कविताओं को कविता केवल कहने के लिए कह सकते हैं किन्तु हैं ये गद्य के लयात्मक वाक्य-खंड, जैसे राजा राधिकारमण सिंह के औपन्यासिक उद्धरण और प्रवचन हों। इन कवियों का कवि-कर्म शिथिल चेतना और फूहड़ शब्द-शिल्प का शिकार बन रहा है। प्रथम वर्ग के कवि नागार्जुन, रामविलास शर्मा, गिरिजाकुमार आदि की परम्परा के पोषक हैं। दूसरे वर्ग वाले अज्ञेय और धर्मवीर भारती को अपना मसीहा मानते हैं और कभी-कभी जब इनकी उच्छृंखलता बढ़ जाती है तो गुरु की वाणी के विरोध में भी खड़े हो जाते हैं और चरण-चिन्हों को मिटाते हुए आगे बढ़ने वाला शहीद बताते हुए नहीं थकते हैं। अभी कुछ वर्ष पहले 'कल्पना' मासिक में प्रकाशित इस प्रकार के उत्तर-प्रत्युत्तर को बड़े उल्लास के साथ हिन्दी संसार ने आनन्द ले लेकर पढ़ा था।

हिन्दी कविता ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, विश्व-साहित्य की पृष्ठभूमि से भिन्न नये दौर से गुज़र रहा है—कहने का मतलब यह है कि हमारा जीवन-परिवेश जिस प्रकार का है वह अन्य देशों से अप्रतिम है। इसका उपयोग हमारे नये कवि नहीं कर पा रहे हैं। स्टीफ़न स्पेंडर ने ठीक ही कहा है कि ये आधुनिक कवि नये मार्ग का अन्वेषण कर रहे हैं, जो हमारे साहित्य की विगत परम्परा से बिलकुल भिन्न है। यही नये कवियों की देन है और मौलिकता हो सकती है। यह नयापन तभी जन्म लेगा जब नये कवि परम्परा को अपनी बाँहों में समेटते हुए चलेंगे। ऊपर जिस प्रथम वर्ग का उल्लेख किया गया है उनमें स्पेंडर के अनुसार युग की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जिसे आधुनिक कविता के लिए आवश्यक माना जाना चाहिये। ये आधुनिक कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता करने, गद्य लिखने और बातचीत के लिए अलग ढंग की भाषा नहीं पहचानते। वह ऐसी भाषा लिखता है जो बनावटी नहीं होती, कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण नहीं होती। आधुनिक कवि का व्यक्तित्व कविता लिखते समय, बातचीत करते समय, और संघर्ष के समय भी एक ही होता है" लेकिन ऐसी बात हो नहीं रही है, ये नये कवि अपने व्यक्तित्व का लय कर अपने को "लघु मानव की खोज" में लगा रहे हैं। यही वजह है कि आज नई कविता के द्वारा लघु मानव की खोज तो क्या होगी नई कविता के वास्तविक तथ्य को भी भुला दिया गया है और उसके स्थान पर आत्म-कथात्मक कविता—"मैं" की अभिव्यक्ति होती जा रही है। नया कथा-साहित्य तो जैसे आत्मकथात्मक ही बनता जा रहा है इसीलिए नई कविता का सारा आन्दोलन आज भी उसके तथ्य निरूपण के लिए ही ज़्यादा चल रहा है। इसीलिए शिवदानजी के शब्दों में ही अनास्था को आधुनिकता और नयापन का पर्याय नहीं माना जा सकता। हिन्दी साहित्य में आधुनिकता को सदैव लोक-चेतना के अर्थ में ही समझा जाना चाहिये, जिसका प्रारम्भ सन् १८३६ ई० से ही हो जाता है। यथा, प्रगतिशील आन्दोलन की जनवादी परम्परा और आधुनिकता के बोध को ही आधुनिक (माडर्न) कहा जा सकता है। सन् १९५६ ई० में ही आधुनिकता को ही लक्ष्य कर मैंने लिखा था—"गत कुछ वर्षों से प्रयोगवाद को कुछ व्यापक बनाने के लिए नवयुवक कवियों का एक दल इसे नई कविता नाम से प्रचारित करने लगा है। (द्रष्टव्य—नई कविता—सं० डॉ० जगदीश गुप्त) उनका आग्रह है कि इसे आधुनिक कविता भी नहीं कहा जाय (द्रष्टव्य—बालकृष्ण राव, कल्पना, जनवरी, १९५६)। स्पष्ट है कि प्रयोगवाद से नई कविता तक की उनकी यात्रा विचित्र, कुण्ठित और भ्रान्त यात्रा रही है और वे अज्ञेय के शब्दों में वस्तुतः "मार्ग के अन्वेषी" ही रहे हैं। मेरा विश्वास है कि आगे चलकर आधुनिक नाम ही स्वीकृत होगा और प्रयोगवाद को प्रगतिवादी कविता का एक कुण्ठित अंग मानना पड़ेगा।"

आधुनिक हम उसे कहेंगे जो यह मानकर चलते हैं कि मानव-प्रवृत्ति परिवर्तित हो गई है। यदि ऐसा न भी माना जाय तो वे इतना तो अवश्य मानते हैं कि व्यक्ति का आवेष्टन के प्रति सम्बन्ध परिवर्तित हो गया है। आधुनिकता का यह बोध विचारणीय तो अवश्य है किन्तु यह कहना कठिन होगा कि क्या सचमुच मानवीय बोध और मानव-प्रवृति में परिवर्तन आया है? ई० एम० फोस्टर ने एक स्थान पर लिखा है कि "इतिहास विकसित होता है किन्तु कला स्थिर रहती है।" स्पष्ट है कलाकार का शिल्पगत दृष्टिकोण तो बदलता है कलात्मक भाव-बोध का बदलना शायद संभव नहीं।"

आधुनिक कला वही मानी जाती है, जिसमें कलाकार अपरम्परागत स्थितियों, शिल्पों और मुहावरों का प्रयोग करता हो। वह तत्त्व जो तथाकथित आधुनिक कहलाता है भावों से अधिक टेकनीक में उसका विकास माना जा सकता है। राष्ट्रीय जागरण के युग में विकसित सुमित्रानन्दन पंत, निराला और दिनकर की कविताओं को शायद तथाकथित आधुनिक [नया] नहीं कहा जा सकता। यद्यपि ये कलाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक परिवेश, सामाजिकता और महत्त्व बोध से बराबर सम्बन्ध रखते रहे हैं। इसका मुख्य कारण यह हुआ कि इन कलाकारों में अन्याय, अत्याचार और जुल्म के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति विद्यमान थी, क्योंकि इन्होंने अपने-आपको एक द्रष्टा लेखक के रूप में माना। उनकी संवेदनाएँ केवल उस युग का ही प्रतिबिम्ब नहीं थीं—युग-युग की वस्तु बन गईं।

आधुनिक साहित्य का यह आन्दोलन कई प्रकार के शिल्प और भावगत चेतनाओं की अभिव्यक्ति को लेकर आगे बढ़ा—नई कला के द्वारा आधुनिक अनुभूति के प्रत्यक्षीकरण का प्रयास, प्रत्यक्षीकरण यह आधुनिकता का सबसे बड़ा लक्षण है, जिसके द्वारा आधुनिक युग में हुए नये परिवर्तन को नये शिल्प में ढालने का प्रयास किया जाता है। जीवन के मान-मूल्यों को औद्योगिक नगरों, मशीनों, क्रान्तियों और वैज्ञानिक विचारों ने बदला है। इन नये प्रत्यावर्तनों को भाषा और नये भाव-बोध के द्वारा अभिव्यक्त किया जा रहा है। अतः इन नये साहित्यकारों को युग-बोध की अभिव्यक्ति के लिए नये मुहावरों, नये शिल्पों और नई दृष्टि का परिचय देना पड़ रहा है। प्राचीन रूढ़ियों का विनाश और नई मानवता के स्वर इनमें स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। नागार्जुन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर, डॉ० रामविलास शर्मा आदि आधुनिक कवियों में इस नई भाषा-शैली के दर्शन हमें हुए थे। इन नये साहित्यकारों का स्वर मात्र समाजवादी साहित्यकारों का ही स्वर नहीं था। इनकी संवेदना मानव के मार्मिक भावों का स्पर्श करती है।

आशा और विश्वास की ताज़गी इन आधुनिक साहित्यकारों में हमें मिलती है। नागार्जुन का बलचनमा हो या त्रिलोचन का 'दिगन्त' सबों की अन्तर्धारा में विश्वास की अन्तःसलिला प्रवाहित है। कमलेश्वर, मार्कण्डेय और भैरवजी की कहानियों में भी विश्वास के ये स्वर हैं। इसलिए इन्हें आधुनिक कहा जायगा। जब कि ठीक इसके विपरीत इसी युग में इनके समकालीन कथाकारों के चरित्र निराशावादी, कुण्ठित और अनास्था से भरपूर दिखाई पड़ते हैं। रेणु का नायक जितेन्द्रनाथ भी आस्था का प्रतीक बन जाता है। यह आस्था जीवन से साहित्य का सम्बन्ध बनाने में समर्थवान होती है। अक्सर साहित्य का ऊपरी शिल्प आशावादी दिखाई देता है, किन्तु रहता है उसमें आस्था का खोखला म्यान। इसके उदाहरण के लिए डॉ० भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', सर्वेश्वर का 'सोयाहुआ जल' काफ़ी है।

कला की आस्था का मतलब है कि आधुनिक जीवन के विकेन्द्रित जीवन-प्रसंगों को कलाकार पुनर्स्थापित करे। इस समाज में रहकर कलाकार को देश की असमानता, शोषण आदि का शिकार होना ही पड़ता है, किन्तु वह इसे मिटाने की दिशा में अग्रसर होता है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उसकी दृष्टि शोषितों और शोषकों को पहचानने में किसी प्रकार का पूर्वाग्रह दिखलाये। साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि साहित्यकार, चाहे वे अभिव्यंजनावादी अथवा अति यथार्थवादी हों, अपने को जन-जीवन और लोक-चेतना का प्रहरी, क्रान्तिकारी साहित्यकार मानकर रचना करने की घोषणा करते हैं। यह भी सच है ये अति यथार्थवादी कलाकार आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलकर दो वर्गों में बँटे, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। एक का विश्वास अचेतन की जनतान्त्रिक मानसिक चेतना को उभारने में है, जो आर्थिक समाजवाद के साथ समानता रखने की चेष्टा करता है। दूसरा वर्ग पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार का प्रयोग करता हुआ मात्र कलात्मक रचना की सजल प्रेरणा पर ज़ोर देता है।

आधुनिकता का बोध यथार्थ को आन्तरिक जीवन में परिवर्तित कर देना है, जिसकी प्रतिक्रिया सामाजिक बाह्य-जीवन व्यापारों में देखी जा सकती है। भौतिक संसार के अनुबिम्ब आन्तरिक जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति कर सकते हैं। रांगेय राघव का 'मेधावी' काव्य आधुनिक लोक-चेतना और संघटना की पंक्ति में शायद उल्लेख्य होगा। आधुनिकता का बोध अवश्य ही आधुनिक अनुभूति के चित्र का बिन्दु होना चाहिए। कुण्ठा, काम-चेष्टा या कामुकता का चित्रण वास्तविक जीवन-परिधि की इकाई में आना चाहिए और आता रहा है। लॉरेंस ने ऐसी सारी काम-चेष्टाओं को अस्वीकृत कर दिया है, जिसकी कोई संभावना जीवन में है ही नहीं। लॉरेंस ने सामाजिक संघटन को भी इसका एक हिस्सा माना है। अमेरिका के 'विटनिकों' ने जीवन का ह्रास कला में और कला का ह्रास जीवन में दिखाने की चेष्टा की है, जिसका सम्बन्ध इस बात से है कि कला-सृजन के लिए कलाकार का जीवन अनुशासित और व्यवस्थित होना चाहिए। आधुनिक कला के लक्षणों में 'विकृति' भी एक है। किन्तु यह आधुनिकता और आधुनिक कला में एक नये मोड़ [विकृति] के रूप में माना जा सकता है, जिसे प्रायः आज तक आधुनिक साहित्य के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत समाहित नहीं किया जाता रहा है। यह विकृति अन्तर्मुखी कलाकारों द्वारा अनुभूत बाह्य-सत्य की अभिव्यक्ति का एक मार्ग है। 'झूठा सच' उपन्यास में अंकित जीवन के विभिन्न विकृत चरित्र आधुनिकता का स्वीकृत प्रतिमान हैं। आधुनिक कला ने जीवन की क्रान्तिकारी परम्परा को ग्रहण किया है और उसे ऐसी ही परम्परा को ग्रहण करना होगा। नागार्जुन, यशपाल, भैरवप्रसाद गुप्त आदि के उपन्यास आधुनिकता के परम्परागत क्रान्तिकारी सूत्रों के प्रतिमान हैं, जिसे हम अपरम्परागत भी नहीं कह सकते। बलचनमा गोबर की परम्परा का सबल प्रतिनिधि है—आधुनिकता का द्योतक।

अन्त में पुनः कहना चाहूँगा कि आधुनिकता का अर्थ होता है समस्त आधुनिक परिवेश की बहुमुखी अभिव्यक्ति, जिससे आधुनिक महान कृतियों का सृजन हुआ है।

अतएव आधुनिक साहित्य स्वतः लोक-चेतना की अभिव्यक्ति करता रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
८४
दि ३७ आ
अं-३०, प्र-२

गोविन्द रजनीश

"पाश्चात्य और हिन्दी की नई कविता में सांस्कृतिक विघटन"

आधुनिक काव्याकाश में उदित विभिन्न सम्प्रदाय प्रायः पाश्चात्य काव्य-जगत् से अनुस्यूत किये गए हैं। पाश्चात्य सिद्धान्तों से अनुप्राणित क्षेत्रों से नये कवि को जो कुछ प्राप्त हुआ उसने उसे स्पृहणीय मान लिया। पहले पाश्चात्य जगत् के स्वछन्दतावाद ने हिन्दी कवियों को प्रभावित किया। तत्पश्चात ज्योर्जियन कवियों का संग्रह सन् १९११-१२ में प्रकाशित हुआ, जिसमें रूपर्ट-ब्रुक, डेविस, जानड्रिंकवाटर, मन्लेकर, गिब्सन, मेसफील्ड, मनरो, टर्नर आदि प्रमुख कवि थे। इस संग्रह से ही पाश्चात्य नई कविता का सूत्रपात हुआ। यथार्थवादी प्रभाववादी (Realistic impressionism) का जन्म इन्हीं से हुआ। इस संग्रह की कविताएँ परम्परागत काव्य-धारा से असम्पृक्त थीं, क्योंकि इनमें सामान्य कथोपकथनात्मक शैली को व्यवहृत किया गया तथा दैनिक जीवन के सामान्य उपकरणों को वर्ण्यवस्तु बनाया गया था। यद्यपि युद्ध की विभीषिका अभी दूर थी, परन्तु यान्त्रिक जीवन की घुटन, निराशा, अवसाद, जीविकोपार्जनार्थ भटकते मनुष्यों की वेदनायुक्त सिसकियों की अनुभूति इन कवियों को भी हुई। गिब्सन ने सम्पूर्ण जीवन को एक मापदण्ड की ओर गतिशील बनाया है, वह लक्ष्य या मापदण्ड है, दैनिक भोजन, जिसको प्राप्त करने के लिए आधुनिक व्यक्ति भटकता है। उदर-पूर्ति ही उसका लक्ष्य है। भौतिक साधनों के पीछे विक्षिप्त मानव आध्यात्मिक ज्ञान को भूला बैठा है। यान्त्रिक सभ्यता से त्रस्त मानव प्रज्ज्वलित भट्टियों से भी आक्रान्त हैं।

वे विशाल रक्त वर्ण आँखें,
अपनी लपटों से मुझे जला डालती हैं।
उनकी चमक रात-भर चकाचौंध करती है,
वे कभी सोती नहीं,
मुझे हमेशा घूरती रहती हैं,
निष्पलक—
घूरती हैं, घूरती रहती हैं।[1]

विश्वविद्यालय पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

1. The great, red eyes......
They burn me through and through.
They glare upon me all night long;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीसवीं शताब्दी सामान्य जीवन में असन्तोष और बुभुक्षा का युग मानी गई है। उस असन्तोष और बुभुक्षा के पीछे पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों की एक बृहत् सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि रही है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्धों के कारण मानव-मूल्यों में विघटन तीव्रता से हुआ, जिसके कारण सभ्यता और संस्कृति का विघटन प्रारम्भ हो गया। अणु की विध्वंसक शक्ति ने मानवीय चेतना को झकझोर दिया, जिससे यूरोप में प्राचीन मान्यताएँ खण्डित होने लगीं। मानव-मूल्यों के तीव्र विघटन से अनास्था, कुण्ठा, असन्तोष, वेदना के स्वर काव्य में उभरते रहे। प्रथम विश्व-युद्ध की विभीषिका ने इन स्वरों में आहुति दी, परिणाम यह हुआ कि कवियों की जीवननिष्ठा, सौन्दर्यबोध और अनुभूति पर कुठाराघात हुआ और उसका स्थान निराशा, वेदना, अवसाद, कुण्ठा, अनास्था, अनिश्चितता, आकुलता, मानव-द्रोही व्यक्तिवाद ने ले लिया। इस समय का यूरोपीय काव्य कुण्ठाओं, विभीषिकाओं, विघटनशील तत्त्वों का प्रस्फुटन करता रहा। इस सांस्कृतिक विघटन के अच्छादित जाल से अधिकांश काव्य अभिभूत हुआ।

आयरलैंड में हुए गृहयुद्ध ने आयरिश कवियों को भी प्रभावित किया। भय, युद्ध की विभीषिका, सांस्कृतिक विघटन ने 'येट्स' के मस्तिष्क और कल्पना को बुरी तरह जकड़ लिया। उसने अपनी कविताओं में तमसोन्मुख सभ्यता को पतन के गह्वर की ओर जाती हुई बतलाया है। गृह-युद्ध से पूर्व का आयरलैंड सुखी, समृद्धिशाली था, पर अब पक्षधर नाग वहाँ की सभ्यता पर लोट रहा था।

युवावस्था में हमारे पास भी सुन्दर खिलौने थे,
उत्कोच या भय उत्पन्न करने के लिये,
कानून, दोषारोपण या प्रशंसा से तटस्थ था।
इन दिनों ड्रेगन हम पर सवार है,
दुःस्वप्न निद्रा पर सवार हैं; मदिरापान किये सैनिक,
हत्या के बाद एक माँ के शव को उसके द्वार पर छोड़ सकते हैं।[1]

गृह-युद्ध की जन-घटनाओं को देखकर 'येट्स' की वैयक्तिक वेदना में भयंकर आश्चर्य जागृत हो गया—

They never sleep;
But always glove on me
They never even flink;
But stare, and stare......

1. We too had many pretty toys when young;
A law indifferent to blame or praise,
to brike or threat......
Now days are aragon-ridden, the nightmare
Rides upon sleep; a drunken soldiery
Can leave the mother, murdered at her door.

W. B. Yeats.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्ण परिवर्तित हो गया, पूर्णरूपेण परिवर्तन,
एक भयानक सुन्दरता का जन्म हुआ है।[1]

ही ध्वनि येट्स के 'सिक्सटीन डेड मेन' में दृष्टिगोचर होती है—

ओह जैसा कि पहले हमने विशद रूप में कहा था,
सोलह व्यक्तियों की मृत्यु हो गई,
लेकिन आदान-प्रदान की कौन बातें कर सकता है,
कि क्या होना चाहिये, क्या नहीं,
जब कि वे मृत व्यक्ति वहाँ कालक्षेप कर रहे हैं,
उबलते बर्तन का मंथन करने हेतु ?[2]

प्रथम विश्व-युद्ध के २०-२५ वर्ष पूर्व से ही खण्डित मानव-मूल्यों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हुआ। सम्भवतया विश्व-युद्धों ने इन पर अन्तिम प्रबल आघात किया। युद्ध की विभीषिका के सहयोग से विभीषिका और युद्ध जन्य कुप्रभावों का विशद रूप से वर्णन हुआ। लारेंस ने इस ओर संकेत किया है "सन् १६१५ में विश्व की प्राचीनता का लोप हो गया। १६१५-१६ के शीतकाल में प्राचीन लन्दन की आत्मा नष्ट हो गई। लन्दन विश्व का केन्द्र होने पर भी नष्ट हो गया, तथा खण्डित धैर्य, काम-वासना, आशाओं, भय, हाहाकारों का चक्रवात बन गया।[3]

विलफ्रेड ओवेन, सिगफ्रिड़ सैसून, रुपर्ट ब्रुक की कविताएँ इस कथन की साक्षी हैं। ओवेन की वैयक्तिक अभिरुचि, शैली १९वीं शताब्दी की थी। वस्तुतः इलियट और इज़रापाउण्ड की तरह वह साहित्यिक-बौद्धिक नहीं था। युद्ध ने, जो कि असाहित्यिक घटना थी, उसे कवि बन जाने के लिए विवश कर दिया था। ओवेन की कविताओं में सैसून की तरह उग्रता और हिंसात्मकता नहीं है। फिर भी उसने युद्धजनित निराशा, अनास्था का मर्मग्राही चित्रण किया है—

हमारी सशस्त्र सैनिक टुकड़ी,
इस समय उसे ले आई, मृत्यु का वार चूका नहीं।
केवल बहते हुए रक्त को पोंछने के सिवा हम कुछ न कर सके।

---

1. All changed, changed utterly,......
   A terrible beauty is born,......IBID.
2. O but we talk at large before,
   The sixteen men were shot,
   But who can talk of give and take.
   What should be and what not
   While there dead men are loitering there
   To stir the boiling pot...(W. B. YEATS).
3. It was in 1915 the old world ended. In the winter of 1915-1916 the spirit of old London collapsed; the city, in some way, perished, perished from being the heart of the world, and become a vortex of broken passions, lusts, hopes, fears, and horrors. (Lawrence).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या यह दुर्घटना थी ? बन्दूक चूक गई···
क्या अस्त्राघात था ? नहीं, (पोस्ट मार्टम से पता चला कि गोली
अंग्रेजों की थी।)[1]

सेसून ने 'काउण्टर अटैक' में युद्ध की विभीषिका, बर्बरता, हिंसात्मक प्रवृत्तियों का बड़ा यथार्थ एवं रोमांचक चित्र खींचा है। इस युद्धकालीन कविता ने मानवीय चेतना को आक्रान्त कर दिया। सुप्त मानसों को झँझोड़ डाला। समस्त मर्यादाओं, नैतिक धारणाओं, धार्मिक अवस्थाओं को तोड़ डाला। रुपर्ट ब्रुक को मदोन्मत्त सैनिकों के उन भयावह कृत्यों से कोई सहानुभूति नहीं है। तभी वह कहता है :

तुम्हारे स्वप्नों को चीरती पीत वर्ण की बटालियनों में जाते,
जब तुम उन लाखों मृतकों को देखते हो,
उस समय संवेदना के स्वर व्यंजित मत करो,
जैसा कि दूसरों ने किया है,
उनकी प्रशंसा करना भी अनुपयुक्त है,
क्योंकि वह बधिर हैं—कैसे सुन पावेंगे ?
उनके प्रत्येक खण्डित सिर पर क्या यह अभिशापों का पुन्ज नहीं है ?
अश्रुपात मत करो, क्योंकि मरना सहज है।[2]

यूरोप की सभ्यता और संस्कृति जिस संक्रान्तिकाल में होकर गुजर रही थी और जिस तीव्रता के साथ उसका विघटन हो रहा था, उसी के अनुरूप काव्य-सर्जन हो रहा था। तभी इजरा पाउण्ड, टी० एस० इलियट जैसे कवियों का काव्य-जगत् में पदार्पण हुआ। सन् १९२२ में प्रकाशित इलियट के 'वेस्टलैंड' (ऊसर भूमि) में उन विघटनशील मान्यताओं को मार्मिक रूप दिया गया है।

'ऊसर भूमि' फ्रेजर के 'इन्द्र धनुष' पर आधारित पौराणिक आख्यान से मण्डित प्रतीकात्मक काव्य है। 'जीवन में मृत्यु' ही इसका कथासार है। यूरोपीय

---

1. Our down, our wire patrol
Carried him this time, death had not missed.
We could do nothing but wipe his bleeding corgh
Could it be a accident ? refiles go off...
Not suiped ? No.
(later they found the English ball) (Owen).

2. When you see millions of the mouthless dead
Across your streams in pale battalions go,
Say not soft things as other men have said,
That you will remember, for your need not so.
Give them no praise, for deaf, how should they know
It is not curses heaped on each gashed head ?
Nor tears, their blind eyes see not your tears flow
Nor honour, it is easy to bo dead. (Brooke)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति के विघटनशील तत्त्वों का बीभत्स, कुत्सित, भयावह वर्णन जैसा 'वेस्टलैण्ड' में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'वेस्टलैण्ड' के निवासी पापी, दुराचारी, व्यभिचारी दुर्बल आत्मा वाले आस्थाहीन हैं। इलियट के भय, अनास्था, विक्षिप्ति, व्यभिचार, दुराचार, पाप और भ्रूणहत्या ने परवर्ती कवियों को ही नहीं वरन् अन्य भाषा के कवियों को अप्रतिभ रूप से प्रभावित किया। इलियट के अनुसार वन्ध्यता और वृद्धिरोध से आवेष्टित आधुनिक सभ्यता मृत्यु की आकांक्षी है। 'सिबिल' हमेशा मृत्यु की आकांक्षी बनी रहती है। 'ऊसर भूमि' के निवासियों का व्यक्तित्व भी खण्डित है। प्रकृति भी उनके लिए कठोर बन गई है :

> खण्डित बिम्बों का पुञ्ज, जहाँ सूर्य तप्त करता है।
> मृत वृक्ष छायाहीन है, झींगुर बेचैन हैं,
> एवं शुष्क पाषाणों से रसधार की ध्वनि नहीं आती है।[१]

इलियट के अनुसार उनकी इच्छा-शक्ति कुण्ठित है। उस रूपहीन मानव की शक्ति लकवा से पंगु हो गई है :

> रूपहीन आकृति, वर्णहीन छाया,
> लकवा से पंगु शक्ति, गतिहीन अंगविक्षेप।[२]

आज का मानव भूलभुलैया में भटक रहा है :

> मैं सोचता हूँ हम भटकी राहों में हैं,
> जहाँ मृत व्यक्तियों ने अस्थियों के अवशेष खो दिए हैं।[३]

इस विश्व में आस्था के आईसोलडस शिप का कोई चिह्न नहीं है। सर्वत्र रिक्त शून्य सागर है, जो प्रेम के अभाव का द्योतक है। ऊसर भूमि के निवासी वसन्त की अपेक्षा शीत अधिक चाहते हैं। आजकल नगरों का गतिशील जीवन चेतन और अचेतन के मध्य स्पन्दनशील टैक्सी के समान है।[४] आज का व्यक्ति न तो जीवित है, न ही मृत। ज्ञान-शून्य-सा नीरवता के साथ प्रकाश की ओर झाँक रहा है।[५] इसी तरह जगत् समाप्त हो जाता है। लेकिन मनुष्य धूमधाम से नहीं मर सकता, केवल सिसकी-भर निकल सकती है।

---

1. A heap of broken images, where the sun beats,
   And the dead tree gives no shelter, the Cricket no relief,
   And the dry stone no sound of water. (Waste Land)
2. Shape without form, shade without colour
   Paralysed force; gesture without motion. (ibid)
3. I think we are in rats alley,
   Where the dead men lost their bones. (ibid)
4. At the violet hour, where the eyes and back
   Turn upward from the desk, when the human engine waits
   Like a taxi throbbing waiting,
   I Tresias, though blind, throbbing between two lives. (ibid)
5. I was neither living nor dead, and I know nothing,
   Looking in the heart of light, the silence. (ibid)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निःशेष मानव (The Hollow men) में कवि कहता है : "हम निःशेष मानव हैं, हमारे दिमाग में भूसा भरा हुआ है ।" जो आज के मानव की शून्यता, खोखलेपन की ओर संकेत करता है ।

इलियट के परवर्ती कवि इज़रापाउण्ड, इलियट-येट्स की धरोहर को अग्रसर करते रहे । व्यथाओं के युग (एज ऑफ़ एंग्ज़ाइटीज़) में ऑडेन ने युद्धकालीन आधुनिक चेतना, जोकि निर्मूल, एकान्तप्रिय, अरक्षित है तथा भय, लज्जा और असफलता की चेतना द्वारा शासित है, के निर्माण का प्रयास किया है :

हम जर्जर हो जायेंगे, पर बदलेंगे नहीं,
क्षण के 'क्रास' पर चढ़ने की अपेक्षा
हम अपने त्रास में मृत्यु का वरण कर लेंगे,
किन्तु अपने भ्रमजालों को नष्ट न होने देंगे ।[1]

ऑडेन ने दूसरे स्थान पर कहा है कि आज के प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे पर बौद्धिक लज्जा झलकती है । उमड़ता हुआ दया का सागर प्रत्येक की आँख में जकड़ गया है तथा जम गया है । ऑडेन मृत्यु, उत्पीड़न से अत्यन्त भयभीत था :

साँझ,
जबकि भय का पहरा बढ़ जाता है,
त्रास के सिंह छाया में से लम्बे डग भरते आते हैं,
और हमारे घुटनों पर उनका थूथुन स्पर्श करता है,
और मृत्यु अपनी पुस्तक बन्द कर देती है ।[2]

डगलस ने भी मृत्यु की विभीषिका को लेकर अनेक कविताएँ लिखी हैं :

दृष्टिहीन आकृतियाँ,
कोरों पर स्रवित अश्रु की तरह भग्न आँखें,
एक मृत अकेला तालाब,
झुका हुआ है जहाँ गप्पों का अस्तित्व,
मैं पाषाण के सदृश पैरों को जल के भीतर देखता हूँ,
तर्क की क्षुद्र मछलियाँ जमा होकर गोश्त नोंचती हैं,
यह कल्पना करके कि मैं भी एक मृतक हूँ ।[3]

---

1. We would rather be ruined
   We would rather die in our dread
   Then climb the cross of moment
   And let our illusions die. (W. H. Auden)
2. Evening when
   Fear gave his watch no look;
   The lions of grief leop from the shade
   And on our knees their muzzles laid
   And death put down his book. (IBID)
3. Faces with sighless doors
   For eyes, with cracks like tears,
   Oozing at the corners. A dead tank alone

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औद्योगिक युग की कर्कशता ने यूरोपीय काव्य में संवेदनाओं को बहरा बना दिया। बाह्य शान्ति के भीतर विस्फोटक ज्वालामुखी धधकता रहा। नई पीढ़ी उससे आक्रान्त हुई। अमेरिका की 'पराजित पीढ़ी' और इंगलैण्ड के 'क्रुद्ध युवक' इसी प्रकार के काव्य की सर्जना करते रहे। पाश्चात्य जगत् की अनास्था, कुण्ठा, निराशा में फ्रॉयड, एडलर, युङ्ग के मनोविश्लेषणकारी तत्त्वों ने पूर्ण सहयोग दिया। वैज्ञानिक आविष्कारों से जीवन इतना गतिमय हो गया कि नया कवि पुरानी कविता की भाव-संवलित शैली तथा भाव-प्रवणता को छोड़कर बौद्धिकता की ओर उन्मुख हो गया। कल्पना-प्रधान काव्य और वैज्ञानिक प्रगति के मध्य निरन्तर संघर्ष होता रहा जिससे बौद्धिकता प्रबल हुई। जैसे-जैसे बौद्धिकता का प्रसार हुआ वैसे ही ईश्वर और धर्म पर से आस्था उठ गई और अनास्था के स्वर वेग से मुखर होने लगे। मार्क्सवादी विचारधारा ने जहाँ ईश्वर और धर्म का विरोध किया, वहाँ वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने उसके अस्तित्व का पूर्णतया लोप कर दिया। बौद्धिकता से तार्किक शक्ति का अभ्युदय हुआ, जिसने धर्म और ईश्वर के प्रति अनास्था के साथ मिलकर नैतिक बन्धनों को शिथिल कर दिया। व्यक्ति का 'स्व' प्रबल हुआ। मानव-मूल्यों के विघटन के साथ मिलकर इस 'स्व' ने अनेक कलेवर धारण किये। पाश्चात्य जगत् की इन ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों ने हिन्दी के नये काव्य को प्रभावित किया।

दृढ़ता भारतीय संस्कृति की अपनी विशिष्टता रही है। कितने ही विदेशी आक्रमणकारियों का यहाँ प्रभुत्व रहा, लेकिन अभेद्य दुर्ग की तरह भारतीय संस्कृति अटल रही। पाश्चात्य जगत् में व्याप्त सांस्कृतिक विघटन के मूल कारणों ने भारतीय संस्कृति को उतना प्रभावित नहीं किया जितना विघटनजन्य काव्य ने। भारत में पूर्णरूप से औद्योगीकरण नहीं हुआ, न ही दोनों महायुद्धों ने संस्कृति पर कोई आघात किया। केवल आर्थिक व्यवस्था में किंचित् उलट-फेर हुए। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी हिंसा को गौण स्थान प्राप्त हुआ। फलस्वरूप भारत में सांस्कृतिक विघटन होने का प्रश्न ही नहीं था। यद्यपि मानवीय चेतना के जिस धरातल को पाश्चात्यवासी छू सके हैं, उसे अभी तक भारतवासी नहीं। अतः चेतना की लहर धीरे-धीरे भारत की ओर बढ़ रही है। अनुकरण-मात्र के आधार पर ही इलियट, येट्स, सार्त्र, मूनियर, कमिंग्स, इजरा पाउंड से प्रभावित होकर हिन्दी के कुछ कवियों ने सांस्कृतिक विघटन का कृत्रिम वातावरण तैयार कर दिया है। धर्मवीर भारती ने 'अन्धा युग' में विघटनशील तत्त्वों का विशद वर्णन किया है। 'वेस्टलैंड' की तरह 'अन्धायुग' में भी पौराणिक आख्यान के आधार पर आधुनिक कुंठाओं, विकृतियों, निराशाओं का प्रतीकात्मक आधार पर वर्णन किया गया है—

Hears where the gossips stood
I see my feet like stones
Under water, the logical little fish
Converge and nip the flesh
Imagining I am one of the dead. (Douglas)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर,
बीतता नहीं रह-रहकर दोहराता है,
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं,
हर क्षण अन्धियारा गहरा होता जाता है,
हम सबके मन पर गहरा उतर गया है युग,
अन्धियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,
है दास वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की,
अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है।[1]

वर्तमान युग के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संघर्ष तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की माँग और शून्य हृदय की चीखों और पुकारों ने नये कवि को निराशा और अवसाद के कुहरे से लपेट दिया है। विकलता के बन्धन में बंधा कवि छटपटा रहा है। निराशाजन्य अनुभूतियाँ ही उसके पास व्यक्त करने को शेष रही हैं। आस्थाविहीन समाज किस ओर प्रवृत्त होता जाएगा यह समझ में नहीं आता। नये कवि को न जाने क्या दुःख मिला है। वह जीवित रहते हुए भी अपने को मृतक समान मानता है।[2] टीस, निराशा, कसक, वेदना, अन्तर्द्वन्द्व, अवसाद, उदासी, दुःख, विकलता, असहायता, विवशता से आबद्ध कवि मानस अपने को नदी-तल की रेत के समान तुच्छ मानता है, जो किसी भी क्षण बह जाने की अवस्था में हैं।[3] कभी मानसिक क्लेशों की घनीभूत पीड़ा असमय में ही जर्जर वृद्धपन ला देती है, जिससे तन, मन, धन की समस्त चेतना अवरुद्ध हो जाती है।[4] कभी वह भयावह कल्पना करने लगता है—

एक दिन जब,
मेरा माथा टूट जायेगा,
आँखें सूख जायेंगी,
छाती दरक जायेगी,
हाथ फूट जायेंगे,
पैर गल जायेंगे,
नदी-वेग से बह जायेगा, रक्त
धज्जियों से उड़ जायगा मांस
एक दिन जब।[5]

इसके अलावा हिन्दी की नई कविता में अभिव्यंजना-रुढ़ि अपना गहरा असर कर चुकी है। एक ने 'अन्धा युग' लिखा, दूसरे 'अन्धी पुत्रियों,' 'अन्धी आस्थाओं,'

---

१. धर्मवीर भारती, 'अन्धायुग,' पृष्ठ १३०।
२. अज्ञेय, 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये,' पृष्ठ ७६।
३. धर्मवीर भारती, सात गीत वर्ष, पृष्ठ १२३।
४. धर्मवीर भारती, ठण्डा लोहा, पृष्ठ ४१।
५. अशोक वाजपेयी, कल्पना ६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अन्धी गली, 'अन्धी प्रतीक्षाओं,' से सम्बन्धित कविताएँ लिखना प्रारम्भ कर देते हैं। उनके वक्तव्यों में 'हम नये-छोटे लोग,' 'हम सब बौने हैं,' 'हम लघु हैं,' 'हम नगण्य हैं,' 'हम जारज हैं,' 'हम भ्रूण हैं,' हमारे हाथों में 'टूटी तलवार की मूठ है' की ध्वनि उनकी विघटन प्रवृत्तियों की ओर संकेत करती है। जहाँ तक समाज के प्रतिबिम्ब का प्रश्न है, ये कविताएँ उससे बहुत दूर हैं। पूरा समाज तो जारज, भ्रूण नहीं है, या उसका मांस धज्जियों से नहीं उड़ रहा है, फिर नये कवि क्यों इस प्रकार पाश्चात्य कविता की अन्धाधुन्ध नक़ल कर रहे हैं? यूरोप में सांस्कृतिक विघटन की जो अवस्था चल रही थी, उससे भारत काफ़ी दूर है। चीनी-आक्रमण के पश्चात् भी भारत में वह अवस्था नहीं आने पाई है। प्रथम तो ये कविताएँ सत्यम् से सम्बन्धित नहीं हैं, फिर 'शिवं,' 'सुन्दरं' की कल्पना तो करना ही व्यर्थ है। हिन्दी की इस ह्रासोन्मुख कविता ने भारत में सांस्कृतिक विघटन का जो कृत्रिम चित्र खींचा है, वह किसी भी प्रकार समाज के लिए उपादेय नहीं हो सकता। संतोष इस बात का है कि यह कविता जन-सामान्य से असम्पृक्त है तथा जन-सामान्य के भावों के साथ इसका साधारणीकरण नहीं हो पा रहा है, अन्यथा विष-वमन दूर तक फैल चुका होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—डॉ० सुरेश सिनहा

सामाजिक कथा नायिकाओं का विकास क्रम

: १ :

उपन्यास में पात्र योजना कथावस्तु के अनुसार की जाती है। उपन्यास की कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक होगी, तो उसकी पात्र-योजना भिन्न प्रकार की होगी। सामाजिक उपन्यासों की पात्र-योजना और प्रकार की होगी। उपन्यास में यदि नारी-समस्या को उठाया जाएगा, तो उसकी पात्र-योजना भिन्न होगी। इस पात्र-योजना में नारी-पात्रों की प्रमुखता हो या पुरुष-पात्रों की, उनका परस्पर अनुपात क्या हो, यह कथानक के स्वरूप पर निर्भर करता है। पर प्राय: होता यही है कि उपन्यासों में पुरुष पात्रों के साथ नारी पात्रों को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया जाता है। शायद ही कोई ऐसा उपन्यास हो, जिसमें मात्र पुरुष पात्र ही हों और उनमें नारी-पात्रों का पूर्णतया बहिष्कार हो। इसके कारण स्पष्ट हैं। हम यह स्वीकृत करते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज की सीमाओं में ही टूटता-बनता है। उसकी आस्थाएँ, मान्यताएं और विचारधाराएँ सामाजिक परिवेश में ही जन्म लेती हैं, विकसित होती हैं या विच्छिन्न होकर बिखरती हैं। उसकी कल्पनाएँ समाज में ही प्राण पाती हैं और उसके स्वप्नों तथा उसकी आकांक्षाओं की साकारता भी समाज में ही सिद्ध होती है, अर्थात् मनुष्य और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। बिना मनुष्यों के समाज कैसा और बिना समाज के मनुष्य क्या और उसका महत्व क्या ? इस समाज में केवल पुरुष ही नहीं नारियाँ भी हैं। दोनों से मिलकर ही समाज की रचना पूर्ण होती है। फिर उपन्यास तो हमारे मानवीय जीवन के प्रतिबिम्ब होते हैं। हम जो जीवन जीते हैं वही उपन्यासों में चित्रित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए जब उपन्यासों की पात्र-योजना निश्चित की जाती है, तो उसमें नारी-पात्रों को भी समान भाग दिया जाता है।

ऐसी भी सम्भावना उठाई जा सकती है कि उपन्यासों में नारी-पात्रों की नितान्त रूप से आवश्यकता नहीं है और बिना नारी-पात्रों के भी उपन्यास लिखे जा सकते हैं। ऐसी सम्भावना प्रकट करने वाले अपने मत के समर्थन में यह तर्क उप-स्थित करते हैं कि युद्ध आदि की पृष्ठभूमि में लिखे जाने वाले उपन्यासों में नारी-पात्रों को रखना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा, क्योंकि नारियों का युद्ध आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है और नारियों की अभी तक कोई सेना भी नहीं तैयार हुई है, जो मोर्चे पर जाकर युद्ध में सम्मिलित हो सके और उन नारी सैनिकों एवं कमाण्डरों आदि के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रण उपन्यासों में किया जा सके। पर यह तर्क हास्यास्पद है। इसे किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। युद्ध की पृष्ठभूमि में लिखे जाने वाले उपन्यासों में भी अस्पताल की नर्सों आदि के रूप में नारी-पात्रों की अवतारणा करके उपन्यास की पूर्णता सिद्ध की जा सकती है। साहित्य पुरुष तथा नारी के परस्पर सम्बन्धों की अटूट शृंखला है। साहित्य कभी भी नारियों की उपेक्षा नहीं कर सका। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक साहित्य और प्रत्येक प्रगतिशील कलाकार ने नारी की महत्ता स्वीकार की है। यद्यपि दृष्टिकोण में विभिन्नता हो सकती है, पर इस दृष्टिभेद के कारण ही नारियाँ कभी साहित्य में उपेक्षणीय नहीं रही हैं। हम अपने मानव-सृष्टि के पूरे इतिहास को उठाकर अवलोकन करें तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि नारियाँ हमारे साथ सदैव किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में रही हैं। वे हमसे निकृष्ट नहीं रही हैं क्योंकि पुरुषों की तुलना में नारियाँ भिन्न मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से सम्पन्न हैं। नारी का व्यक्तित्व उतना ही महान एवं महत्वपूर्ण होता है, जितना पुरुषों का। हमारे राजनीतिक तथा आर्थिक संघर्ष में नारियाँ किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में बराबर भाग लेती रही हैं। सामाजिक रचना में भी उनका बराबर भाग होता है। हमारे अपने ही स्वाधीनता संग्राम में असंख्य नारियों ने बराबर महत्वपूर्ण भाग लिया है। पौराणिक आख्यानों में भी इस प्रकार के प्रसंग भरे पड़े हैं, जब हमारे सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष में नारियाँ अपने उत्तरदायित्व को हृदयंगम कर महत्वपूर्ण भाग लेती रही हैं। फिर उपन्यासों की पात्र-योजना में नारी-पात्रों की सम्भावना किस प्रकार अस्वीकृत की जा सकती है, जबकि उपन्यास मानव जीवन का ही प्रमुख रूप से चित्रण करते हैं।

नारी-पात्रों में नायिका का प्रमुख स्थान होता है। यहाँ नायिका का वही अर्थ ग्रहण किया गया है, जो अंग्रेज़ी में heroine शब्द का है। उपन्यास में नायिका ही सर्वप्रमुख नारी-पात्र होती है। सामान्यत: उपन्यास के नायक की प्रेयसी अथवा पत्नी ही नायिका कहलाती है। पर यह प्रत्येक अवस्था में आवश्यक नहीं है और न कोई अनिवार्य नियम ही। नायिका की सर्वथा भिन्न सत्ता हो सकती है और वह इस रूप में चित्रित की जा सकती है कि नायक से उसका कोई विशेष सम्बन्ध ही न हो। उपन्यास में नायक और नायिका दोनों का होना भी अनिवार्य नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि उपन्यासकार उपन्यास में नायिका को महत्व प्रदान करे और अनिवार्य रूप से उसकी सृष्टि करे। प्रेमचन्द के 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' आदि उपन्यासों में जन-जीवन के चित्रण और घटनाओं को जितना महत्व दिया गया है, उतना नायिका को नहीं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' कृत 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', वृन्दावनलाल कृत 'संगम' 'प्रत्यागत', 'कुण्डलीचक्र', प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विकास', भगवतीचरण वर्मा कृत 'तीन वर्ष', 'भूले बिसरे चित्र'; यशपाल कृत 'देश-द्रोही', आदि कुछ ऐसे ही उपन्यास हैं, जिनमें नायिकाओं को विशेष महत्व नहीं प्रदान किया गया है। इनमें या तो पुरुष-पात्रों को प्रधानता देते हुए प्रसंगवश ही नारी-पात्रों को स्पर्श भर कर लिया गया है या घटना-वैविध्य को ही महत्व प्रदान किया गया है। पर नारी-पात्र पूर्णतया उपेक्षित नहीं रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ स्वभावतः प्रश्न उठता है कि नारी पात्रों में नायिका का स्थान किसे प्रदान किया जाए ? अर्थात् नायिका की परिभाषा क्या हो ? उपन्यास के नारी-पात्रों में कोई-न-कोई नारी ऐसी होती है, जो कथानक का नेतृत्व करती हुई उसे अन्तिम उद्देश्य तक ले जाती हुई प्रतीत होती है। उसका व्यक्तित्व उन सभी नारी पात्रों के सामान्य स्तर से ऊपर उठा हुआ प्रतीत होगा। वह पाठकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित करती चलती है और पाठकों को यह अनुभव होता है कि उपन्यासकार किसी विशेष दृष्टिकोण से उस नारी-पात्र को प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही वह उसके चरित्र-चित्रण की ओर उसके व्यक्तित्व को निखारने, सँवारने में विशेषरूप से प्रयत्नशील रहता है। जिस प्रकार किसी कमरे के गहन अन्धकार में हीरे की चमक समाप्त नहीं हो जाती और उसका प्रकाश अपनी पूर्णता के साथ जगमगाता रहता है, उसी भाँति नारी-पात्रों के समूह में वह नारी अपना विशेष स्थान रखती और उन सबसे भिन्न दिखाई पड़ती है। इसी प्रमुख नारी-पात्र के इर्द-गिर्द कथानक का चक्र निर्मित होता है और कथानक में घटनाएँ इस प्रकार संगुफित की जाती हैं कि वह प्रमुख नारी पात्र उसका नेतृत्व करती प्रतीत होती है। वह कथानक के प्रत्येक मोड़ पर उपस्थित रहती है और नायक के समान वह भी घटनाओं के घटित होने में प्रमुख भाग लेती है। कभी-कभी वह प्रधान पुरुष-पात्र से भी अधिक महत्वपूर्ण भाग घटनाक्रम में लेती है और अनेक दृष्टान्त तो ऐसे हैं, जिनमें बिना किसी प्रधान पुरुष-पात्र के इसी एक प्रमुख नारी-पात्र को लेकर उपन्यास के कथानक का ताना-बाना बुना गया है। उपन्यासों का कोई-न-कोई उद्देश्य होता है। वस्तुतः भाषा की प्रकृति ही ऐसी है कि जब भी किसी परिस्थिति के अर्थ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है, उसमें इसके पहले कि वस्तु विशेष स्पष्ट हो, यह ध्वनि सन्निहित रहती है कि वह वस्तु किस प्रकार की है। उद्देश्यहीन उपन्यासों का अपना कोई महत्व नहीं होता ! उपन्यास का जो भी उद्देश्य होता है, उसका अन्त इसी प्रमुख नारी-पात्र से सम्बन्धित होता है और फलागम की स्थिति इसी प्रमुख नारी-पात्र को प्राप्त होती है। इसी प्रमुख नारी-पात्र को नायिका कहते हैं और उसकी परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है : नायिका का उपन्यास के कथानक के विकासक्रम में सर्वप्रमुख स्थान होता है और उपन्यास के फलागम की स्थिति उसे ही प्राप्त होती है।

नायिकाओं की विभिन्न श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं। वस्तुतः कथानक की घटना-प्रक्रिया की माँग के अनुसार ही उनका निर्वाचन होता है। सच तो यह है कि जिस प्रकार मानवीय जीवन में विविधता है, उसी भाँति उपन्यास की नायिकाओं में भी विविधता है। नारी-जीवन के जितने भी रूप हो सकते हैं, उपन्यास की नायिकाएँ उन्हीं का प्रतिनिधित्व कर उपन्यास-संसार में यथार्थ जीवन की नारियों की स्थिति की अभिव्यक्ति करती हैं। हिन्दी उपन्यासों के प्रारम्भिक काल से ही नायिकाओं की परिकल्पना-सम्बन्धी उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में निरन्तर विकास होता रहा है, जिसे युगीन प्रवृत्तियों एवं समाज में परिवर्तित होने वाली नारी की स्थिति ने विशेषरूप से प्रभावित किया है। इस विकास-क्रम को हम तीन कालों में विभाजित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर स्पष्ट कर सकते हैं।

(क) पूर्व-प्रेमचन्द काल।

(ख) प्रेमचन्द काल।

(ग) उत्तर-प्रेमचन्द काल।

: २ :

हिन्दी में उपन्यास-साहित्य वस्तुतः सुधारवादी दृष्टिकोण ही लेकर आया था। इस काल में समाज पूर्णतया विश्रृंखलित हो गया था, नैतिक मान्यताएँ टूट-फूट गई थीं और प्राचीन परम्पराएँ जर्जरित हो रही थीं। उनका स्थान ले रही थी, पश्चिम की वह शक्तिशाली भावना, जो मृगतृष्णा की भाँति भारतवासियों की चेतना पर छाती जा रही थी। लोग अपना धर्म भूलते जा रहे थे। धार्मिक रूढ़ियाँ अब उन्हें अपमानजनक प्रतीत होती थीं। वे अब पश्चिमी संस्कारों को ग्रहण करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। पारिवारिक व्यवस्था विच्छिन्न हो चुकी थी और संयुक्त परिवार की प्रथा समाप्त होती जा रही थी। ऐसे समय में उपन्यासकारों ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में एक आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया, जिसमें उनकी उपदेशक नीति भी सम्मिलित थी। वे वस्तुतः समाज को पतन के गर्त से बचाना चाहते थे विस्मृत होने वाली धार्मिक परम्पराओं में पुनः विश्वास जीवित करना चाहते थे, जीवन-गत मर्यादाओं को जागरित कर जीवन स्तर उच्च करना चाहते थे और लोगों को नैतिक उत्थान की ओर अग्रसर करना चाहते थे।

इस काल में नारियों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें सामाजिक और राजनीतिक सम्मान प्राप्त नहीं थे। शिक्षा से वे वंचित थीं, उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त थी और न उनकी स्थिति में सुधार-हेतु प्रयत्न की दिशा में कोई उत्साह ही था। स्वामी दयानन्द से पूर्व यद्यपि राजा राममोहन राय नारी-उत्थान के प्रति अपनी आवाज़ उठा चुके थे और उन्हींके प्रेरणास्वरूप लॉर्ड विलियम बेंटिक ने सती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, तथापि वह केवल एक महान अनुष्ठान का प्रारम्भ-मात्र था। इस अन्यतम लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में अभी यथेष्ट-कार्य करना शेष था। स्वामी दयानन्द ने पुनः पूर्ण शक्ति से नारियों की स्थिति में सुधार लाने और नारी-शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। आर्य समाज-आन्दोलन ने नारियों के कल्याण के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। विधवा विवाह का प्रचलन तो उसने किया ही, विधवा आश्रमों की स्थापना का भी प्रयत्न किया। उस समय नारी-शिक्षा की ओर किंचित-मात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता था और लड़कियों की उच्च-शिक्षा तो हिन्दू समाज में एक अप्रत्याशित बात समझी जाती थी। आर्य समाज आन्दोलन ने ही हिन्दू समाज की इस भ्रान्ति का निराकरण कर नारी-शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार किया और उसी का परिणाम यह था कि धीरे-धीरे नारी-शिक्षा का प्रसारण होने लगा। थियोसॉफिकल सोसयटी के माध्यम से श्रीमती एनी बेसेन्ट सदृश महिलाओं ने हिन्दू नारियों के समक्ष ऊँचे आदर्श प्रस्तुत कर नारियों की रूढ़ियों और आडम्बरों को समाप्त कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें नवीन-चेतना का संचार किया तथा उन्हें उनके वास्तविक उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य के प्रति सचेत किया। जागरण आन्दोलन में सर्वाधिक लाभ नारियों का हुआ। अभी तक वे अत्यन्त उपेक्षिता थीं एवं शिक्षा तथा नवीन विचारधारा से वंचित केवल भोग की सामग्री समझी जाती थीं। शिक्षा का प्रचार उनमें न होने के कारण उन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान न था, न उन्हें अपनी वास्तविक परिस्थिति का ही परिचय था। उन्हें समाज में कोई विशेष प्रतिष्ठा न प्राप्त थी और न राजनीति के क्षेत्र में उनका कोई स्थान था। जहाँ तक नारी-प्रेम का प्रश्न था, समाज का अनुशासन उस पर कठोर रूप से था। वासनात्मक नैतिकता का पतन उनमें नहीं था और विवाह-संस्था के टूटने के कोई आसार नहीं लक्षित हो रहे थे। माता-पिता द्वारा निश्चित विवाह लड़कियों को मान्य थे और उनमें विद्रोह की भावना नितान्त रूप से भी न थी।

सामंती व्यवस्था ने नारियों के ऊपर इस काल में अनेक अत्याचार किए। उनमें इतनी प्रगतिशीलता न थी कि वे अपने पाँवों पर खड़ी होकर अपनी आर्थिक परतन्त्रता, अपने शोषण एवं पूंजीवादी-व्यवस्था का विरोध कर सकें। सामंती प्रभाव समाज पर गहनतम रूप से छाया हुआ था और उसने जनमानस को पूर्णतया कुंठित कर दिया था। सामंती-व्यवस्था के प्रतिनिधि साम्राज्यवादी पिट्ठू थे, जो प्रगति शब्द से घबराते थे, इसीलिए इस काल में नारियाँ दासता का जीवन व्यतीत कर रही थीं। यह आश्चर्य का विषय है कि ऐसे समय में हिन्दी उपन्यासों का जन्म होने के बावजूद वह समकालीन नारियों की परिस्थितियों से पूर्ण सामंजस्य न स्थापित कर सका। प्रारम्भिक उपन्यासकार तत्कालीन स्थिति से पूर्णतया परिचित तो थे, पर वे यथार्थ के ऊपर आदर्श का लेप लगाकर एक ऐसी सृष्टि का निर्माण करना चाहते थे, जो प्रगति से कोसों दूर हो। वे केवल नैतिकता का उत्थान चाहते थे और ऐसी सामाजिक-व्यवस्था चाहते थे, जो नारियों और पुरुषों को कठोरता से नियन्त्रित कर सके और उन्हें उच्छृङ्खलता से बचा सके। अर्थ-व्यवस्था के वैषम्य, सामंती-पूंजीवादी-व्यवस्था में नारियों के शोषण आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। वे जटिलता में न फँसना चाहते थे। सीधे-सादे ढंग से रमणीयता में वास करना ही उनका लक्ष्य था, जिस पर उन्होंने सुधारवादिता का आवरण डाल लिया था, पर यह सुधारवादी दृष्टिकोण था भी कैसा? शताब्दियों पुराना! वे चाहते थे सृष्टि फिर से पीछे चलकर पौराणिक काल या वैदिक काल में पहुँच जाए। उन्होंने उपन्यासों के माध्यम से एक मृगतृष्णा का निर्माण करना चाहा था, पर वे अपने दुराग्रहों के कारण उस मृग-तृष्णा का भी निर्माण सफलतापूर्वक न कर सके। उनके सुधारवादी दृष्टिकोण को थोड़ी और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करना उचित होगा। वे चाहते थे :

(१) नारियों में उच्च-शिक्षा का प्रसार न हो। वे स्कूल-कॉलेज न जाएँ और घर पर ही मामूली रूप से पढ़-लिख लें।

(२) नारियों का क्षेत्र केवल परिवार तक ही सीमित हो। घर की चार-दीवारी के बाहर आकर खुली वायु में साँस लेना श्रेयस्कर नहीं। इससे नैतिकता का घोर पतन होगा और समाज में अनाचार फैलेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) नारियों को विवाह के पूर्व प्रेम करने का कोई अधिकार नहीं। विवाह और प्रेम-सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करना गौरवहीन है।

(४) विवाह के दो-एक वर्ष में ही यदि पति की मृत्यु हो जाए, तो नारियों को विवाह न कर पति की भक्ति में सदा जीवन व्यतीत कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में विधवा-विवाह न होने चाहिए।

(५) वेश्याएँ समाज का कलंक हैं। वे अस्पृश्य हैं। उनकी तरफ आँख उठाकर भी न देखना चाहिए। वेश्या-विवाह की तो वे कल्पना भी न करते थे।

यह था पूर्व-प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों का तथाकथित सुधारवादी दृष्टिकोण, जिसे वे समाज में प्रसारित करना चाहते थे। अतः पूर्व प्रेमचन्द काल की नायिकाओं की परिकल्पना अधिकांश रूप से इसी पृष्ठभूमि पर की गई, जो परम्परागत, रूढ़ एवं प्रगतिशीलता की प्रबल विरोधी थी। ऐसे उपन्यासकारों में गोस्वामीजी अग्रगण्य थे : यद्यपि उन्होंने काफी उपन्यास लिखे और उनमें विषय-सम्बन्धी विविधता प्राप्त होती है, पर नारी-चित्रण सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण का परिचय अधिकांश रूप से सामाजिक उपन्यासों में प्राप्त होता है। वे कट्टर सनातन धर्मी थे और नारी-शिक्षा के विरोधी थे। उन्हें भय था कि शिक्षा से नारियों में स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता जैसी बातें आएँगी और उनका चारित्रिक पतन होगा। उनके विचार से नारी की सबसे बड़ी शिक्षा उसके स्वभाव एवं चरित्र को आदर्शरूप प्रदान करना मात्र है। एक स्थल पर इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं, "अपने देश के भाइयों से इस बात के लिए सविनय अनुरोध करता हूँ कि वे सबसे पहले कन्याओं का सुधार करें, क्योंकि यदि सुकन्या समय पाकर सुगृहिणी होगी तो वही एक दिन सुमाता भी होगी और उसका पुत्र सुपुत्र अवश्य ही होगा।"[1] उनके इस विचार के अनुरूप ही 'त्रिवेणी' (१८८८) की नायिका त्रिवेणी को कोई शिक्षा नहीं प्रदान की जाती, जिसके परिणामस्वरूप वह गहन कूपमण्डूकता के आवरण में लिपटी रहती है और यदि स्थान-स्थान पर स्वयं उपन्यासकार ही उपस्थित होकर उसे न उबारता तो उसका जीवित रहना भी कठिन था। "माधवी-माधव वा मदन मोहिनी" (१९१६) में माधवी के पिता सनातन धर्म के अनुयायी होने के कारण मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् उसका नाम स्कूल से कटवा देते हैं, क्योंकि वह ग्यारह वर्ष की हो चुकी थी और अब उसका पढ़ना-लिखना धर्म एवं आचरण की दृष्टि से उचित न था। माधवी माधवप्रसाद नामक युवक को खाना खिलाते समय आकर्षित होती है और उससे प्रेम करने लगती है। माता-पिता यह जानकर विवाह की अनुमति दे देते हैं और आदर्श रूप से यह प्रेम विवाह में परिणत हो जाता है। इसमें गोस्वामीजी ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि, "मेरी तो यह राय है कि लड़कियाँ कभी भी घर के बाहर अर्थात् पाठशाला में पढ़ने के लिए न भेजी जाएँ और उन्हें घर पर ही हिन्दी और संस्कृत तथा गृहकार्य की विधिवत शिक्षा दी जाए। यद्यपि मेरी इस राय पर स्त्री-शिक्षा के घोर पक्षपाती अवश्य रूष्ट होंगे परन्तु जो मर्मज्ञ पाठक स्त्री-

१. किशोरीलाल गोस्वामी : माधवी माधव वा मदन मोहिनी (१९१६) वृन्दावन, पृष्ठ २२०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा की अयोग्यता का प्रत्यक्ष कुफल देख रहे हैं वे मेरी राय पर कभी खड्ग न उठावेंगे। जो लोग यह देख रहे हैं कि अयोग्य स्त्री-शिक्षा के ही कारण एक बंगालिन एक पंजाबी की पत्नी बनती है, एक 'राजरानी' एक शुद्ध किए हुए 'हिन्दू अंग्रेज़' की भार्या बनती है, गोरी नारी एक हिन्दू नरेश की पटरानी बनती है और एक ब्राह्मणी एक शूद्र की जोरू बनती है, तो यह कहना ही पड़ेगा कि स्त्रियों को उच्च-शिक्षा किंवा अयोग्य शिक्षा कभी न देनी चाहिए और उन्हें पाठशाला या स्कूल कभी न भेजना चाहिए। पश्चिमी वैज्ञानिकों का यह मत है कि यदि स्त्री को पुरुषों के समान बहुत पढ़ाया लिखाया जाएगा तो वे स्त्री-धर्म से च्युत हो जाएँगी, फिर या तो उन्हें सन्तान न होगी और यदि होगी भी तो वह जिएगी कदापि नहीं।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लेखक का दृष्टिकोण कितना संकुचित एवं रूढ़ था। वह सुधारवादी भले ही हो, वह भी लेखक के अपने मतानुसार, पर निश्चय ही यह विचारधारा प्रगतिशीलता पर ज़बर्दस्त आघात करने वाली थी, और उसका मार्ग कुंठित करती थी। उन्हें पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव एवं नारी की आधुनिकता से चिढ़ थी। वे किसी भी रूप में नहीं चाहते थे कि नारियाँ नए युग में पदार्पण कर आधुनिकता को आत्मसात कर लें और अपनी प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं को भूल जाएँ।

गोस्वामीजी ने धर्म के आधार पर एक विचित्र से दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जिसे पढ़कर आश्चर्य होता है। वह है, उनका पुरुष के बहु-विवाह का ज़ोर-दार समर्थन करना। ऐसा प्रतीत होता है कि वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् बढ़ती हुई प्रगतिशीलता और परिवर्तनोन्मुख समाज की नब्ज़ पहचानने में या तो सर्वथा असमर्थ थे या पहचानते हुए भी धर्म की रूढ़ियों में इस सीमा तक जकड़े हुए थे कि उससे मुक्त हो पाना उनके लिए सहज सम्भव न था। उनके अनुसार एक पुरुष अपनी पत्नी के होते हुए भी यदि किसी अविवाहिता नारी से प्रेम करने लगे और वह नारी पवित्र हो, तो दोनों को विवाह कर लेना चाहिए। 'पुनर्जन्म या सौतियाडाह' में सुशीला की परिकल्पना उन्होंने इसी आधार पर है। वह एक स्थान पर कहती है, "धर्मशास्त्र में स्त्री के लिए केवल एक ही विवाह की व्यवस्था है पर पुरुष असंख्य विवाह कर सकते हैं। अतएव मैंने जब यह बात जानी कि तुम दोनों (उसका पति और उसकी प्रेमिका) निष्कलंक हो, तब मुझे क्या उज्र हो सकता था कि मैं तुम्हारे सुख में व्यर्थ काँटे बोती। सुनो तो प्यारे। क्या बहिन-बहिन और सहेली-सहेली एक साथ नहीं रहतीं। और क्या, आज तक दो सौतिनें कभी आपस में मिलजुल कर नहीं रही हैं।"[2] इस उपन्यास में सुशीला सज्जनसिंह की पत्नी है, फिर भी अपने पति और सुन्दरी को प्रेम करते देख और सारी शंकाओं का निवारण होने पर वह स्वयं ही दोनों का विवाह करा देती है। उनके एक अन्य उपन्यास 'कनक-कुसुम वा मस्तानी' में भी ऐसा ही हुआ है, जिसमें

१. वही, पृष्ठ ७५-७६।
२. किशोरीलाल गोस्वामी : पुनर्जन्म वा सौतियाडाह, (१९०७), काशी, पृष्ठ ३१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायक बाजीराव की पत्नी काशीबाई अपने पति का विवाह मस्तानी से करने की सहर्ष अनुमति प्रदान करते हुए कहती है, "लीजिए अब व्यर्थ के सोच-विचारों को छोड़िए और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इस गुणवती, देवी समान, सुशीला, यवन कुल-बाला को ग्रहण कीजिए।"[1] वास्तव में वे नारी को आदर्श की पात्री समझते थे और उसे अपनी मर्यादा एवं परम्पराओं की सीमा में आबद्ध रहते देखना चाहते थे। वैसे तो अच्छाई-बुराई कहाँ नहीं होती? पर यह सोचना कि, "दुनिया की सभी औरतें खराब होती हैं, महज़ गलत और वाहियात है।"[2] वे चाहते थे, नारियाँ आदर्श प्रेम में विश्वास करें और अपने सतीत्व की रक्षा करें। 'लवंगलता वा आदर्श-बाला' (१८८४) में नायक मदनमोहन की बहकी-बहकी बातों पर अत्यन्त दुःखी हो लवंगलता कहती है, "किन्तु उस प्रेम को मैं दूर से ही प्रणाम करती हूँ जिसमें गुरु-जनों के बड़प्पन और आदर का भाव न हो।"[3] लवंगलता के चरित्र का विकास इसी पृष्ठ भूमि पर होता है और अपनी पवित्रता, गौरव एवं मर्यादा की रक्षा के लिए वह जीवनपर्यन्त जूझती रहती है। गोस्वामीजी गृहस्थ सुख को सामाजिक सुख का मूल-भूत आधार स्वीकार करते थे। 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८९), 'लीलावती वा आदर्श सती (१९०४) की नायिकाएँ कुसुम और लीलावती भी गोस्वामीजी के इन्हीं परम्परागत विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। पर उनके इस प्रकार के रूढ़ विचारों को उस युग में विशेष समर्थन नहीं प्राप्त हुआ। इसके कारण स्पष्ट थे। यह युग साहित्य की ही दृष्टि से नहीं वरन् सभी दृष्टियों से नवोन्मेष का युग था और प्रत्येक दिशा में परिवर्तन हो रहे थे। आधुनिकता का उदय हो रहा था और भारत-वासियों में नवीन चेतना प्रसारित हो रही थी। ऐसी स्थिति में गोस्वामीजी का दृष्टि-कोण सर्वसम्मत न हो सका। वह इस योग्य था भी नहीं।

मेहता लज्जाराम शर्मा भी पूर्णतया परम्परागत सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाकर अपनी नायिकाओं की परिकल्पना करने वाले उपन्यासकार थे। इस युग की सुधारवादी प्रवृत्तियों में, जिनमें अभी भी पर्याप्त रूप से कट्टरता व्याप्त थी, शर्माजी का पूर्ण विश्वास था। वे पर्दा-प्रथा के पूर्ण समर्थक थे और इस प्रथा का समाप्त होना श्रेयस्कर नहीं समझते थे, क्योंकि इससे नारियों में उच्छृंखलता आने का भय था और उनके भ्रष्ट हो जाने की संभावनाएँ उत्पन्न हो जाती थीं। 'आदर्श हिन्दू' (१९१४) की प्रधान नारी पात्र प्रियंवदा से उन्होंने कहलाया है, "उनका सुख उन्हें ही मुबारिक रहे। हम पर्दे में रहने वालियों को ऐसा सुख नहीं चाहिए। हम अपने घर के धन्धे में ही मग्न हैं।"[4] प्रियंवदा का चरित्र इसी दृष्टिकोण पर विकसित होता है। वह पर्दे में ही नहीं, घर की चारदीवारी के भीतर बन्द रहती है और जीवनपर्यन्त यह नहीं समझती कि परिवार के अतिरिक्त समाज में भी उसकी कोई

१. किशोरीलाल गोस्वामी : कनक कुसुम वा मस्तानी, (वृन्दावन). पृष्ठ ५१।
२. किशोरीलाल गोस्वामी : लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा, (१९१७), वृन्दावन, पृष्ठ ८२।
३. किशोरीलाल गोस्वामी : लवङ्गलता वा आदर्शबाला, (१८८४), वृन्दावन, पृष्ठ ४१।
४. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१९१४), प्रयाग, पृष्ठ ६-७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति है। अपने अन्य उपन्यास 'सुशीला विधवा' में अपने इस दृष्टिकोण को और भी स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "मेरी समझ में पर्दा-प्रणाली अच्छी है। जो लोग पर्दा-प्रणाली की निन्दा करते हैं वे भूलते हैं, झक मारते हैं।"[1] शर्माजी का यह दृष्टिकोण पूर्णतया रूढ़ एवं एकांगी था तथा नारी पर उनके अविश्वास का द्योतक है। ऐसा प्रतीत होता है कि आने वाली प्रगतिशीलता को आत्मसात करने में वे भी सफल नहीं हो पाए थे। यहाँ तक कि वे नारी को पति की दासीमात्र समझते थे। वे नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व के घोर विरोधी एवं पुरुष की सत्ता के पूर्ण समर्थक थे। 'आदर्श हिन्दू' में प्रियंवदा का चरित्र दासी के समान ही चित्रित किया गया है। उसे यह सिखाया गया था कि वह पति की दासी बनकर रहे। पति को ही अपना जीवन-सर्वस्व समझे। पति चाहे काना हो, कुरूप हो, कलंकी हो, कोढ़ी हो, कुकर्मी हो, क्रोधी हो, स्त्री के लिए पति के सिवाय दूसरी गति नहीं। संसार में परमेश्वर के समान कोई नहीं, किन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है। सनातन धर्म में विश्वास रखने के कारण शर्माजी नव-जागृति के समर्थक नहीं थे। वे नारी-शिक्षा के भी विरोधी थे, क्योंकि इससे नारी के उच्छृंखल और स्वतन्त्र हो जाने का भय था। वे नारियों की स्वतन्त्रता नहीं चाहते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में नारियों के लिए स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व-जैसी बातें करना प्रत्येक दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त था। 'सुशीला विधवा' में सुशीला की परिकल्पना यही प्रदर्शित करने के लिए की गई है। सुशीला किसी पुरुष से बातचीत नहीं करती थी और उसका यह पक्का सिद्धान्त था कि स्त्रियों का स्वतन्त्र हो जाना हिन्दू समाज के लिए विष है। वह सदा सबको यही उपदेश दिया करती थी कि स्त्रियों को बालपन से ही माता-पिता के वश में रहना चाहिए। विवाह होने पर पति की दासी होकर उसकी आज्ञा बिना कोई काम नहीं करना चाहिए। उन्होंने इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपने एक अन्य उपन्यास 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' में भी व्यक्त किया है, जिसमें रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा नारियों की स्वतन्त्रता उनकी परतन्त्रता के समक्ष नगण्य बताई गई है। 'बिगड़े का सुधार' (१९०७) में भी यही भावनाएँ प्रतिपादित हुई हैं, जिसमें सुखदेवी और एक मेम के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सनातन हिन्दू समाज की नारी का गौरव प्रतिपादित किया गया है। उसके अनुसार नारी अपनी सेवा, सतीत्व के बल पर कुछ भी कर सकती है। यहाँ तक कि दुराचारी पति भी सदाचारी बन सकता है। नारी को परम्परावादी, सहिष्णु, दयाशीला एवं धैर्यवान होना चाहिए। सुखदेवी की परिकल्पना इस उपन्यास में इसी उद्देश्य से हुई है। वह अशिक्षित थी, किन्तु उसमें आर्यनारी के सभी गुण विद्यमान थे, जिसके बल पर ही वह अपने कुमार्गी पति को सत्पथ पर लाती है और आदर्श पति बनाती है।

विधवा नारियों को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए एक स्थान पर शर्माजी ने कहा है, "पति के मरने पर सबसे बड़ा धर्म तो यही है कि उसकी चिता में भस्म होकर पति का साथ दे,

१. मेहता लज्जाराय शर्मा : सुशीला विधवा, (१९०७), प्रयाग, पृष्ठ ११६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु आजकल ऐसा जमाना नहीं रहा, इसीलिए जब तक जिए, सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली, कभी पराए पुरुष का स्वप्न में भी ध्यान न करने वाली विधवा मरने पर स्वर्ग में पति को पाती है और फिर कभी दम्पति का साथ नहीं छूटता।"[1] वे विधवा विवाह के ज़रा भी पक्षपाती नहीं थे क्योंकि, "जो हिन्दू समाज में विधवा विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते है, वे दम्पति के प्रेम पर वज्र मारना चाहते हैं।"[2] उन्हें वेश्यावृत्ति से घृणा तो है, पर समाज में उसके चलते रहने की वे आवश्यकता भी मानते हैं। "बेशक रंडियाँ समाज में एक बला हैं—परन्तु इससे आप यह न समझ लीजिए कि ये समाज से निकाल देने लायक हैं, फ़िज़ूल हैं और इन्हें बन्द कर देना चाहिए। नहीं, इनकी भी समाज के लिए दो कारणों से आवश्यकता है। एक यह है कि जब गाने-बजाने और नाचने का पेशा करने वाली हमारी सोसायटी में न रहेंगी तब कुल-वधुएँ इस काम को ग्रहण करेंगी। और दूसरे, जैसे बड़े नगरों में सड़क के निकट जगह-जगह पनाले बने हुए हैं, यदि न बनाये जाएँ, तो चित्तवृत्ति को, शरीर के विकास को न रोक सकने पर लोग बाज़ार और गलियों को खराब कर डालें, उसी तरह यदि वेश्याएँ हमारे समाज से उठा दी जाएँ तो घर की बहू-बेटियाँ बिगड़ेंगी।"[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि कट्टर सनातनधर्मी होने के कारण ठीक गोस्वामीजी की ही भाँति शर्माजी का दृष्टिकोण भी अत्यन्त रूढ़ एवं पुरातनवादी था। वे परिवर्तनशीलता एवं आधुनिकता के पूर्ण विरोधी थे। नवोन्मेष की दिशा उन्हें अन्धकारपूर्ण प्रतीत होती थी और प्राचीन भारतीय संस्कृति और धर्म को वे पुनः ज्यों-का-त्यों बिना युगीन परिस्थितियों को ध्यान में रखे और समकालीन माँग का विचार किये प्रतिष्ठित कर देना चाहते थे। यह पूर्णतया हास्यास्पद था। वास्तव में युगीन परिस्थितियों को स्वीकार कर आगे बढ़ना उपन्यासकार का प्रमुख दायित्व होता है। वह उनकी पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता। शर्माजी का सुधारवादी दृष्टिकोण कुछ हद तक तो स्वीकार किया जा सकता है, पर उसकी रूढ़िता एवं कट्टरवादिता किसी भी रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। उन्होंने नारी-जीवन की विभिन्न समस्याओं पर अपने जिस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त कर अपने उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना की है, और उनके व्यक्तित्व का विकास जिस प्रकार किया है, वह कठपुतली का एक तमाशा मात्र प्रतीत होता है। उन्होंने उन नायिकाओं के रूप में नारी की पूर्ण हत्या ही कर दी है। मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण सबसे बड़ा सामाजिक अभिशाप होता है, चाहे वह नारी की स्वतन्त्रता हो या पुरुष की।

नारी-सम्बन्धी यही धारणा थी, जिसने इस युग के उपन्यासकारों को एक सीमित परिवेश में सोचने को बाध्य किया और उन्होंने अपनी नायिकाओं की कल्पना इस प्रकार की, जिनमें स्वाभाविकता तो नाममात्र को भी न थी, आदर्श और परम्पराएँ उनमें ठूँस-ठूँसकर भरी हुई थीं। ठाकुर जगमोहनसिंह के 'श्यामा स्वप्न' (१८८८)

---

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : 'सुशीला विधवा' (१९०७), प्रयाग, पृ० १५२।
२. मेहता लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' (१९१४), प्रयाग, पृ० ९५।
३. वही, पृ० २१८-२१९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नायिका श्यामा, टीकाराम सदाशिव तिवारी कृत 'पुष्पकुमारी' (१९१७) की नायिका पुष्पकुमारी, देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय कृत 'सुन्दर सरोजिनी' (१९१३) की नायिका सरोजिनी, गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'लक्ष्मीदेवी' की नायिका लक्ष्मी, रामप्रसाद सत्याल कृत 'किरणशशि' (१९०९) की नायिका किरणशशि, कृष्णलाल वर्मा कृत 'चम्पा' (१९१६) की नायिका चम्पा तथा जैनेन्द्र किशोर कृत 'कमलिनी' (१८९१) की नायिका कमलिनी आदि सभी नायिकाओं की परिकल्पना किशोरीलाल गोस्वामी और मेहता लज्जाराम शर्मा द्वारा स्थापित मान्यताओं के आधार पर हुई है। ये दोनों ही इस युग के उपन्यासकारों के नेता थे और उसकी विचारधारा का अनुसरण आँख मूँदकर किया जा रहा था। पर जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, इस काल की नायिकाओं में इतने आदर्श हैं कि तत्कालीन परिस्थितियों में उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उनके व्यक्तित्व का उस युग के साथ कोई मेल नहीं बैठता। यह युग नारी-उत्थान की दृष्टि से संक्रान्ति काल का था। वे एक ऐसे दोराहे पर खड़ी थीं जिसके एक ओर परम्पराएँ थीं, रूढ़ियाँ थीं, आडम्बर थे। दूसरी ओर नवीनता थी, स्वतन्त्रता और प्रगतिशीलता थी। समकालीन नारी मनःस्थिति दूसरे मार्ग पर तीव्रता से चलने का प्रयत्न कर रही थी। पर उपन्यासकारों ने जान-बूझकर इस यथार्थ की उपेक्षा करते हुए प्राचीनता को आत्मसात् करने का प्रयत्न किया जो उनका दुराग्रह मात्र ही था। उनकी नायिकाएँ कृत्रिमता एवं अस्वाभाविकता की कहानी स्वयं कहती हैं।

: ३ :

मानव-समाज की मूल पृष्ठभूमि में नारी विद्यमान है। मानव सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास वस्तुतः नारी की स्थिति के विकास से ही प्रतिबिंबित होता है। समाज प्रेरणा, शक्ति, प्रेम एवं विश्वास आदि सभी कुछ नारी से ही प्राप्त करता है। जीवनगत स्थिरता को समाप्त कर मानव समाज की परिवर्तित परिस्थितियों तथा सामाजिक मानव मूल्यांकन के साधनों में नारी सर्वप्रमुख है। समाज में नारी और पुरुष का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। वह समाज में पुरुषों से कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखतीं। प्रायः सृष्टि के प्रारम्भ से ही हम देखते आ रहे हैं कि मानव जब भी जीवन-संघर्ष में असफल हुआ है, जब भी वह सभ्यता की दौड़ में पिछड़ा है, जब भी मानसिक अशांति से वह आक्रान्त हुआ है और जब भी वह पीड़ा तथा अवसाद की लहरों पर डूबता-उतराता रहा है, नारियों ने सदैव पुरुषों को सहायता प्रदान कर परिस्थितियों को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। पुरुष ने अकेले ही निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण नहीं की है। सत्य स्थिति तो यह है कि पुरुष अराजकता उत्पन्न कर सभ्यता की लम्बी दौड़ में वास्तविक संस्कृति को जन्म देने में सदैव असफल रहा है।[1] इसके विपरीत नारियों ने पुरुषों को बराबर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा

1. Woman must realise that man has utterly failed in the long process of civilisation to produse true culture. Anarchy. chao

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी है। पुरुषों को अपना ममत्व, अपना आत्म-विश्वास तथा अपनी जीवन-संवेदना प्रदान कर वे सभ्यता के विकास का प्रयत्न करती हैं क्योंकि पुरुष केवल अपने जीवन की व्यक्तिगत बातों के सम्बन्ध में ही सोचता है और वास्तविक मूल्यों की जीवन में अवहेलना करता है। पुरुषों का जीवन निर्दोष तथा श्रेष्ठ कभी नहीं स्वीकृत किया गया है। वास्तव में पुरुषों में थोड़ी पशुता होती है, जिसका निराकरण वह पूर्ण निश्चय करके भी नहीं कर पाता। वह पशुता ही उसे पुरुष का रूप प्रदान करती है। विकास-क्रम में वह नारी से कहीं पीछे है। जिस दिन वह विकास के चरमोत्कर्ष को स्पर्श कर लेगा, वह भी पूर्णतया नारी रूप हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया, इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है और ये नारियों के सर्वप्रधान गुण हैं।[1] यही नहीं नारी वफा और त्याग का सजीव प्रतिबिम्ब है, जो अपने मूक त्याग से अपने अस्तित्व को पूर्णतया मिटाकर अपने पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। तन पुरुष का रहता है, पर आत्मा वस्तुतः नारी की ही होती है। पुरुष अपना अस्तित्व इसलिए नहीं मिटाता कि उसमें इसका सामर्थ्य ही नहीं है। यदि वह अपने को मिटाएगा तो शून्यता की स्थिति में पहुँच जाएगा।[2] नारी की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। अतः स्पष्ट है कि मानव जीवन की पूर्णता नारी को लेकर ही है। नारी के अभाव में समाज अपूर्ण है, मानव जीवन अपूर्ण है। यह सृष्टि मूल्यहीन है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य का वास्तविक रूप प्रेमचन्द के आगमन के पश्चात् ही निखरा अतः मानव जीवन के साथ उपन्यास का निकटतम सम्बन्ध तभी स्थापित हो पाया था और तभी उपन्यासों में मानव जीवन का प्रतिबिम्ब सत्य अर्थों में प्रस्तुत किए जाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ था। अतः प्रेमचन्द के आगमन के पश्चात् एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। इस नए युग में नारी के ऊपर से उस भोंडे, कृत्रिम और अविश्वासपूर्ण आवरण को उतारकर, जिसे पूर्व-प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों ने अपनी तथाकथित आदर्शवादिता एवं सुधारवादिता के जोश में आकर पहना दिया था और जिसके फलस्वरूप नारी का स्वरूप बोझिल ही नहीं हो गया था, आडम्बरपूर्ण और अविवेकपूर्ण-सा प्रतीत होने लगा था। नारी की आत्मा को उसकी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। इस काल में नारी समाज के सम्मुख एक भीषण प्रश्न चिन्ह के रूप में उपस्थित थी। दहेज-प्रथा अपने भयंकर रूप में सामाजिक अभिशाप बनकर नारियों के सुखमय जीवन में विष घोल रही थी। वैधव्य और वेश्यावृत्ति की भयानक छायाएँ अलग नृत्य कर रही थीं जिसकी आवाज में नारी की कल्पनाएँ उनके सुनहरे भविष्य और सुख-सन्तोष की भावनाएँ डूबकर निष्प्राण हो गई थीं। समाज अट्टहास कर रहा था और नारियाँ

---

and discontent and the achievements of the man, because he has not understood the true importance and value of human being."
—वाई० एम० रीग : व्हीदर वुमन, (१९३८), लन्दन, पृ० २७५।

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि, (१९३२), बनारस, पृष्ठ २०९।
२. प्रेमचन्द : गोदान, (१९३६), बनारस, पृष्ठ १५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनमेल विवाह का शिकार बन अभिशप्त जीवन व्यतीत कर रही थीं। यद्यपि शिक्षा का प्रसार नारियों में हो रहा था, पर उसे वह गति नहीं प्राप्त हो रही थी, जो प्राप्त होनी चाहिए थी। नारी की आर्थिक परतन्त्रता ज्यों-की-त्यों विद्यमान थी और वे पुरुषों के ऊपर आश्रित थीं। परिवार टूटते जा रहे थे और उस विशृङ्खलता में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उभर रहा था। इन समस्याओं को प्रेमचन्द के नेतृत्व में युगीन उपन्यासकारों ने चित्रित करने का प्रयत्न किया, पर उनके चित्रण में दुर्भाग्य से यथार्थवादी छाया कम है, आदर्शवादी लेप अधिक। पर पिछले काल की तुलना में यह आदर्शवादी लेप अत्यन्त न्यून मात्रा में था और केवल समस्याओं के समाधान तक ही सीमित था, समस्याओं को प्रस्तुत यथार्थवादी ढंग से ही किया गया।

पर इस न्यून मात्रा में प्रयुक्त आदर्शवाद ने भी नायिकाओं के स्वरूप को यथेष्ट मात्रा में प्रभावित किया और यदि विकास क्रम की दृष्टि से परिलक्षित किया जाए, तो इस काल की नायिकाएँ पिछले काल की नायिकाओं से, जहाँ तक आदर्शवाद का प्रश्न है, कुछ विशेष भिन्न नहीं हैं। हाँ, यदि कोई अन्तर है तो मात्र इतना ही कि उनका स्वरूप काफ़ी जाना-पहचाना सा प्रतीत होता है और यदि उन्हें यान्त्रिक न बनाया गया होता, तो कदाचित् वे साहित्य की अमर नायिकायें होतीं। इस सन्दर्भ में कुछ नायिकाओं के चरित्रांकन पर विचार करना उचित होगा। 'सेवासदन' (१९१६) की नायिका सुमन के रूप में तत्कालीन नारी-समस्या को प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रेमचन्द ने किया था। भारतीय समाज में नारी कितनी पराधीन थी, उसकी स्थिति पशुओं की-सी थी और उसका जीवन विवशतापूर्ण था—इस प्रश्न को प्रेमचन्द ने अपने अन्य उपन्यासों की अपेक्षा सुमन के माध्यम से अधिक सशक्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। वैसे इसमें वेश्या-समस्या भी आ जाती है, पर सुमन वेश्याओं की प्रतिनिधि नहीं उस पीड़ित नारी-वर्ग की प्रतिनिधि है, जो समकालीन संकट को ज़बर्दस्ती झेलकर मर-जी रही थी। वह एक मध्यम वर्ग की नारी थी और उसे परिस्थितिवश वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ी थी, पर सुमन के रूप में वेश्या-समस्या की भयंकरता नहीं चित्रित की गई है। वेश्याओं की दयनीय स्थिति, उनके आन्तरिक भावों, उनकी विवशता तथा उनकी उपेक्षणीय जीवन-भावनाओं को प्रेमचन्द ने भाषणों के बीच छोड़ दिया है और वास्तव में चित्रित करने का प्रयत्न किया है कि वस्तुतः लड़कियों की शिक्षा किस प्रकार होनी चाहिए और किस प्रकार के वातावरण में उनका पालन-पोषण होना चाहिए। उनके विचार से यदि लड़कियों को ढंग से परिवार सँभालने, सद्गृहिणी बनने और अपने मातृत्व की भावना का विकास करने, अपनी सौजन्यता, स्नेह आदि प्रदर्शित करने की शिक्षा न दी जाए, तो वे उसी प्रकार पथ-भ्रष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार सुमन। वे नारी-शिक्षा के हिमायती थे और बराबर उसकी वकालत करते थे। 'निर्मला' (१९२२-२३) की नायिका निर्मला एक ऐसी नारी के रूप में चित्रित की गई है, जो अपने अनमेल विवाह के कारण जीवन-भर पीड़ित एवं दुःखग्रस्त रहती है। इस असंगति के कारण एक भरा-पूरा हँसता परिवार विनाश की कालिमा के नीचे ढँक जाता है। उसकी सुख-शान्ति समाप्त हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द की मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रतिभा निर्मला के रूप में ही मुखरित हुई है और प्रथम बार हिन्दी उपन्यास-जगत् में एक ऐसी नायिका का स्वरूप प्राप्त हुआ, जिसके आन्तरिक भावों एवं विवशतापूर्ण परिस्थितियों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर समझने में पाठक सफल हुआ। यह एक नए विकास-क्रम का सूचक था, जिसका विकास उत्तर-प्रेमचन्द काल में हुआ। वास्तव में प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं और उनका उपन्यास 'निर्मला' हिन्दी का प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यास है—यह असन्दिग्ध है। प्रेमचन्द को इस गौरव से वंचित करना दुराग्रह-मात्र है। निर्मला के चरित्र की दो बातें मुख्य हैं। उसके एक ओर कर्त्तव्य है, दूसरे ओर प्रेम। धैर्य एवं सहनशीलता के साथ वह अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई कर्त्तव्य की ओर उन्मुख होती है। निर्मला का चरित्र सचमुच बहुत ही आकर्षक, मार्मिक और आँखें खोलने वाला है। वह एक टाइप है, जो समाज में नारियों के उस वर्ग की प्रतिनिधि बनकर आती है जो दहेज-प्रथा के कुप्रभाव, अनमेल विवाह और असंगतियों के कारण जीवन-भर असन्तोष, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती रहती है और अन्त में उसी में मर जाती है। निर्मला के रूप में हम उस नारी को पाते हैं, जो कर्त्तव्य-पथ पर चलकर अपना जीवन समाप्त करती है। उसका न तो अपना अहं है, न अपनी लालसा। सभी-कुछ ऐसा है, जैसे वह कर्त्तव्य की पुतली बन गई हो। निर्मला की परिकल्पना का स्रोत भारतीय नारियों की गौरव-शाली परम्पराओं में निहित है, जिनमें नारी पति और परिवार के लिए ही जीवित रहती है और मरती है। साथ ही विवाह की कुप्रथा भी, जिनमें नारियों को विवाह-सम्बन्धी स्वतन्त्रता न प्राप्त थी। उसकी आर्थिक दासता, सामाजिक परवशता और परम्पराओं के कुप्रभाव आदि ने मिलकर ही निर्मला के सृजन की प्रेरणा दी थी। 'ग़बन' (१९३०) की नायिका जालपा के रूप में प्रेमचन्द ने नारियों के आभूषण-प्रेम, राह से भटककर हट जाने पर वापस आने की प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। प्रेमचन्द नारी-मनोविज्ञान के कुशल ज्ञाता थे और प्रथम बार इस काल में नायि-काओं के रूप में पाठकों को नारी-मनोविज्ञान से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ।

वृन्दावनलाल वर्मा ने नारी की सामाजिक समस्याओं को अपने कुछ उपन्यासों में यद्यपि चित्रित करने का प्रयत्न किया है, पर वे नायिकाविहीन उपन्यास हैं। जिन उपन्यासों में उन्होंने नायिका की परिकल्पना की है, उनकी प्रेम-समस्या को ही उन्होंने मुख्य रूप से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। 'कचनार' (१९४६) की नायिका कचनार दासी है और उसे प्रचुर-मात्रा में सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। महाराज दलीपसिंह उससे प्रेम करते हैं, यद्यपि कचनार प्रारम्भ में इसे स्पष्ट नहीं करती पर अस्वीकृत भी नहीं करती। वह अत्यन्त गम्भीर स्वभाव की आत्माभिमानी युवती है। उसमें संयम और विवेक की कमी नहीं है और भावुकता में आकर जीवन की मर्यादा और गौरव का त्याग नहीं करती। प्रारम्भ में कचनार में अहं की प्रधानता है। उसमें विचित्र-सा अहं है, जो धीरे-धीरे प्रेम-सूत्र में उन्मीलित होता है। वस्तुतः नारी प्रेम में अपनी पराजय नहीं स्वीकार करना चाहती तथा साथ ही वह अपने अहं को टूटकर बिखरते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी नहीं देखना चाहती। भारतीय नारियाँ प्रेम में एक पवित्रता चाहती हैं तथा विवाह को ही प्रेम की अन्तिम परिणति मानती हैं। प्रेम को जीवन में मनोरंजन का साधन नहीं समझतीं। कचनार के माध्यम से वर्माजी ने यही सफलतापूर्वक चित्रित करने का प्रयत्न किया है। 'झाँसी की रानी' (१९४६) की नायिका लक्ष्मीबाई की परिकल्पना का उद्देश्य एक ऐसी नायिका का चित्रण करना था, जो नारियों को फिर से उनके गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिला सके और उनमें ओजपूर्ण भावनाएँ भर सके। जिस समय इस उपन्यास की रचना हुई थी, भारतीय नारियों में काफ़ी आत्म-पतन हो चुका था और वे पश्चिमी रंग में अपने को पूर्णतया रंगती जा रही थीं। राष्ट्र अभी भी दासता की शृंखलाओं को विच्छिन्न नहीं कर पाया था। ऐसी अवस्था में नारियों के नैतिक उत्थान, उनमें वीरता एवं ओज की भावना भरकर दायित्व-निर्वाह की अनुपम प्रेरणा प्रदान करने के उद्देश्य से ही लक्ष्मीबाई का चित्रण किया गया है। वर्माजी की नायिकाओं में आदर्शवादी दृष्टिकोण ही प्रमुख रूप से चित्रित हुआ है, जो प्रेम की पवित्रता एवं गौरव के प्रति आस्थावान् हैं। उन्होंने विधवा समस्या पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं और उनके दृष्टिकोण से इस भीषण समस्या का एकमात्र समाधान विधवा का पुनर्विवाह है। पिछले काल में कोई उपन्यासकार ऐसा सोच भी नहीं सकता था। 'अचल मेरा कोई' (१९४७) में निशा एक विधवा शिक्षित युवती है। उसमें तीव्र चेतना एवं कुशाग्र बुद्धि है। वह अचल से विवाह कर समाज के सम्मुख सफल विवाहित जीवन का अनुपम आदर्श उपस्थित करती है। वर्माजी के विचार से विधवा-विवाह में पुरुष त्याग नहीं करता, स्वयं नारियाँ ही त्याग करती हैं। नारी अपने आत्मसम्मान के सम्मुख नहीं झुकती। इसी उपन्यास में कुन्ती के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है। प्रेम की पवित्रता, जीवन की मर्यादा एवं गौरव तथा नारी मूल्यों को 'प्रेम की भेंट' में चित्रित किया गया है। उन्होंने ऐसी भी नारियों का चित्रण किया है जो पातिव्रत धर्म का पालन करती हैं। वर्माजी के अनुसार नारी के सतीत्व एवं पवित्रता में बड़ा बल होता है। 'कुण्डली चक्र' में रतन के जीवन का चरम लक्ष्य पतिसेवा ही है और कुछ नहीं। वह पति के लिए अपना निजत्व मिटा देने का प्रयत्न करती है। यहाँ तक कि उसको दूसरा विवाह करने की भी अनुमति दे देती है, क्योंकि वह समझती है—नारी का व्यक्तित्व उसके पति के व्यक्तित्व के समक्ष शून्य है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'त्यागमयी' (१९४०) में ललिता के माध्यम से एक ऐसी नारी का चित्रण किया है, जिसका निष्कर्ष है कि जिस नारी के जीवन में त्याग नहीं है, सहानुभूति और मातृत्व नहीं है, उसका जीवन व्यर्थ है। वह नारीत्व के उच्चासन पर अधिष्ठित होने की अधिकारिणी नहीं है। निराला ने 'निरूपमा' (१९३६) की नायिका निरूपमा का स्वरूप भी परम्परागत आदर्शों पर ही प्रस्तुत किया है। उसका हृदय बड़ा सरल है। मानव सुलभ दृढ़ता एवं निश्चय का उसमें पूर्ण अभाव है। उसे मानव मात्र के प्रति चरम सहानुभूति है और पारिवारिक शृंखलाओं को विशृंखलित करने और रूढ़ियों को तोड़ने में वह अपने को पूर्णतया असमर्थ पाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने पर भी वह रूढ़ियों से ग्रस्त है। यह निराला के परम्परागत मोह का ही परिणाम है। प्राचीन हिन्दू संस्कार उसमें भरे पड़े हैं, और वह जान-बूझकर प्रगतिशीलता को नहीं आत्मसात करना चाहती। निराला के एक अन्य उपन्यास 'अलका' (१६३३) की नायिका शोभा में भी यही विशेषताएँ लक्षित होती हैं। एक कृषक युवती से वह सुशिक्षित आधुनिक चेतना-सम्पन्न युवती बन जाती है—यह वस्तुतः समकालीन नारी-विकास की ही कहानी है। अलका का चरित्र एक छोटे-से, धूल में लिपटे हुए बीज के निखरने की कहानी के सदृश ही है। अलका का चरित्र और भी स्पष्ट होकर निखरता तथा उसकी प्रभावशीलता में और भी वृद्धि होती, यदि लेखक उसे अपने हाथों की कठपुतली न बना डालता। उसके चरित्र का स्वतन्त्र विकास कहीं नहीं हो पाया है। वह लेखक की दिशाओं में संकेतों के अनुसार ही घूमती रहती है। वास्तव में अलका की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में लेखक का उद्देश्य भारतीय नारियों के समक्ष यह आदर्श रखना था कि उनमें तीव्र प्रतिभा एवं चेतना सोई हुई है, जिसका देश के कल्याण के लिए उन्हें विकास करना होगा। वे आधुनिकता की ओर चाहे जितना बढ़ सकती हैं, पर उसका तात्पर्य यह नहीं कि वे अपने परम्परागत आदर्शों को भी त्याग दें और उच्छृङ्खलता की सीमा का अतिक्रमण कर दें। वे उस आधुनिकता से भी अलका की भाँति अपनी पवित्रता एवं सतीत्व की रक्षा कर सकती हैं। अलका की परिकल्पना कदाचित् तत्कालीन कट्टरपन्थियों के लिए विचित्र लगी होगी, पर तब उपन्यासकार नवीनता के प्रति अपना अधिक आग्रह प्रकट करने लगा था और प्राचीनता के प्रति आस्थावान् रहकर अपनी प्रगति कुण्ठित नहीं करना चाहता था। अलका भारतीय नारी के विकास की कहानी ही है, जो तत्कालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में कुशलतापूर्वक प्रस्तुत की गई है। आर्थिक परवशता को स्वयं झेलने और उसका निराकरण करने का चित्रण सर्वप्रथम प्रसाद ने 'तितली' (संवत् १६६१) की नायिका तितली के रूप में किया। अपने पति मधुबन की अनुपस्थिति में वह अपने पुत्र मोहन का पालन-पोषण स्वयं कमाकर करती है और दोनों का पेट पालती है। यह नायिकाओं के एक नये विकास का सूचक था और आर्थिक दृष्टि से उनके स्वावलम्बी बनने की दिशा में किये जाने वाले प्रयत्न का प्रथम चित्रण था। वेश्या नारी को पहली बार इस युग में सहानुभूति प्राप्त हुई और उसका यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न किया गया। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'माँ' (१६२६) में यह स्पष्ट किया गया है कि कोई वेश्या मात्र वेश्या ही नहीं होती, वरन् वह पहले नारी होती है, फिर कुछ और। वह सतीत्वहीन होते हुए भी स्त्रीत्वहीन नहीं होती। इसी उपन्यास में पहली बार वेश्या-विवाह का चित्रण और समर्थन हुआ है।

इस प्रकार प्रेमचन्द-काल में हमें नायिकाओं का ऐसा स्वरूप प्राप्त होता है, जो पिछले युग की नायिकाओं की अपेक्षा अधिक विकसित है, साथ ही सत्य भी। उसमें काल्पनिकता का समावेश पिछले युग की भाँति नहीं है और वे युग-जीवन के अधिक निकट हैं। पर इस निकटता पर आशंका, संकोच एवं दुराग्रहपूर्णता की छाया भी अंकित है, यह स्वीकार करना होगा। सुमन के जीवन की समस्याओं का समाधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्रम में नहीं, विद्रोह में था। ऐसा विद्रोह जो समाज की व्यवस्था को उलट-पलट सकता है, जो नारियों के भीतर सुलग रही थी, पर प्रस्फुटित नहीं हो रही थी और जिसके लिए नेतृत्व की आशा थी। निर्मला के मन का विद्रोह भी ज़बर्दस्ती नियन्त्रित किया गया है। यही स्थिति तितली आदि की भी है। यह परम्परागत मोह के कारण ही हुआ है। प्रेमचन्द अपने विचारों में प्रगतिशील तो थे, पर प्रारम्भ में काफ़ी समय तक वे अपने परम्पराओं के मोह को नहीं तोड़ पाए थे। सुमन का विवाह सदनसिंह से वे इसीलिए नहीं करा पाए, क्योंकि वेश्या-विवाह को अच्छा समझते हुए भी वे समाज में विद्रोह नहीं उपस्थित करना चाहते थे। इस कार्य को 'माँ' में कौशिकजी ने किया, जब बन्दीजान वेश्या की दोनों बेटियों का विवाह हो जाता है। विधवा-विवाह को भी परम्पराओं के ऊपर ज़बर्दस्ती नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया। 'प्रतिज्ञा' में पूर्णा का विवाह न कराकर विधवाश्रम की स्थापना की गई है। इस काल में, वास्तव में, उपन्यासकारों में पर्याप्त प्रगतिशीलता का संचार हो रहा था, पर परम्पराओं एवं आदर्शों के मोह को यथार्थवाद के समक्ष तोड़ने को वे कदापि तैयार न थे, यद्यपि उसकी ज्वालाएँ फूट रही थीं, और आगामी युग की पृष्ठभूमि निर्मित हो रही थी।

: ४ :

उत्तर-प्रेमचन्द-काल में मनोविज्ञान की नवीन विचारधाराओं ने उपन्यासकारों को एक नवीन दृष्टि दी और उनमें एक नवीन नारी-भावना का जन्म हुआ। अभी तक नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत परम्परागत रूपों में अथवा समाज की समस्याओं में निहित था, पर अब उपन्यासकारों ने पश्चिमी मनोवैज्ञानिक विचारकों एवं मनोविश्लेषणवादी आचार्यों को अपना आदर्श बनाया और नायिका की परिकल्पना का सम्बन्ध मनोविज्ञान के इन नवीन सिद्धान्तों से सूत्रबद्ध किया। उन्होंने अब केवल नायिका के बाह्य क्रिया-कलापों अथवा मात्र गौरवपूर्ण परम्पराओं को ही अपने चित्रण का उद्देश्य नहीं बनाया, वरन् अब नायिकाओं की मनःस्थिति और उनके अन्तरमन की भावनाओं का अध्ययन कर उनके चरित्रों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया। फ्रायड ने नारियों में सेक्स ईर्ष्या के परिणामस्वरूप ईर्ष्या, द्वेष तथा सामाजिक अन्याय की प्रवृत्ति पाई थी। उनमें पुरुषों से अधिक आत्मप्रेम होता है तथा उनमें सांस्कृतिक कार्यों को करने के प्रति उत्साह नहीं होता। उनके उदात्तीकरण में वे सर्वथा असमर्थ रहती हैं। नारी परिवार में सेक्स जीवन से सम्बन्धित हितों का प्रतिनिधित्व करती है। सभ्यता के विकास का उत्तरदायित्व पुरुषों पर ही होता है। वह नारी के अधिकार-सीमा के बाहर होता है। इसमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं तथा नैसर्गिक प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण की नितान्त आवश्यकता होती है, जिसे कार्यान्वित करने में नारियाँ असमर्थ रहती हैं और पुरुष प्रयास द्वारा उसे सम्भव कर दिखाता है। सभ्यता के विकास का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है, इसीलिए पुरुष उसे सम्पादित करता है। क्योंकि उसमें प्रखर चेतना-शक्ति होती है और सारे महत्त्वपूर्ण कार्य वही करता है, नारियाँ उसे नहीं कर सकतीं। अतः सभ्यता के विकास में पुरुषों की अपेक्षा अपने को उपेक्षणीय पाकर उसके प्रति उसमें ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्युत्पन्न होती है। वास्तव में मनोविश्लेषण की सहायता से मनुष्य अपने को और भी भली-भाँति समझने और स्वयं अपना अध्ययन करने की लालसा प्रकट करता है और इसी के आधार पर जब नारियों ने अपने मन में पुरुषों की अपेक्षा हीनता के भाव (Inferiority Complex) को जन्म लेते देखा, तो उनके मन में सभ्यता के अधिकारों के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता है। नारी के आकर्षण का सर्वप्रमुख केन्द्र उसका परिवार और काम-भावना (Sex Complex) ही है। फ्रायड ने यौन-इच्छाओं को स्वाभाविक और अनिवार्य बताया था और जीवन के विकास में उसकी सापेक्षता प्रमाणित की थी। उसके विचार से कामवासना के आधार पर निर्मित पाप-पुण्य, नीति-अनीति आदि की मान्यताएँ असत्य एवं भ्रमोत्पादक हैं। कामभावना जीवन की अनिवार्यता है, जिससे मानव, विशेषतया नारी विमुख नहीं हो सकती। अतः फ्रायड के विचारों के फलस्वरूप सामाजिक बन्धन उत्तरोत्तर शिथिल होते गए और काम-भावना की गोपनीयता समाप्त होकर उसकी स्पष्टता सिद्ध होती गई। लुडोविची ने नारी की मूल प्रेरणा-शक्ति (Primus Mobile) पर बल देते हुए बताया है कि इसके परिणामस्वरूप नारी में जीवन के संरक्षण और पोषण के तत्त्व प्रधान हो जाते हैं, जिससे जीवन में गतिशीलता का भाव उत्पन्न हो जाता है और उसका विकास होता है।

फ्रायड के अनुसार नारी के स्वभाव में अनेक तत्त्व प्रमुख होते हैं। उसे कोमलता, स्वभावगत ईर्ष्या, सामाजिक चेतना और न्याय की न्यूनता, साधारणतया दुर्बल नैतिक भाव, हीनतापूर्ण सामर्थ्य, उदात्तीकरण के प्रति सीमित दृष्टिकोण (विशेषतया सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रति) मनोवैज्ञानिक विकास का प्रारम्भिक नियन्त्रण, परिवार और वासनात्मक जीवन के रूप में सभ्यता के प्रति विनाशपूर्ण दृष्टि, अति लज्जा-शीलता तथा गर्व की भावना आदि इस प्रकार का रूप प्रदान करते हैं कि उसका चरित्र विचित्र प्रकार की प्रवृत्तियों का समन्वय-सा बन जाता है। मनोविश्लेषणात्मक प्रक्रिया के माध्यम से यह बात प्रायः निश्चित-सी है कि सभी नारियाँ इस बात का अनुभव करती हैं कि बाल्यावस्था में उनकी भावनाओं को आघात पहुँचा है और अपने किसी भी दोष के न होने के बावजूद भी वे अपने स्वाभाविक विकास से वंचित रह गई हैं। अधिकांश लड़कियों को अपनी माँ से मात्र इसी कारण घृणा हो जाती है कि उन्हें इस सृष्टि में लड़के के बजाय लड़की के रूप में उन्होंने क्यों जन्मा? आयुवृद्धि के साथ नारी में वासनात्मक जीवन (Sexual Life) के प्रति अभिरुचि भी वृद्धि प्राप्त करती जाती है, विशेष रूप से जब वह एक बच्चे की माँ हो जाती है। समाज में नारी की निम्नावस्था से नारी में हीनता की ग्रन्थि (Inferiority Complex) उत्पन्न हो जाती है। वह उन सारी विषमताओं तथा बाधाओं की प्रतीक है, जो हमारी प्रगति तथा सामाजिक सफलता को अवरुद्ध करती हैं। लज्जाशीलता, जिसे नारियों का सर्वप्रमुख गुण माना गया है, 'सभ्य' एवं 'आधुनिक' मान्यताओं में उसकी नवीन व्याख्या इस प्रकार की गई है कि नारियों में लज्जाशीलता का यह गुण केवल इसलिए होता है, जिससे वह अपनी कमियों और दोषों को छिपा सके। वास्तव में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविश्लेषण सिद्धान्त के अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया कि लड़कियाँ अपनी बाल्यावस्था में अपने अन्य भाइयों तथा पिता को देखकर यह निष्कर्ष निकालती हैं कि उनमें कुछ ऐसी 'प्रमुख' विशेषताएँ हैं, जिनसे वे वंचित हैं। इसका उनकी चेतना-शक्ति पर गहन् प्रभाव पड़ता है, जो उनके स्वाभाविक विकास तथा चारित्रिक निर्माण की प्रक्रिया पर अमिट प्रभाव छोड़ जाता है। अधिकांश रूप से बिना अत्यधिक मानसिक शक्ति व्यय किये उन्हें नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। उनके जीवन में वासना के आधिक्य के प्रति कहा गया है कि वस्तुतः वही उनका जीवन है और उनकी जीवन-प्रक्रियाओं का एकमात्र उद्देश्य वासना तृप्ति ही रहता है। पर बाद में इस धारणा में परिवर्तन हुआ और यह विचार प्रकट किया जाने लगा कि वस्तुतः नारी सर्वप्रथम अपने को व्यक्तिगत रूप में ही देखती है, वासनापरक भावनाओं की पूर्ति की दिशा में साधन रूप में नहीं। अतः वासना के आधिक्य को वैज्ञानिक ढंग से सोचा जाना चाहिए। यहाँ तक कहा गया कि नारियों में क्षीण स्मृति होती है तथा वह अपने अतीत के प्रति कभी दुःखी नहीं होती, उन्हें खेद भी नहीं होता। जीवन के स्थायी और शाश्वत मूल्यों के प्रति उनकी कोई रुचि नहीं होती। बस उनके जीवन में वासना की प्रधानता तथा पुरुषों के प्रति द्वेष की भावना होती है। छोटी लड़की का अपने पिता के प्रति, अधिक आयु की स्त्री का अपने बड़े पुत्र के प्रति आकर्षण तथा एक पुत्र के जन्म होने पर माँ की सन्तुष्टि इसी द्वेष की भावना की अभिव्यक्ति करती है। वास्तव में नारी अपनी हीनता की ग्रन्थि का निराकरण कर अपने को उच्चता की भावना से ओतप्रोत करना चाहती हैं।

मनोविज्ञान-सम्बन्धी इन नई मान्यताओं ने उत्तर-प्रेमचन्द-काल में उपन्यासकारों के नायिका-सम्बन्धी परिकल्पना को विशेष रूप से प्रभावित किया। नारी के स्वरूप के सम्बन्ध में अभी तक जो परम्परागत प्रतिमान थे, उनमें इन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रक्रियाओं ने परिवर्तन उपस्थित कर दिया। अब नारी के आदर्श पत्नी, माँ, भगिनी रूप या विधवा एवं वेश्या रूप के प्रति उपन्यासकारों की विशेष रुचि न रही। उन्होंने नारी के चरित्र की आन्तरिक वृत्तियों का उद्घाटन करके उसके मनोविज्ञान की व्याख्या करने का प्रयत्न किया और उसमें यथार्थ का रंग भरने का भी प्रयत्न किया। नारी का मात्र आदर्शवादी परम्परागत रूप अब नायिकाओं के स्वरूप में नहीं प्रतिफलित होता था, वरन् उसके स्थान पर नारी का जो यथार्थ रूप था, नवीन चेतना के अधीन उसका जो मनोवैज्ञानिक स्वरूप था, तथा उसकी ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, प्रेम तथा वासना का स्पष्ट चित्रण होने लगा और एक प्रकार से नैतिकता और अनैतिकता का संकोच उपन्यासकारों में समाप्त होने लगा। इसके कारण स्पष्ट थे। फ़ायड ने व्यक्तियों में वासना की जिस प्रबलता को प्रबल तर्कों द्वारा सिद्ध किया था उसके प्रति आधुनिक उपन्यासकार विशेष रूप से आस्थावान् हो गया था और परम्पराओं के प्रति उसका मोह समाप्त हो गया था। इसी प्रसंग में एक बात और भी उल्लेखनीय है कि नायिकाओं की परिकल्पना के स्वरूप परिवर्तन की दिशा में उत्तर-प्रेमचन्द-काल में फ्रायड अथवा उनके सहयोगियों का ही प्रभाव नहीं पड़ा, अपितु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं भारतीय समाज में नारियों की परिवर्तित परिस्थितियों का भी मुख्य हाथ था। समाज में नैतिक तथा सांस्कृतिक मर्यादाएँ खण्डित हो रही थीं तथा पश्चिम के प्रभाव से एक विचित्र-सी उच्छृंखलता, नग्नता-प्रदर्शन, कामोत्तेजक हाव-भावों के प्रदर्शन, अतिशय फ़ैशनपरस्ती और विलासिता, चित्रपट का प्रसार एवं लोकप्रियता तथा दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली के कारण नारियों का ग़लत दिशा में प्रयाण आदि ने नायिका की परिकल्पना के सम्बन्ध में नई मान्यताएँ स्थापित कीं। इन्हें निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) परम्पराओं एवं आदर्शों के प्रति गहन आस्था का भाव।

(ख) आत्मपीड़न सहन करने का भाव।

(ग) विद्रोह का भाव।

(घ) अतीव वासनात्मक।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत शुद्ध रूप से परिकल्पित नायिकाओं की संख्या इस काल में न्यून ही है। पिछले काल के आदर्शवादी और परम्परागत उपन्यासकार भी इस युग में अपने दृष्टिकोणों में यथेष्ट मात्रा में परिवर्तन ला चुके थे, यद्यपि पिछले प्रभाव को वे पूर्णरूपेण समाप्त कर सकने में असमर्थ थे। कुछ नए उपन्यासकारों ने भी इस प्रभाव को आंशिक रूप से ग्रहण किया। इस प्रकार अन्य दो वर्गों (ख और ग) के अन्तर्गत ऐसी अनेक नायिकाएँ हैं, जिनमें परम्पराएँ एवं आदर्श तथा नारीत्व की मर्यादा आंशिक रूप से सुरक्षित प्राप्त होती है। भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्रकुमार, उषादेवी मित्रा, सियारामशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा आदि की अनेक नायिकाएँ इन्हीं आदर्शों को आंशिक रूप में ग्रहण किये हुए ही चित्रित की गई हैं।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की गई, जिनमें एक के पश्चात् एक ठोकर सहते रहने से एक विचित्र-सी तटस्थता का भाव आ जाता है और जो आत्मपीड़न में ही अपना जीवन व्यतीत करना चरम लक्ष्य समझती हैं। न उनमें विद्रोह का भाव रहता है और न ऐसे भावों को वे उत्पन्न होने देती हैं। अपनी पीड़ा, अपनी कुंठाओं तथा व्यथा को चुपचाप पीते रहने में ही वे अपने जीवन की सार्थकता समझती हैं। इस वर्ग में परम्परागत नारी रूपों का पूर्ण तिरस्कार नहीं हो पाया था, अपितु नायिकाओं की परिकल्पना पर परम्परा तथा नवीन नारी मनोविज्ञान का साथ ही प्रभाव पड़ा था, और एक प्रकार से उनमें दोनों का विचित्र प्रकार का सामंजस्य स्थापित हो गया था। जैनेन्द्रकुमार के 'परख' (१६२६) की नायिका कट्टो चार वर्ष की विधवा है, तथा समाज की रूढ़ परम्पराओं का शिकार है। वह जितनी ही सरल है, उतनी ही उसमें त्यागवृत्ति भी कूट-कूटकर भरी हुई है। व्यथा में ही भगवान बसते हैं और व्यथा को स्वयं चुपचाप पीते रहने और दूसरों को सारा विश्वास दे उनके सुख-सन्तोष की राह गढ़ना ही जीवन है। यही जैनेन्द्रकुमार का विश्वास है, और कट्टो इससे अलग नहीं है। वह इसी के लिए ही बनी है। कट्टो की परिकल्पना का स्रोत वे गौरवशाली परम्पराएं हैं, जिनमें आत्म-पीड़न ही नारी का चरम लक्ष्य होता है। उसकी परिकल्पना का उद्देश्य नारी के गौरव रूप का चित्रण करना ही था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनेन्द्र गांधीवादी हैं और जीवन में पर्याप्त गम्भीरता और सौम्यता उन्हें प्रिय है। कट्टो इसीलिए इतनी सहिष्णु बन पाती है और उसकी सहिष्णुता ही उसे सत्पथ से दूर ले जाती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कट्टो के मूल में उसका वैधव्य और आर्थिक परतन्त्रता ही मुख्य रूप से क्रियाशील है। उसके परिवार की आर्थिक व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय थी। उसके अल्हड़ जीवन में भी अपने भविष्य के प्रति चिन्ता घुली-मिली थी, जिससे उसमें एक हीनता की ग्रन्थि उत्पन्न हो गई थी। यद्यपि जैनेन्द्रकुमार ने इसे अधिक स्पष्ट न कर उस पर अपने दर्शन, आध्यात्मिकता और प्रेम की लीपा-पोती की है, जिससे कट्टो अस्वाभाविक-सी लगती है। वास्तव में कट्टो की हीनता की ग्रन्थि ही इतने त्याग और सबसे ऊपर उठकर श्रद्धा की पात्री बनने का कारण है। इसे न स्पष्ट कर जैनेन्द्र ने कट्टो के प्रति घोर अन्याय किया है।

जैनेन्द्रकुमार के एक अन्य उपन्यास 'सुनीता' (१९३६) की नायिका सुनीता में बौद्धिक पक्ष अत्यन्त प्रबल है, इसीलिए वह अपनी भावनाओं, अपनी परिस्थितियों तथा अपनी विवशताओं से पीड़ित रहती है। उसमें विद्रोह भी प्रस्फुटित होता है तो वह उसका दमन कर देती है। वह जिस प्रकार हरि प्रसन्न को जीवन की राह पर वापस लाने के लिए स्वयं अपने पति द्वारा प्रयुक्त की जाती है, वह इस युग के लिए सर्वथा नई बात थी और जैनेन्द्र के 'नारी त्याग' की चरम सीमा भी। सुनीता का चरित्र दो अन्तर्विरोधों के मध्य निर्मित हुआ है। एक ओर वह पति-परायणा है, विवाह संस्था को भी नहीं तोड़ना चाहती, क्योंकि वह निवाहने योग्य संस्था है और ईश्वर में विश्वास रखती है। दूसरी ओर अपने 'प्रेमी' को उचित राह पर लाने और सही माने में पुरुष बनाने में भी कोई कसर शेष नहीं रखती। यहाँ तक कि यदि वह कामाग्नि से उत्पीड़ित हो संघर्ष कर रहा है, तो उसकी कामवृत्ति को सन्तुष्ट करने को तत्पर हो जाती है। लेकिन अन्त में अचेतन की विजय होती है। सुनीता की परिकल्पना के पीछे लेखक का उद्देश्य परस्पर-विरोधी परिस्थितियों में नारी को रखकर उसकी परीक्षा करना, तथा उसका आत्मविश्वास, उसकी पवित्रता एवं पातिव्रत धर्म का पालन की उत्कट लालसा को प्रकट करना था। 'त्यागपत्र' (१९३७) में नारी की आर्थिक परतन्त्रता एवं कथा को भावुकता की आधारभूमि पर मृणाल के माध्यम से उठाया गया है। प्रारम्भ से अन्त तथा मृणाल का चरित्र आतमत्याग पर ही निर्भर करता है। जीवन-शक्ति का मूल स्रोत आतमव्यथा में है। दुःख उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों और पीड़ा उत्पन्न करने वाले वातावरण से घृणा न करनी चाहिए। विषाद कोई अभिशाप नहीं है और उससे दूर न भाग उसमें आनन्दोल्लास की सम्भावना खोज निकालना ही अहिंसा का चरम लक्ष्य है। अभुक्त वासना को संजोकर रखना नहीं बल्कि उसका वितरण करते रहना भी अहिंसा के अन्तर्गत है। मृणाल को इसीलिए अपनी मुक्ति का एकमात्र मार्ग आत्मसमर्पण में ही दृष्टिगोचर होता है। वह यह पूछती है कि नारी क्या इसीलिए प्रताड़ित है, निर्दयता का शिकार है कि वह आर्थिक रूप से परतन्त्र है, पुरुष के आश्रित है? मृणाल की परिकल्पना का स्रोत वे भारतीय परम्पराएँ हैं, जिनके शिकंजे में नारी कुछ इस तरह जकड़ी हुई थी कि उसका अस्तित्व दासी के अतिरिक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ और न रह गया था । 'कल्याणी' (१९३२) की नायिका कल्याणी की परिकल्पना तत्कालीन समाज में पति-पत्नी के मध्य परस्पर अन्तर्विरोध का परिणाम है । पश्चिमी शिक्षा के प्रसार से नारियों में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रखने की प्रबल भावना जन्म ले रही थी, पर साथ ही वे अपनी परम्पराएँ भी नहीं त्यागना चाहती थीं । ये दो परस्पर-विरोधी बातें थीं, क्योंकि भारतीय परम्परा में नारी पति के सम्मुख अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सकती । वह अपने पति की पूर्ण रूप से सह-चरी होती है । पुरुष नारी पर अपना पूर्ण नियन्त्रण चाहता है, चाहे वह जैसा भी हो । वह नारी को अपनी दासी समझता है, और चाहता है कि नारी प्रत्येक क्षेत्र में उसकी आज्ञाओं का पालन करे । नारी में जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता जा रहा था, इस भावना के विरुद्ध उसके मन में विरोध भी उत्पन्न होता जा रहा था । फलस्वरूप ऐसे विवाहित जीवन अशान्तिपूर्ण और हलचलों से व्याप्त रहते थे । लेखक का उद्देश्य कल्याणी के रूप में भारतीय उच्च शिक्षित नारी के इस परिवर्तित जीवन को चित्रित करना था । इस प्रकार जैनेन्द्र की अधिकांश नायिकाएँ एक की पत्नी और दूसरे की प्रेयसियाँ हैं । कर्तव्य और प्रेम के मध्य उन्होंने विशृंखलित जीवन और संघर्ष को चित्रित करने का प्रयत्न किया है । उनमें पतिव्रत धर्म का पालन, गृहस्थी की रक्षा एवं संचालन, पति-भक्ति और प्रेम के साथ अज्ञात के प्रति अव्यक्त उत्कंठा है । वे सभी आत्मव्यथा तथा पीड़ा सहन करने वाली हैं, पर उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी तथा अहंवादी है । उनके अहं का धीरे-धीरे घुलना भी परवशता की विचित्र प्रक्रिया है । उनमें बुद्धि तथा हृदय का संघर्ष है तथा विजय हृदय पक्ष की होती है ।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत नारियों में परम्परा के प्रति स्पष्ट विद्रोह की भावना प्राप्त होती है । उनमें वासना के बन्धन भी कुछ मात्रा तक शिथिल हैं तथा उनमें अनैतिकता अथवा नैतिकता के प्रति संकोच की भावना न्यून है । प्रत्येक व्यक्ति में अपना अहं, अपना आत्मसम्मान होता है । कुछ उसे महत्त्व देते हैं, कुछ नहीं । जहाँ तक नारियों का सम्बन्ध है, जब तक उनमें नवीन चेतना और जागृति नहीं हुई थी, उनकी शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार नहीं हुआ था, तब तक स्वयं उन्हें कदाचित यह नहीं ज्ञात था कि व्यक्ति का अहं और उसका आत्मसम्मान भी कोई चीज होती है, जिसे व्यक्ति अधिकांशत: अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानता है । पर ब्रिटिश शासन के पश्चात् धीरे-धीरे स्थिति में जब परिवर्तन हुआ तो नारियों में भी अपने अहं एवं आत्मसम्मान की भावना उदित होने लगी और वे पुरुषों की अपेक्षा अपने को अधिक प्रगतिशील एवं तीव्र चेतना-शक्ति सम्पन्न सिद्ध करने की चेष्टा करने लगीं । यह भावना यहाँ तक शक्ति प्राप्त करने लगी कि नारियों में विद्रोह की भावना भी व्याप्त होने लगी और वे किसी भी मूल्य पर अपने को पुरुषों के समक्ष नहीं पराजित होते देखना चाहती थीं, चाहे वे उनके पति ही क्यों न हों । वे पति के सम्मुख भी अपने स्वाभिमान एवं आत्मसम्मान की रक्षा तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने की चेष्टा करने लगीं । उत्तर-प्रेमचन्द-काल में नारियों का स्वतन्त्र अस्तित्व यथेष्ट मात्रा में विकसित हो चला था और अपने अधिकारों के प्रति वे पूर्ण रूप से सजग हो चुकी थीं । उनमें एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पनपने लगा था और विवाह संस्था में वे आमूल परिवर्तन की माँग करने लगी थीं। वे केवल पति की दासी नहीं, वरन् दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की भाँति अपना जीवन-यापन करना चाहती थीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में एक-दूसरे का हस्तक्षेप उन्हें पसन्द न था। अंचल के 'चढ़ती धूप' (१९४५) की नायिका ममता इन्हीं भावनाओं की चरम अभिव्यक्ति करती है। अपने विवाहित जीवन में अपने पति की अपेक्षा वह प्रेमी को अधिक महत्त्व प्रदान करती है, प्रेमी की मृत्यु पर चूड़ियाँ तोड़कर अपने को विधवा स्वीकार कर लेती है। वह अपने पति से यहाँ तक कह देती है कि उसका प्रेमी अब भी चाहे तो उसे किसी कोठे पर बिठा वेश्यावृत्ति करा सकता है। विद्रोह का यह भाव अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी, की शशि के रूप में और 'देशद्रोही' की राजदुलारी खन्ना के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ है।

इलाचन्द्र जोशी के अनेक उपन्यासों की नायिकाओं में भी यही विद्रोह भाव परिलक्षित होता है। 'प्रेत और छाया' की मंजरी पुरुषों के अत्याचार को ठुकराकर स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करती है। 'पर्दे की रानी' में निरंजना तथा 'निर्वासित' में नीलिमा भी इन्हीं भावनाओं को व्यक्त करने वाली नायिकाएं हैं। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' की नायिका चित्रलेखा की समस्या यद्यपि स्पष्ट विद्रोह की तो नहीं है, पर उसमें व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है।

अतीव वासनात्मक रूप का चित्रण अधिकांश रूप में अज्ञेय और यशपाल ने किया है। 'दादा कामरेड' की नायिका शैल में परम्परा के प्रति ज़रा भी मोह नहीं है। वह अपने प्रेमी के समक्ष पूर्ण रूप से नग्न हो जाती है, क्योंकि वह मौत के मुख में पड़ा हुआ है। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' में भी यही होता है। वास्तव में यह विश्वास कर लिया गया कि नारियों में पुरुषों की अपेक्षा वासना की प्रबल इच्छा होती है और उनके सारे कार्य-व्यापार केवल एक ही उद्देश्य-वासना की पूर्ति के लिए होते हैं। ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना करने वाले उपन्यासकार उच्छृङ्खलता, असंयमशीलता, भोगवादी तथा पाप-पुण्य की सीमाओं के प्रति अत्यन्त असहिष्णु होते हैं और वैयक्तिक जीवन की निराशाओं (Frustrations) का प्रतिबिम्ब वासनात्मक नायिकाओं में चित्रित होता है। उनका प्रबल यौनोत्पीड़ित (Sex-obsession) वासना-सम्बन्धी रहे-सहे नियमों को शिथिल ही नहीं एक प्रकार से समाप्त कर देता है और वह सेक्स-सम्बन्धी स्वतन्त्रता की मांग करता है, जिससे सभ्यता का पूर्ण विकास (या पतन ?) हो सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सियाराम तिवारी

नयी कविता की भाषा : शब्द-प्रयोगों पर एक विहंगम दृष्टि

१. 'अज्ञेय' ने 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में स्वीकार किया है कि नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से सम्बन्ध रखता है। अतएव नई कविता की भाषागत उपलब्धि स्वभावतः ही सबसे अधिक है।

नई कविता के कवि काव्यभाषा को नया कुछ देने के लिए सभी दिशाओं में गए हैं; बोली से लेकर शब्द-कोश तक चक्कर लगाया है, अन्य भाषाओं का आश्रय लिया है तो शब्दों का निर्माण भी किया है।

बोली के शब्दों का प्रयोग

२. अनुभूति को सही अभिव्यक्ति देने के लिए नई कविता के कवियों ने बोलियों से पर्याप्त शब्द लिये हैं।

टरकाऊँगा इसे जैसे भी हो आने-दो आने देकर !

—रणधीर सिनहा, आधार, फरवरी, १९६१।

'टरकाना' का खड़ी बोली में कोई पर्याय नहीं है। आगन्तुक अथवा याचक को उसके मनोनुकूल या उसका प्राप्य न देकर नाम-मात्र के लिए उसे कुछ देकर विदा कर देने के लिए बिहारी बोलियों में 'टरकाना' का प्रयोग होता है।

यही तीसरे, आँक रहे जो
मांस-पेशियों में कितना है श्रम-बल
(बिना छुए या _टोये_ जैसे चूजे को गाहक _टोता_ है।)

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ३७।

'टोना' बोली का शब्द है जो 'छूने' और 'पकड़ने' के बीच का अर्थ देता है। ऐसा स्पर्श जिसमें कुछ पता लगाने का भाव सम्मिलित हो, टोना है।

बनाकर ठूँठ छोड़ गया पतझार
_उलंग_ असगुन-सा खड़ा रहा कचनार

—नागार्जुन, सतरंगे पंखोंवाली, पृष्ठ १८।

'उलंग' का अर्थ है 'बेढंगा'। ऐसी जगह पर कोई चीज रख देना कि उससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी प्रकार के खतरा होने की सम्भावना हो, 'उलंग' कहते हैं। 'पतझार' के पश्चात् पत्रहीन, डंठलयुक्त कचनार का पेड़ मनुष्य के लिए उलंग नहीं तो क्या होगा ?

घंटों हँस-हँस *बतियाती* ले खुली खिलखिलाहट बालाएँ

—प्रभाकर माचवे, स्वप्न-भंग, पृ० ४४।

घण्टों निष्प्रयोजन गप्प करने के लिए 'बतियाना' शब्द बड़ा व्यंजक है।

बाहर एक तरफ कोने में
लेटा लेटा *औंघाता* है !

—केदारनाथ अग्रवाल, युग की गंगा, पृष्ठ ४३।

नींद से मत्त होकर झुकने का बोध कराने के लिए 'ऊँघना' से 'औंघाना' उपयुक्ततर है।

३. नई कविता के कवि इसकी विपरीत दिशा में भी गए हैं, अर्थात् ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जो साधारणतया प्रचलित नहीं हैं।

अभी सुन पड़ी नहीं *परभृता* की कूक,
अभी कहीं कँपी नहीं है चातकी की हूक,

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ५६।

'कोकिला' के लिए 'परभृता' शब्द साधारण प्रचलन में नहीं है, इसे कोश से ढूँढ़ा हुआ ही कहा जाएगा।

नयी कविता में विदेशी शब्द

४. नये युग की नई अनुभूति को व्यक्त करने के लिए नई कविता के कवियों ने बोलचाल में प्रचलित अंग्रेज़ी की शब्दावली को ग्रहण कर लिया है।

इंजिन के हेड *लाइट*-सा शोर गुल के बीच सूरज निकल गया

—मदन वात्स्यायन, आयाम, पृ० १४।

सात रंगों के घोड़ों से जुते हुए और अरुण नामक सारथी के द्वारा हाँके गए रथ में सूर्य का निकलना, नई कविता का कवि नहीं देख सकता। सूर्य के गोले को इंजिन के हेड लाइट से उपमित करना उचित और चमत्कारपूर्ण दोनों है। यहाँ न तो हेड लाइट का अनुवाद कर और न किसी अन्य शब्द के द्वारा ही इस अनुभूति की अभिव्यक्ति हो सकती थी।

किन्तु निम्नांकित पंक्तियों में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग प्रमादपूर्ण ही कहा जाएगा—

जैसे इन सबसे उसे कतई नहीं *इराटरेस्ट*
पूँछ फिर झंडे-सी हिलती है
धीरे से बाहर चला जाता है
***आडर प्रोटेस्ट*।**

—ठाकुर प्रसाद सिंह, वासंती, जून '६१।

५. नए शब्द गढ़ने की दिशा में नई कविता के प्रायः सभी कवि अग्रसर हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यही नहीं, उन्होंने अपनी शक्ति का सर्वाधिक व्यय इसी प्रयास में किया है। अतएव उन दिशाओं का अध्ययन आवश्यक है जिनमें चलकर शब्द बनाये गए हैं।

पुराने शब्दों को खरादना

६. यह शब्द-निर्माण की पहली दिशा है। संयुक्त शब्दों के अग्र अथवा पश्च भाग को एवं उपसर्ग-प्रत्यय के योग से बने शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय को झाड़कर शब्दों को नई चमक देने का प्रयत्न किया गया है।

_शप्त_ जग की तप्त धरती पर झुलसते पैर

—भारतभूषण अग्रवाल, ओ अप्रस्तुत मन, पृ० ६४।

'अभिशप्त' का 'अभि' उपसर्ग झाड़कर 'शप्त' बनाया गया। यों भी 'शाप' से 'शप्त' बन जाता है, किन्तु प्रचलित 'अभिशप्त' ही है।

तुम्हारा हृदय भी है उसी सागर की तरह गम्भीर, _द्वेलित_

—वही, पृ० ६६।

'उद्वेलित' का आरम्भिक 'उ' हटाकर 'द्वेलित' रखा गया। यहाँ ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि उत्कर्ष-सूचक 'उत्' उपसर्ग को हटाकर मूल शब्द को मूल भाव प्रकट करने के लिए रखा गया है, क्योंकि 'उद्वेलित'='उत्'+'वेलित', अतः 'उत्' को हटा लेने पर 'वेलित' बचेगा।

उपसर्ग-प्रत्यय जोड़कर शब्द गढ़ना

७. हिन्दी के अपने उपसर्गों और प्रत्ययों के अतिरिक्त संस्कृत और उर्दू के उपसर्ग और प्रत्यय भी प्रयुक्त होते हैं। नई कविता के कवियों ने शब्द गढ़ने में इनका प्रभूत उपयोग किया है।

(१) **मैं उन्हें _निर्वैर_ एकांत प्यार दूँ, अनासक्त**

—श्रीराम वर्मा, नई कविता ५-६, पृ० २३०।

(२) **पत्ते भी खड़े चुपचाप सीने तान—**
अपनी _व्यक्तिमत्ता_ के सहारे जो चले हैं प्राण,

—गजानन माधव मुक्तिबोध, तार सप्तक, पृ० ४३।

(३) **मालव की संध्याएँ**
_मेघल_ अवसाद लदी।

—प्रभाकर माचवे, तार सप्तक, पृ० ५३।

(४) **झुरमुटों पर मृगनयन-सी तालियाँ उड़ती हुई**
_साँझिल_ हवा—
सब कह रही हैं।

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० १०।

(५) **_सँझवायी_ लहरों पर गतिशील सदा को चले गये।**

—वही, पृ० १८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) हवाओं की नील गीली पन्नियाँ
उड़ रहीं भींगे, सँझाये शहर-शिखरों पर;

—वही, पृ० २३।

(७) मदिर *मधुमान*
श्रम संगीत से
हम
हर तबाही के
अभेदे दुर्ग तोड़ेंगे !

—महेन्द्र भटनागर, संतरण पृ० २।

(८) मेरी वासनाएँ
हिमालय से प्रवाहित
वेगगा भागीरथी की
शुभ्र धारों की तरह !

—वही, पृ० ४२।

'वैर' में 'निः' उपसर्ग जोड़कर 'निर्वैर' बना। 'बुद्धिमत्ता' के सादृश्य पर 'व्यक्तिमत्ता' बनाया गया है, पर 'व्यक्तित्ववत्ता' शब्द उपयुक्त होता, क्योंकि भाववाचक संज्ञा में 'मान्' या 'वान्' लगाकर विशेषण और फिर उस विशेषण के अन्त्य को क्रमशः 'मत्ता' अथवा 'वत्ता' बनाकर उसे संज्ञा में परिणत किया जाता है। इसलिए 'व्यक्ति' शब्द से नहीं, 'व्यक्तित्व' शब्द से शुरू करना होगा और अकारांत होने के कारण 'वान्' और तब 'वत्ता' लगेगा। 'मेघ' में 'ल' प्रत्यय लगाकर 'मेघल' शब्द बनाया गया है जिसका अर्थ है, 'मेघ के समान' या 'मेघयुक्त'। नरेश मेहता ने 'साँझ' के तीन विशेषण उपर्युक्त उदाहरणों में प्रयुक्त किये हैं—साँझिल, सँझवाई और सँझाये। तीनों स्थानों पर तीनों शब्दों से नए-नए चमत्कार प्राप्त किये गए हों, ऐसा तो कुछ नहीं लगता। एक 'साँझिल' से सर्वत्र काम चल सकता था और 'साँझ' का यही एक विशेषण उपयुक्त है भी। शब्द-रूपों की यह स्वच्छन्दता वांछनीय नहीं। 'मधु' में 'मान्' प्रत्यय लगाकर मधुमय' का अर्थ देनेवाला 'मधुमान' शब्द बना है। 'वेग' के साथ गत्यर्थक 'गम्' धातु का 'गा' (स्त्रीलिंग) रूप जोड़कर 'वेगगा' शब्द बना जिसका अर्थ है 'तेज़ चलनेवाली'।

संज्ञा से क्रिया बनाना

८. बोलियों की यह एक विशेष प्रवृत्ति है जिसका नई कविता के कवियों ने अत्यल्प सार्थक और अत्यधिक निरर्थक उपयोग किया है।

(१) जागो
और खोओ
स्मृति में *अनुरागो*।

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृ० ५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) वर्षा
जिसने कर्षक को *आकर्षा* ।
स्वस्थ, मस्त बूँदों ने आकर,
विपद्ग्रस्त धरती को *स्पर्शा* ।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

—प्रभाकर माचवे, तारसप्तक, पृ० ५५ ।

(३) गर्मी से घबड़ा *सृष्टि* ईश्वर ने *निर्मी*,
कहते हों सर्मी, पर हे ईश्वर ! यह गर्मी !!

—वही, स्वप्न-भंग, पृ० १४ ।

(४) जब सुभाष ने अग्रगामि-दल नगर बम्बई में *स्थापा* था

—वही, पृ० ८४ ।

(५) शेष गायन गा रहे सुधि हंस
सह संगीतती संज्ञा, वनपाखी ! सुनो !!

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० २१ ।

प्रचलन के अनुसार 'अनुराग' संज्ञा में 'करना' जोड़कर उसे क्रिया बनाएँगे; किन्तु सीधे 'अनुराग' को ही क्रिया-रूप में चलाने में, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि बिलकुल खटक न होगी, पर बहुत खटक इसलिए न होगी कि इस संस्कृत शब्द को बोली का रूप देने में इसे बदलने की ज़रूरत न पड़ेगी। इसके विपरीत 'आकर्षण', 'स्पर्श', 'निर्माण', 'स्थापना', ये शब्द बोली में इसी रूप में नहीं चलेंगे। अतः बोली का व्याकरण लगाने के पहले, (इन संज्ञा शब्दों को क्रिया-रूप देने के पहले) इन्हें बोलियों के अनुरूप ढालना होगा। उदाहरणार्थ 'स्थापना' बोली में 'थापना' और उसका भूतकालिक रूप 'थापा' होता है। 'स्थापा' और 'थापा' का अन्तर स्पष्ट है। 'स्थापा' में एक प्रकार का अजनबीपन है, जो 'थापा' में नहीं है। इसी तरह 'सहसंगीत' से 'सहसंगीतती' चलाना ज़्यादती है।

क्रिया-पद भाषा के प्राण होते हैं, अतएव ये सदैव भाषा की प्रकृति के अनुकूल ही होंगे। इस क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रमादपूर्ण प्रयोग करना प्रकृति को बदलने का दुस्साहस है।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

क्रिया से संज्ञा

नयी कविता के कवियों ने विपरीत प्रयोग भी किया है, अर्थात् क्रियापद से संज्ञा-पद भी बनाये गए हैं।

मेल मुझे लेकर उड़ती जाती थी,
... ...
कितनी ही पर्वत-माला की घूमों में से।

—गिरिजाकुमार माथुर, तारसप्तक, पृ० ४४ ।

'मोड़' का बोध कराने के लिए 'घूमना' क्रिया से 'घूम' संज्ञा बनाई गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञा से क्रिया बनाने की अपेक्षा क्रिया से संज्ञा बनाना आसान है, पर इसकी ओर कवियों का ध्यान कम गया है।

संज्ञा से विशेषण

१०. जिन संज्ञाओं के विशेषण नहीं बनाये गए थे, उनसे भी नई कविता के कवियों ने विशेषण बनाए हैं।

(१) शिखर *वस्त्रित* वायु की वन बोलियाँ

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० २०।

(२) सियाह लहरों में नहा रहीं
किरनीली मूर्तियाँ—
मेरी ही स्फूर्तियां

—गजानन माधव मुक्तिबोध, कल्पना, १३१।

(३) दक्षिण-पश्चिम से हहर-हहर अरबी सागर
उद्दाम स्वन, *ज्वारित* अखंड, बहती जिस पर

—प्रभाकर माचवे, स्वप्न-भंग, पृ० २८।

(४) जैसे स्वयं मेरी ही *ममतालु* बालिका हो

—प्रयागनारायण त्रिपाठी, तीसरा सप्तक, पृ० ४६।

(५) तुम्हारी यह *दंतुरित* मुसकान

—नागार्जुन, सतरंगे पंखोंवाली, पृ० ४१।

'वस्त्रित', 'किरनीली', 'ज्वारित', 'ममतालु', इन नवनिर्मित विशेषणों से हिन्दी का शब्द-भांडार बढ़ा है। 'दंत' से 'दंतुर' विशेषण बनता है अतः 'दंतुरित' अति-प्रयोग ही कहलाएगा।

११. तद्भव शब्दों को संस्कृत व्याकरण के अनुसार ढाला गया है।

जाने कैसे विद्युत्कर्षण से *परसित* है तन-मन-अणु-अणु।

—प्रभाकर माचवे, तार सप्तक, पृ० ५३।

'परस' संस्कृत 'स्पर्श' का तद्भव रूप है, जिसका विशेषण होता है 'स्पृष्ट'। किन्तु यहाँ 'परस' का विशेषण संस्कृत का 'इत' प्रत्यय लगाकर 'परसित' बनाया गया है।

१२. प्रचलित शब्दों के सादृश्य पर नये शब्द गढ़े गए हैं।

तेरा वरद, मेरा *अभयद*, यों हमारे हाथ हैं।

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृ० ५१।

'वरद' के सादृश्य पर 'अभयद' बना, जो उचित ही है।

१३. विशेषण का संज्ञा की तरह और संज्ञा का विशेषण की तरह प्रयोग हुआ है।

शब्दों का निर्माण यही नहीं है कि शब्दों को काट-छांटकर या उनमें जोड़-जाड़कर उन्हें नया रूप दिया जाए। शब्दों का नया प्रयोग भी उनका नव-निर्माण ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) तब उसने जो सब *रिक्तों* में भरा हुआ है
अपने भेद कहे।

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ७९।

(२) ग्वालिन-सी ले दूब मधुर
वसुधा हँस-हँसकर गले मिली
चमका अपने *स्वर्ण* सींग वे
अब शैलों से उतर चलीं

—नरेश मेहता, दूसरा सप्तक, पृ० १२५।

पहले उदाहरण में 'रिक्त' विशेषण का संज्ञा की तरह और दूसरे उदाहरण में 'स्वर्ण' संज्ञा का विशेषण की तरह प्रयोग हुआ है।

पुंल्लिंग से स्त्रीलिंग

१४. दोनों जातियों का बोध करानेवाले पुंल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग-रूप दिया गया है।

(१) कोई तब कहता है—
पक्षिणियाँ सचमुच अपार्थिव हैं।

—गजानन माधव मुक्तिबोध, कल्पना, पृ० १३१।

(२) खड़ी खेत के बीच *किसानिन* कजरी गाये री

—भवानीप्रसाद मिश्र, दूसरा सप्तक, पृ० १७।

'पक्षी' और 'किसान' दोनों व्याकरण से पुंल्लिग हैं, परन्तु दोनों का स्त्रीलिंग-रूप बनाया गया है।

निपात

१५. पीछे कहा जा चुका है कि नयी कविता के कवियों ने नयी अभिव्यंजना देने के लिए शब्द गढ़े हैं। बल्कि प्रतीत तो ऐसा होता है कि नयी कविता के कवि शब्द गढ़ने के लिए आकुल हैं और इस आकुलता में उन्होंने व्याकरण का ध्यान ही भुला दिया है तथा निपातों की संख्या बढ़ाई है।

(१) *जन्मवधि* मधुऋतु-विजय···
हम मृत्यु के भी पार
देखें!

—श्रीराम वर्मा, वासंती, दिसम्बर '६०।

(२) रुकना नहीं है तुम्हें अब *अधबीच* में!

—भारतभूषण अग्रवाल, ओ अप्रस्तुत मन, पृ० १२६।

(३) जो देय था वह दे चुके,
जो गेय था, *छंदित* चुके;

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० १९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) अच्छी है किसी दुखियारे की सहायता
बेकार पोथा भर लिखना हाय-*हायता*

—प्रभाकर माचवे, स्वान-भंग, पृ० ५९।

पहले उदाहरण में 'जन्मवधि' शब्द विचारणीय है। जन्म+अवधि 'जन्मावधि' होगा। 'जन्मवधि' का व्याकरणिक औचित्य तो नहीं ही है, इस शब्द के पीछे कवि का कोई अभिप्राय हो सकता है, यह भी समझ में नहीं आता। 'बीच' का अर्थ है 'आधा' और 'आधा' का अर्थ है 'बीच', तब 'अधबीच' क्या ? नरेश मेहता ने 'छंदोबद्ध' के अर्थ में 'छंदित' का व्यवहार किया है। 'छंद' का व्युत्पत्त्यर्थ होता है 'छिपाना', अतः 'छंदित' का अर्थ हो जाता है 'छिपाया हुआ'। इस अर्थ में भी 'छंदित करना' या 'छंदित होना' प्रयोग चलेगा, 'छंदित चुकना' नहीं। विस्मयादिबोधक अव्यय 'हाय' से 'हायता' संज्ञा बनाना अनुचित है।

नरेश मेहता ने प्रचलित शब्दों का अप्रचलित प्रयोग कर उन्हें अव्याख्येय बना दिया है—

मेघराजा !
जलों को छोड़ो,

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० ४३।

द्रव्यवाचक संज्ञा का बहुवचन नहीं होता, यह एक साधारण नियम है। इस साधारण नियम को तोड़कर कवि ने कौन-सा नया चमत्कार दिया, यह समझ में नहीं आता।

महुआ फूला, बेरें आयीं

—वही, पृ० ५१।

'बेर' निर्विवाद रूप से पुल्लिग है, पर कवि ने उसका स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है। अनर्गल शब्दों और अनर्गल प्रयोगों से 'वनपाखी सुनो' के पृष्ठ भरे पड़े हैं। 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है—"···और जिन्होंने उसे (शब्द को) नया कुछ देने के आग्रह में पुराना बिलकुल मिटा दिया है, वे ऐसे देवता हैं जो भक्त को नया रूप दिखाने के लिए अन्तर्धान ही हो गए हैं।" यह कथन नरेश मेहता पर हू-ब-हू लागू है।

संकर समास

१६. संकर समास वैयाकरणों द्वारा तो अवांछनीय समझे ही जाते हैं, दो स्वरूप वाले शब्दों के मेल में एक प्रकार का अटपटापन आ जाता है। हास्य-व्यंग्य के लिए ऐसे शब्द उपयुक्त हो सकते हैं, पर गम्भीर प्रसंगों के लिए ऐसे शब्द प्रतिकूल पड़ते हैं। नागार्जुन ने अपनी व्यंग्य कविताओं में ऐसे शब्दों का खूब प्रयोग किया है, किन्तु अन्य कवियों ने प्रसंग का विचार किये बिना ऐसे शब्दों का प्रयोग कर डाला है:

तभी सुन *किरनाओं* की टाप,
भर गई उन नयनों में बात,

—नरेश मेहता, दूसरा सप्तक, पृ० १२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'किरण' के तद्भव रूप 'किरन' के साथ 'अश्व' को समस्त किया गया है।

सुनते हैं कोकिलाएँ गाती हैं इस मौसिम
कोठी पर चाँदनी ये *साराम* लेटे हैं !

—प्रभाकर माचवे, स्वप्न-भंग, पृ० ६५।

'साराम' का अर्थ है 'आराम के साथ'। विश्राम-बोधक 'आराम' शब्द फ़ारसी का है, जिसके साथ संस्कृत का 'साथ' बोधक 'स' लगाकर यह समास बनाया गया है। संस्कृत में 'आराम' शब्द तो है, किन्तु वहाँ उसका अर्थ 'वाटिका' है।

देख आया *चन्द्रगहना*।

—केदारनाथ अग्रवाल, युग की गंगा, पृ० ६।

'चन्द्रगहना'—इस षष्ठी तत्पुरुष में 'चन्द्र' तो संस्कृत शब्द है और 'गहना' 'ग्रहण' का तद्भव। इसका एक अनौचित्य यह भी है कि 'गहना' शब्द हिन्दी में आभूषण के लिए प्रचलित है।

शब्दों का विवरण-परिवर्तन

१७. नयी कविता के कवियों ने शब्दों के प्रचलित विवरण को बदला है। संस्कृत के अनेक तत्सम शब्द अपने सही रूप में आज उच्चरित नहीं होते। तब भी उनका मूल रूप में ही लिखा जाना अस्वाभाविकता की सृष्टि करता है। पर यह अस्वाभाविकता गद्य और पद्य, दोनों में अनुभव की जानी चाहिए। एक ही शब्द को गद्य और पद्य में भिन्न-भिन्न रूप में लिखना दोनों की भाषा में पार्थक्य पैदा करना है, अतः यह वांछनीय नहीं है।

१८. ऐसा होते हुए भी कहीं-कहीं पर शब्दों के परिवर्तित विवरण से जो चमत्कार उत्पन्न हुआ है, उसको मानना ही पड़ता है।

(१) यह महीन मलमल की *सारी*
उसके नीचे नरम गुलाबी चोली से ये कसे हुए
पीनोन्नत स्तन

—प्रभाकर माचवे, तारसप्तक, पृ० ६०।

(२) हहर हहर घहराया
काला *बद्दल* :
लेकिन पहले आया
झक्कड़

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृ० २६।

'साड़ी' के स्थान पर 'सारी' के प्रयोग में जो व्यञ्जना है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'साड़ी' से 'सारी' में पारदर्शिता का भाव अधिक है और यहाँ जो प्रसंग है उसमें 'साड़ी' की पारदर्शिता दिखा देने से इन पंक्तियों का सौन्दर्य बढ़ जाता है। दूसरे उदाहरण में 'बद्दल' शब्द से उसके कालेपन को और बढ़ाया गया है। 'बादल' में 'ब' की दीर्घ मात्रा कालेपन को फैलाकर कम कर देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९. साथ ही ऐसे स्थलों की संख्या अनन्त है जहाँ शब्दों के विवरण बदलने का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। न तो लय-रक्षा के लिए उनका वहाँ औचित्य है और न व्यंजना में ही उससे कोई चमत्कार हासिल हुआ है।

(१) *मधुरितु* रानी महान्

—प्रभाकर माचवे, तारसप्तक, पृ० ५२।

(२) धरती के ताप, मेरे तप के *प्रमान* रे!

—भारतभूषण अग्रवाल, ओ अप्रस्तुत मन, पृ० ८८।

(३) *रैएा* डूँगरी उतर गये, *सप्तर्षी* अपने वरुण देश में!

—नरेश मेहता, दूसरा सप्तक, पृ० १२१।

(४) बड़ा मासूम होता है गुनाहों का *समर्थन* भी!

—धर्मवीर भारती, दूसरा सप्तक, पृ० १८५।

इन सभी उदाहरणों में चिह्नित शब्द अपने प्रचलित विवरण से भिन्न विवरण रखते हैं और इसके लिए कोई औचित्य इनके साथ नहीं है।

लय-योजना के लिए शब्द का तोड़-मरोड़

२०. नयी कविता के कवियों को लय-योजना के लिए भी शब्दों का तोड़-मरोड़ करना पड़ा है। यही नहीं, ऐसा करने में इन लोगों ने मध्यकाल के कवियों को भी मात कर दिया है।

(१) उतरी उन सरसों के खेतों पर *मायाविनि*
हलके-हलके-हलके।

—प्रभाकर माचवे, तारसप्तक, पृ० ५२।

(२) वही सत्य उस एक हँसी में उतरा है प्रयोग निखरा है।
जबकि नित्य जग के हाटक में मृषा आँसुओं का *बिक्रा* है।

—प्रभाकर माचवे, स्वप्न-भंग, पृ० २७।

(३) हम तो सबसे बड़े राष्ट्रवादी हैं, देशभक्ति-उद्‌गाता
कभी रूस की, कभी चीन की, अमरीका की *अस्तुति* गाता!

—वही, पृ० २३।

(४) तुम्हीं अपनी दामिनी मायाविनी की
लेखनी *अमरत्वदायिनि* से
उन्हें परसो।

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ५७।

(५) फूले अधखिले *कुमुदिनि* कुमुद के गौञ्छ

—कीर्ति चौधरी, कविताएं, पृ० १९।

(६) लावण्य सिमट आया था
भूमी का, झरनों का पानी बनकर।

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० २५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७) *प्रतीती* दे रहा यह नारियल परिवार

—वही, पृ० ४७।

(८) चीन देश की वसुधा अपने स्तन से दूध पिलाती उस टापू को
ज्वालामुखि मस्तक है जिसका

—नरेश मेहता, दूसरा सप्तक, पृ० १३५।

(९) धर्म-घृणा की इस ज्वाला में जले-भुने वे देव
स्वर्ग में मनुज धरा पर,
आज मात्र *शरणार्थि* बन गये।

—वही, पृ० १३७।

(१०) मरा पड़ा है एलवा बनकर मूक *समाधी*।

—वही, पृ० १४२।

(११) रह न पाये स्तम्भ पुल के नग्न
दूधिया पानी बना उसका रजत परिधान

—नागार्जुन, सतरंगे पंखोंवाली, पृ० ४७।

(१२) बाले दीप
चतुर *नारि* ने
पिय आगमन को।

—शमशेर बहादुर सिंह, दूसरा सप्तक, पृ० १०२।

(१३) मँजी गगरियों पर से किरणें घूम-घूम
छिपती जाती पनिहारिन के हाथों की *चुड़ियों* में

—रघुवीर सहाय, दूसरा सप्तक, पृ० १७१।

(१४) अगर अंगूर की परतें
प्रणय में निभ नहीं पातीं कभी इस तौर की *शरतें*

—धर्मवीर भारती, दूसरा सप्तक, पृ० १८७।

(१५) दिन भर *अधरम* करनेवाले,
पर नारी को ठगनेवाले;
पर *सम्पति* को हरनेवाले

—केदारनाथ अग्रवाल, युग की गंगा, पृ० २५।

(१६) *कानपूर* की सारी सत्ता—
श्रमजीवी की ही सत्ता है।
कानपूर की सारी माया—
श्रमजीवी की ही माया है !!

—वही, पृ० ३५।

छन्दों का बन्धन नहीं होने पर भी नई कविता के कवियों को लय की रक्षा के लिए शब्दों को तोड़-मरोड़ करना पड़ा है। यह इनकी सबसे बड़ी अक्षमता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्त्य प्रयोग

२१. नई कविता में ऐसे प्रयोगों की संख्या बहुत अधिक है जो हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल हैं अथवा व्याकरण के अत्यन्त साधारण नियमों की उनमें अवज्ञा है, अथवा शब्द-विवेक का अभाव या मात्र प्रमाद हैं।

पर रस की *प्यास नहीं सूखी* ।

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० २९।

'प्यास' में स्वयं सूखने का भाव है, इसलिए 'प्यास सूखना' प्रयोग खटकता है। 'प्यास मिटना' ही हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है।

एकाकियों की राह ?
वह भी है
मगर तब जबकि वह
सबके लिए *तोड़ी गई हो* ।

—वही, पृ० ५१।

'राह बनाना' ही हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है, 'राह तोड़ना' नहीं।

नदी की बाँक
***गोरी* चमक बालू की**

'उजली चमक' के लिए 'गोरी चमक' खटकता है।

क्योंकि तुमने *तुम्हारा* शेष कष्ट भोगने के लिए मुझे चुना :

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृ० ३६।

यहाँ 'तुम्हारा' अँगरेज़ी भाषा के प्रयोग के अंधानुकरण के कारण है। हिन्दी के अपने प्रयोग के अनुसार 'तुम्हारा' के स्थान पर 'अपना होता।'

ढेर महासभा जब जुटी यह खोजने कि सत्य तथागत का
***कौन-कौन* मत-सम्प्रदायों में बिला गया ?**

—वही, पृ० ४२।

मूल सार्वनामिक विशेषण 'कौन-कौन' के स्थान पर यौगिक सार्वनामिक विशेषण होना चाहिए था—'कौन-कौन' का विकारी बहुवचन रूप होता—'किन-किन'।

नारिकेलों पर थमे हैं
भाद्रपक्ष के मेघ कजरारे,
नील *आकाशे* खिंचे हैं
जलधुले नव क्षितिज उजियारे;

—नरेश मेहता, वनपाखी सुनो, पृ० २०।

अपने प्यारे को अगोरती
यौवन *द्वारे*
बाले दीप रे

—शमशेर बहादुर सिंह, दूसरा सप्तक, पृ० १०२।

इन दोनों उदाहरणों में हिन्दी के अधिकरण कारक का प्रयोग न कर संस्कृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अधिकरण कारक का प्रयोग कर दिया गया है ।

अनुक्षण;
अरे ओ क्षुद्र मन !
और तुम हमको
एक अपनी वाणी भी हो
सौंप नहीं सकते ?
सौंपता हूँ ।

—अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुए, पृष्ठ १६ ।

संयुक्त क्रिया 'सकते हो' का 'हो' 'सकते' से इतनी दूर है कि यह खटकता है ।

तुम्हें *अग्रिम बयाना*···

—रवींद्र भ्रमर, नयी कविता ५-६, पृ० २०५ ।

जिन्दगी करती रही *नीरव इशारे*
हम धनी थे शब्द के ।

—अज्ञेय, अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ३३ ।

दोनों उदाहरणों में विशेषण का निरर्थक प्रयोग है । 'बयाना' अग्रिम होता ही है और 'इशारा' भी नीरव ही होता है ।

मैंने बातें करीं ।

—शंकुत माथुर, नई कविता ५-६ पृ० २२८ ।

खड़ी बोली के अनुसार यह वाक्य इस प्रकार होगा । मैंने बातें कीं । 'कीं' के स्थान पर 'करीं' रख देने से एक फीलयाँवी वाक्य के अलावा और कुछ हासिल नहीं होता ।

स्याही के काँटे
घर-घर बोते फिरना,
खुद आग लगाकर
दूर *तमाशा तकना*,
मकड़ी-सा सब पर जाला ताने जाना ।

—कीर्ति चौधरी, कविताएँ, पृ० ६४ ।

'तमाशा देखना' प्रयोग चलता है । 'तमाशा तकना' में अनुप्रास का चमत्कार भले ही हो, अर्थ का कोई चमत्कार नहीं है ।

२२. नई कविता में शब्द प्रयोगों की ये कुछ प्रमुख दिशाएँ हैं । गहनतर अध्ययन से नई दिशाएँ खोजी जा सकती हैं और विकासमान नई कविता में सदैव खोजी जाती रहेंगी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो० धनञ्जय वर्मा

आचार्य वाजपेयी का निराला-विषयक विवेचन

हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी साहित्य की एक स्थूल सीमा-रेखा सन् '२० से सन् '४० तक मानी जा सकती है। इस अवधि में हिन्दी-काव्य में एक युगान्तर आया। इसका पहला दशक तो स्वच्छन्दतावादी जागरुक और चेतन-प्रयास की दृष्टि से प्रारम्भिक सूचनाएँ मात्र देता है और विशेषकर समीक्षा के क्षेत्र में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन का धनी नहीं है। इस दशक में प्रसाद, निराला, पन्त ने भले अपने काव्य की अभि-सूचना के लिए औपचारिक रूप से कुछ नई दृष्टि और सिद्धान्तों की बातें की हों, लेकिन उससे समीक्षा के क्षेत्र में किन्हीं निश्चित विचारों या पद्धति का उद्भव नहीं होता। वे सैद्धान्तिक या व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से प्रसंगवश ही महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी समीक्षा के इतिहास में और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के स्वरूप-निर्धारण की, दृष्टि से उनका उतना महत्त्व नहीं है, जितना अंग्रेज़ी के सन्दर्भ में कालरिज या वर्ड्सवर्थ की स्थापनाओं का। यह सच है कि उसने काव्य को नयी दृष्टि प्रदान की लेकिन समीक्षा का नया प्रतिमान या समीक्षात्मक विचारों की नई दिशा वह नहीं दे पाया। इसका एक कारण है। व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन कुछ विशिष्ट एवं नई धारणाएँ लेकर चला था। काव्य की द्वन्द्वात्मक, ऐतिहासिक और प्रतीकात्मक धारणा, एक आनुभविक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि और भावनात्मक स्वरूप उसके कुछ आवश्यक उपकरण थे जो पश्चिमी देशों में फलीभूत हुए। (हिस्ट्री ऑफ़ माडर्न क्रिटिसिज़्म : नेवेलेक : ३) लेकिन यह व्यापक आन्दोलन हर देश और साहित्य में एक ही गति, समय या प्रवृत्ति का द्योतक नहीं रहा। कालान्तर में इसका मौलिक स्वरूप अस्त होता गया और वह भावुक काव्य-सृष्टि एवं संकुचित राष्ट्रीयता का पर्याय और रहस्यवादी भूलभुलैयों का शिकार होता गया और अपने प्रारम्भिक दिनों में भारत और विशेषकर बंगला तथा हिन्दी में भी वह इन्हीं सन्दर्भों में देखा-परखा गया। इसीलिए जितना श्रम और जितनी प्रतिभा इन कवियों को अपनी सृष्टि एवं दृष्टि को प्रमाणित करने में लगानी पड़ी, उतनी वे समीक्षा की दृष्टि से मौलिक उद्भावना में न लगा सके। जहाँ तक समीक्षा की स्वच्छन्दतावादी धारणा का प्रश्न है, वह काव्य की स्वच्छन्दतावादी धारणा से किंचित् भिन्न है, यद्यपि उसका प्रतिमान वही काव्य है। व्यापक अर्थों में वह पुराने सारे प्रतिमानों के विरुद्ध खड़ी होती है। वह काव्य में भावों की अभिव्यक्ति और प्रेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सारभूत सत्ता का समादर करती हुई उसकी द्वन्द्वात्मक एवं प्रतीकात्मक धारणाओं को लेकर चलती है। उसे विरोधों का ऐक्य और प्रतीकों की निश्चित पद्धति पर विश्वास है और काव्य की भावुक अथवा रहस्यवादी व्याख्याओं से अलग शुद्ध सौन्दर्य के धरातल पर उसकी परख उसे मान्य है। हिन्दी में इस धारणा का स्वरूप आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी में प्राप्त होता है और इस क्षेत्र और दिशा में उन्होंने अकेले ही कार्य किया है और सन् '३०-'३५ के आसपास—अर्थात् उस आन्दोलन के दूसरे दशक में उनके निबन्धों में एक विशिष्ट विकासशील दृष्टि या पद्धति प्राप्त होती है और उनसे विचार और दृष्टि की एक निश्चित प्रणाली का समारम्भ होता है। सही अर्थों में स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का रूप हिन्दी में वही प्रस्तुत करते हैं, केवल इसीलिए नहीं कि उनका प्रवेश स्वच्छन्दतावादी कवियों और कविता के विवेचक के रूप में हुआ था, वरन् सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में उन्होंने हिन्दी समीक्षा को विचारों का एक निकाय और आस्वाद की एक परिभाषा दी, और समीक्षा की एक नई पद्धति और पूरी परम्परा के परिप्रेक्ष्य में एक नया संश्लेषण।

यह सच है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा में एक युग-प्रवर्तक का काम किया था और वह कई अर्थों में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी कहा जा सकता है। लेकिन उनकी दृष्टि शुद्ध साहित्यिक रही हो, ऐसा नहीं है। वर्णाश्रम-धर्म, लोक-मर्यादा, चरित्र, सुरुचि और नैतिकता का विचार शुक्लजी के आगे इतना अधिक था कि काव्य और काव्यमूल्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता में कम ही उभर पाए। फिर उनके समस्त मानदण्ड शास्त्रीय आधारों पर ही निर्भर थे और इस दृष्टि से उनका स्वरूप कुछ-कुछ नव्यशास्त्रवादी (नियोक्लासिकल) समीक्षकों से मिलता-जुलता है। परि-चयात्मक समीक्षा और टीका पद्धति वाली काव्य के भेदोपभेदों की निरूपक पद्धति वाली स्थूल दृष्टि और रसों तथा अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने वाले युग में शुक्लजी का काम कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। गुण-दोष-कथन से आगे बढ़कर उन्होंने आरोपात्मक और इतिवृत्तात्मक समीक्षा का अतिक्रमण किया और कवियों की विशेषताओं एवं उनकी अन्तर्प्रवृत्तियों की छानबीन की। लेकिन शुक्लजी की अपनी अपेक्षाएँ और आदर्श थे, जिन्होंने शुद्ध काव्यालोचन के मार्ग में कई बाधाएँ प्रस्तुत कीं। औदात्य की चिन्ता और लोकादर्शवाद सदैव उनके साहित्यिक को पृष्ठभूमि में डालता गया। उनमें विश्लेषण और ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से निराशा ही हाथ लगेगी। अन्तर्वृत्तियों की उनकी छानबीन भी किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित न होकर आचारवाद पर ही टिकी है और सच तो यह है कि उनका मनोविज्ञान भी आचार-शास्त्र का ही आनुषंगिक और पूरक है। वाजपेयीजी ने इससे भिन्न रास्ता अपनाया। ऐसा नहीं कि उन्होंने पूर्व परम्परा से विद्रोह किया हो। इस दृष्टि से हिन्दी का कोई भी साहित्यकार उस विद्रोह और प्रतिक्रिया के युग में भी परम्परा के प्रति विरोधी और विद्रोही दृष्टि लेकर नहीं आया। इसकी जो भी परिणतियाँ हुई हों, उनमें एक ऐतिहासिक चेतना का संयोग अनायास ही हो गया। वाजपेयीजी का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने शुक्लजी की स्थापनाओं और प्रकारान्तर से समस्त भारतीय परम्परा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को नये युग के अनुकूल काव्यात्मक धरातल पर उठा दिया और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा में भी उनका विचार कोरमकोर काव्यात्मक और कलात्मक है। इसमें पाश्चात्य प्रभावों ने चाहे जो योग दिया हो, वस्तुस्थिति इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी समीक्षा में काव्य की स्वतन्त्र सत्ता का वह प्राथमिक और पहला आख्यान है।

युग की पूरी काव्य-सृष्टि के अनुकूल वाजपेयीजी की समीक्षा पद्धति में कुछ ऐसे तत्त्वों का सन्निवेश हुआ, जिनका महत्त्व या उपयोगिता उस विशेष काव्य-सृष्टि के सन्दर्भ में एकांतिक है। हेतु और प्रेरणा की दृष्टि से साहित्य का प्रयोजन जब आत्मानुभूति माना गया तब उसी के अनुकूल और युग की व्यापक काव्य-सृष्टि के मौलिक स्वरूप(आत्माभिव्यंजना) के समानान्तर समीक्षा में भी कलाकृति के ही साथ व्यक्तित्व का भी महत्व बढ़ा। प्रसाद के काव्य को तो वाजपेयी जी ने उनके व्यक्तित्व का ही विकास माना है। प्रश्न उठता है कि यह व्यक्तित्व ही क्या काव्य है? काव्य में व्यक्तित्व तो केवल एक माध्यम, 'मीडियम' है और अन्ततः व्यक्तित्व का प्रकाशन ही काव्य नहीं होता। लेकिन वाजपेयीजी पहले व्यक्तित्व के परिचायक और विवेचक हैं, बाद में काव्य सौन्दर्य के विश्लेषक और परीक्षक। उनके लिए प्रत्येक कलाकृति एक व्यक्तिगत उत्पादन है, जो पूर्णतया नवीन और स्वतन्त्र होती है और अपने ही नियमों से शासित होती है। यह रचनात्मक समीक्षा का ही एक स्वरूप है जबकि समीक्षक किसी कृति की उपस्थिति में उसकी संवेदनाएँ अनुभव करता और सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ ग्रहण करता है और अन्ततः उन्हें उपयुक्त साधनों से व्यक्त करता और व्यापक धरातल पर उनका परीक्षण करता है। जब कोई भावगति या अन्तर्दृष्टि या बौद्धिक योजना उसे प्रभावित करती है तो उसे वह विश्लेषित कर एक व्यापक निकष पर उसकी सार्थकता और उपयोगिता प्रमाणित करता है। यह स्वच्छन्दतावादी कला के समानान्तर तो है ही, साथ ही स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की सामान्य धारणा से भी कुछ आगे और अतिरिक्त है। लेकिन इसे हम आत्माभिव्यंजना की कोटि का नहीं कह सकते, क्योंकि वह उसकी अतियों के शिकार से बची है और वाजपेयीजी की समीक्षा को हम प्रभाव और अभिव्यंजना, रचना और निर्णय का एक नया संश्लेषण मान सकते हैं। उन्होंने पहली बार हिन्दी में शास्त्रीय आधारों की आक्रान्ति को झकझोरकर उनसे मुक्ति पाई थी। व्यावहारिक समीक्षा में उनका उद्देश्य काव्य की व्यापक संवेदनीयता का उद्घाटन करना है। कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करके उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति के सारभूत अंश की व्याख्या करना उनका प्राथमिक कर्तव्य है। इस दृष्टि से काव्य के गहनतर अभिप्राय 'डीपर इम्पोर्ट' या उसकी 'निहित मनोभावना' की परीक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। यों आत्यन्तिक दृष्टि से वाजपेयी जी भी रसवादी ही ठहरते हैं, लेकिन उन्होंने रस को बौद्धिक और सैद्धान्तिक स्तर पर ग्रहण न करके उसे संवेदनीयता के व्यापक धरातल पर उठाया और उस संवेदनीयता को अनुभूति के द्वारा ग्रहण करना चाहा है। इस दृष्टि से रसास्वाद और सौन्दर्यमूलक आह्लाद का उनमें अच्छा समन्वय है। यह भारतीय और पश्चिमी समीक्षा-दृष्टियों का समन्वय है। अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में वाजपेयीजी का आदर्श काव्य-सौन्दर्य
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सर्वाङ्गीण अध्ययन और उद्घाटन है। कलाकार के मनोभावों और व्यक्तित्व के विकास पर उनकी नज़र पहले गई है और उसकी अन्तःप्रेरणा और चिन्तनधारा के अनुसन्धान तथा विश्लेषण पर बाद में।

इस क्षेत्र में उन्होंने अनुभूति की तीव्रता, गहनता और व्यापकता को काव्य की कसौटी माना है, किसी नैतिक सिद्धान्त या संस्कार या आदर्श का नियन्त्रण परोक्ष। 'भावना का उद्रेक, उच्छ्वास की परिष्कृति और प्रेरकता' ही उसके मुख्य मापदण्ड होंगे। वहाँ तो 'कवि द्वारा नियोजित प्रतीकों और प्रभावों का अध्ययन और अन्ततः कवि की मूल संवेदना और मनोभावना का उद्घाटन' प्राथमिक है और 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी,' जो उनकी व्यावहारिक समीक्षा का प्राथमिक और प्रतिनिधि ग्रन्थ है, मैं कलाकार की अन्तःवृत्तियों का अनुसन्धान एवं कलाकृति से उसके समन्वय के प्रति उनकी दृष्टि प्रधानतः रही है। वहाँ ये प्रभाव से विश्लेषण और विश्लेषण से संश्लेषण की ओर गए हैं। उनका प्रवेश हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों और उनके काव्य के विवेचक के रूप में हुआ था और इन विवेचनाओं में उनकी समीक्षा का प्रारम्भिक और प्रौढ़ रूप (भी) मिलता है। इनमें भी उनकी दृष्टि प्रधानतः प्रसाद पर केन्द्रित रही है और नई स्थापनाओं का समारोह तथा प्रमाणित करने वाली वकालत का अन्दाज़ उनमें सर्वत्र मिलता है। प्रत्येक समीक्षक का काव्य का एक अपना आदर्श अनायास बन जाता है। यह उसके सहज ज्ञान का परिणाम भी हो सकता है और इसके लिए न तो वह किसी पक्षपात का दोषी ठहराया जा सकता है और न ही समीक्षा की तटस्थ निस्संगता की इससे कोई क्षति होती है, बशर्ते कि यह आदर्श, व्यक्तिगत अभिरुचियों और धारणाओं से शाखित न होकर शुद्ध और व्यापक काव्य-प्रतिमानों का संश्लिष्ट रूप हो। वाजपेयीजी के काव्यगत आदर्श 'प्रसाद' कहे जा सकते हैं जो हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य के एक स्थायी प्रतिमान भी हैं—और परिणामतः समीक्षा में भी उसी समरसता सौन्दर्यवादी सन्तुलन और सामंजस्य तथा समन्वय को लेकर वे चले। उनकी समीक्षा विशाल और बहुमुखी काव्यानुभूतियों का स्वाभाविक संश्लेषण है।

वाजपेयीजी के कवि-विषयक विवेचन का यही आधार और स्वरूप है, जिसका ज़िक्र हम अभी कर आए हैं और निराला विषयक उनका विवेचन तो कई दृष्टियों से पहला, साहित्यिक और शुद्ध समीक्षात्मक प्रयास है। इसके पहले या तो निराला और उनके काव्य की विकृत आलोचनाएँ होती थीं, या उनकी कविताओं की पैराफ्रेज़िंग, (वह तो आज भी होती है) या फिर उन्हीं के शब्दों में "हिन्दी-भाषी जनता के साहित्यिक ज्योतिषियों ने कहानी वाले सात अन्धे भाइयों की भाँति, भाँति-भाँति से हाथी की हास्य-विस्मय-भरी रूपरेखाएँ बखान कीं, जिनसे निराला की अपेक्षा समीक्षकों की निराली सामुद्रिक का ही परिचय मिला।" वाजपेयीजी का निराला-विषयक विवेचन तीन छोटे-छोटे निबन्धों और कुछ प्रासंगिक चर्चाओं (जो संग्रह पुस्तकों में यत्र-तत्र बिखरी हैं) तक सीमित है। इनमें 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' का पहला निबन्ध उनके काव्य-विकास का एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है, दूसरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गीतिका' की रिव्यू है, और तीसरा निराला के उपन्यास और कहानियों पर लिखा गया है। निराला का कोई क्रमबद्ध अध्ययन या विवेचन वाजपेयीजी ने प्रस्तुत नहीं किया है, तब प्रश्न उठता है कि किसी कवि पर लिखे गए एक-दो निबन्धों और रिव्यूज़ का क्या महत्त्व ? क्या इनसे किसी कवि या काव्य की कोई स्पष्ट धारणा भी बन सकती है ? हमारा उत्तर है कि काव्य और साहित्य में महत्त्व परिमाण का नहीं होता, महत्त्व समीक्षात्मक बुद्धि और उन मूल्यों तथा प्रतिमानों का या उस मौलिकता या शक्तिमत्ता का होता है जो कोई व्यक्ति प्रस्तुत करता है। परिमाण की दृष्टि से तो विश्वविद्यालय की डिग्रियों के उत्सुक अधिकांश शोधकर्ताओं का महत्व अधिक होना चाहिए जिनमें दूसरी अपेक्षाएँ या तो न्यून होती हैं या होती ही नहीं। वाजपेयीजी के उन छोटे-छोटे निबन्धों का महत्त्व यही है कि आज भी उस युग के काव्य और कवियों का अधिकांश अध्ययन उन्हीं के आदर्शों, रूपरेखाओं पर हो रहा है और आए-दिन के शोध-ग्रन्थ उन्हीं की स्थापनाओं के विस्तृत रूप होते हैं। देखना यही है कि इन छोटे-छोटे निबन्धों में भी निराला की अन्तर्वृत्तियों का जो अध्ययन है, उससे निराला का जो रूप उभरता है, वह उनके प्रकृत रूप से कहाँ तक साम्य रखता है या उनके काव्य की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन के सौन्दर्य का कैसा उद्घाटन वहाँ हुआ है। इस दृष्टि से इस सीमित आकार में भी वाजपेयी जी ने निराला के काव्य-व्यक्तित्व की जो परख सामने रखी है वह अपने महत्त्व में एकान्तिक है।

निराला का सम्पूर्ण बहुमुखी और विशाल काव्य-सृजन, उसके बहुविध रूप जो आपस में मिलते नहीं, विरोधी भी हैं, उनके निस्संग, व्यापक और जागरूक कवि की अन्तर्वृत्तियों का पता देते हैं। यह विशेषता एक दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार की हो सकती है और वाजपेयीजी निराला को हिन्दी का प्रथम दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार मानते हैं। निराला की दार्शनिक वृत्ति और निस्संग व्यक्तित्व का ही कार्य था कि उन्होंने हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य को कोरी भावुकता और अतिरिक्त भावनामयता से बचाया और छायावादी भावोच्छ्वासों की कल्पनातिरेक और कोमल-कान्त पदावली में 'संग्रथित कला का संयम एवं परिष्कार' सन्निविष्ट हुआ। इसका कारण वाजपेयीजी के अनुसार निराला में भावना की अपेक्षा बुद्धितत्त्व की प्रमुखता है। राग और कल्पना की अपेक्षा यही तत्त्व निस्संगता लाता है, काव्य में 'रेजिस्टेण्ट क्वालिटी ऑफ़ मीडियम' संयुक्त करता है, परिष्कृति के प्रति जागरूक होता है और अपने ही सृजन की सीमा-संकोच के प्रति सचेत होकर विकास के द्वार खोलता है। बुद्धि-तत्त्व की यह प्रमुखता दो रूपों में उनके काव्य में देखी गई है। एक तो वर्णित विषय के भीतर से अभिव्यक्त कवि का तटस्थ, अस्खलित और निर्लिप्त व्यक्तित्व और दूसरे अभिव्यक्ति की प्रणाली में सौष्ठव, छन्दों की कसावट, पदविन्यास की सुघरता और शब्द-शक्ति तथा संगीत की परख—उनके बुद्धि-विशिष्ट कवि व्यक्तित्व की देन हैं। उनके गीतों की पृष्ठभूमि में देखें तो उनमें "जीवन के किसी एक अंश का अतिरेक नहीं है। उनमें व्यापक जीवन का प्रखर प्रवाह और संयम है। गति के साथ आनन्द और विवेक के साथ भी आनन्द मिला हुआ है।" कदाचित् इसीलिए वाजपेयीजी ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराला को 'आरम्भ से ही एकरस' माना है और उनका विश्वास था कि 'सम्भवतः अन्त तक वे एकरस ही रहेंगे'। आज उनकी इस मान्यता से हम सहमत नहीं भी हो सकते, क्योंकि निराला ने अपने विरोधी और पृथक्-पृथक् काव्य-स्वभाव से इसके विरुद्ध ही प्रभाव दिये हैं। उनका काव्य एकरस नहीं, मुख्तलिफ़ 'रसों' की परस्पर-विरोधी ज़मीन पर विकसित हुआ है। भले ही वाजपेयीजी के शब्दों में "एकाध नव-युग-प्रवर्तक की भाँति उन्हें समय-समय पर पट-परिवर्तन कर कई बार जीवन में मरण देखने की नौबत नहीं आई," लेकिन उनकी विविधता और व्यापकता, रहस्य और यथार्थ, समर्पण और अहं, क्लासिकल और समसामयिक आदि प्रवृत्तियाँ उन्हें 'एकरस' भी नहीं बनातीं। परन्तु इन सबकी पृष्ठभूमि में निराला की वही बुद्धितत्त्व की प्रमुखता सक्रिय है और लोग देखेंगे कि कवि व्यक्तित्व की यह परख कितनी सही है। यह कवि की अनुभूति से समीक्षक की तादात्म्य शक्ति और उसकी संवेदनीयता का प्रमाण है और निराला के काव्य तथा व्यक्तित्व को समझने की यही आधारशिला है। काव्यात्मा का यह विश्लेषण वाजपेयीजी की अपनी विशेषता है, जो उस युग में विरल थी।

निराला के जो मानसिक स्तर और उत्कर्ष उद्घाटित हुए हैं उनका ही व्यक्त रूप उनकी काव्यगत विशेषताओं में देखा गया है। निराला का छायावाद और रहस्यवाद उनकी दार्शनिक अभिरुचि का परिणाम है। उनका छायावादी स्वरूप—'विराट सत्ता और शाश्वत ज्योति' वाला रूप—उनके वेदान्ती अद्वैतवादी, ऐसे व्यक्तित्व की देन है जिसका दृष्टिकोण ही दार्शनिक है और जो बन्धनरहित, बाधारहित मुक्त आत्मा के अनुरूप मुक्त छन्दों में अभिव्यक्त हुआ है। इसी का दूसरा पहलू 'जड़ और जीव-जगत् में उसी शाश्वत ज्योति का प्रकाश देखना' है। यह दार्शनिक छायावाद का प्रायोगिक रूप है और पन्त या प्रसाद, शेली या कीट्स की प्रकृतिपरक छायावादी वृत्तियों से एकदम पृथक् है, क्योंकि इसकी रीढ़ भावना या कल्पना नहीं 'बुद्धि' है। निराला को रहस्यवादी भी कहा गया है, यही नहीं उनके 'काव्य का मेरुदण्ड ही रहस्यवाद' माना गया है, लेकिन उनका यह रहस्यवाद उनकी वृत्ति के अनुकूल बौद्धिक और दार्शनिक रहस्यवाद है जो हिन्दी और पश्चिमी सारे स्वच्छन्दतावादी कवियों से भी पृथक् है। यहां भी उनका 'मेटाफ़िज़िकल दृष्टिकोण' प्रमुख है। वह प्रसाद की शैली का रहस्य-वाद नहीं है जो सामान्य स्वच्छन्दतावादी कवियों के साधारण रहस्यवाद का स्वरूप है। प्रसाद का रहस्यवाद "दृश्यमान मानव-जीवन को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झाँकी देता है और वहाँ मानवीय प्रेम ही अपने उत्कर्ष में अलौकिक आध्यात्मिक छाया से सम्पन्न हो उठा है।" कवि की मानवीय अनुभूति के साथ न्याय करने के लिए ही वाजपेयीजी ने उस रहस्यवाद की आधारशिला मानव-जीवन-व्यापार पर रखी है, जबकि निराला का रहस्यवाद परोक्ष की रहस्यपूर्ण अनुभूतियों पर ही आधारित है। यों "शुद्ध परोक्ष के भी ज्योति-चित्र उन्होंने उपस्थित किए हैं और कला की दृष्टि से गीतिका के गीतों में लौकिक की अवतारणा अलौकिक स्तर से हुई है।" यह निराला के दार्शनिक व्यक्तित्व से समरस हैं और उनका लौकिक भी शुद्ध परोक्ष इसीलिए लगता है कि उनका वेदान्ती ऐसा मानता है और काव्य में उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिष्कार उसे यह उदात्त भूमि अनायास ही प्रदान कर देता है। यह उनके 'काव्य-निर्वाह' पर भी निर्भर करता है। वाजपेयीजी के यहाँ इस 'निर्वाह' का विशिष्ट अर्थ सन्दर्भ है। निर्वाह का तात्पर्य अनुभूति और अभिव्यक्ति के सारभूत अंश से होता है। जहाँ इन दोनों में सन्तुलन, सामञ्जस्य और समन्वय हो वहाँ निर्वाह की सफलता माननी चाहिए। निराला में यह हर कहीं है। इसी निर्वाह को प्रमाणित करने के लिए वाजपेयीजी ने उनकी रचनाओं की मौलिकता, शक्तिमत्ता तथा सृजन के कलात्मक सौष्ठव का विकासात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने निराला के विकास के तीन चरण माने हैं। पहला चरण मुक्त छन्द का है जिसमें उनका दार्शनिक छायावाद अपना स्वरूप निर्मित करता है, दूसरा चरण छन्दोबद्ध संगीतात्मक रचनाओं का है जहाँ उसका स्वरूप उभरकर सामने आता है और यह उनकी बौद्धिक विशेषता के अनुकूल कलात्मक संग्रन्थन और परिष्कार को ध्वनित करता है। तीसरा चरण गीत-रचना का है जहाँ बौद्धिक विशेषता कलात्मक परिपाक ग्रहण करती है और संयमित एवं तटस्थ व्यक्तित्व आलंकारिक बन्धनों को स्वीकार करके चला है। इन तीन चरणों के ही समानान्तर उनके काव्य की भी तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं, पहली बौद्धिक और दार्शनिक, दूसरी विशुद्ध प्रगीतात्मक और तीसरी आलंकारिकता-प्रधान उदात्त रचनाएँ। विकास के इन तीन चरणों और काव्य की इन तीन श्रेणियों के विभाजन से किसी को इन्कार नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनका आधार उन अन्तर्वृत्तियों की सक्रियता है जो वाजपेयीजी ने काव्यात्मा के विश्लेषण के दरम्यान निश्चित की हैं और कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन तो उसके समानान्तर ही हो सकता है, होना चाहिए।

और इसी के अनुरूप अभिव्यक्ति की प्रणाली भी होती है। निराला की एक कविता-विशेष के विषय में वाजपेयी का कथन है कि "वह व्यंजना विशिष्ट नहीं है और उसमें रस व्यंग्य नहीं, बल्कि वाच्य है।" या "निरालाजी ने अपनी बुद्धि-विशिष्ट रचनाओं को अभिधा शैली में और स्वच्छन्द छन्द में लिखा है।" इस "अभिधा विशिष्टता में जो अधिक स्पष्टता है वह उस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है" और उसी ने उनके काव्य में 'ओज के साथ सुकोमल सौहार्द्र' और 'विस्तृत आशय की अभिव्यक्ति' के साथ 'सुन्दर परिसमाप्ति और प्रकाश' भी दिया है। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या यह अभिधा की स्पष्टता, कथन की प्रत्यक्षता है? जहाँ तक विवेचित काव्य का प्रश्न है, उसमें वह प्रत्यक्षता नहीं मिलती जो निराला के परवर्ती काव्य की विशेषता है। निराला के स्वच्छन्दवादी—और विशेषकर छाया-वादी—काव्य रूप में कहीं भी उस प्रत्यक्षता या प्रखर स्पष्टता के दर्शन नहीं होते। वह अन्य कवियों की अभिव्यक्ति प्रणाली से भिन्न अवश्य है लेकिन छायावादी अभि-व्यक्ति की प्रत्यक्षता वहाँ भी है और 'क्लिष्टता' या 'दुरूहता' उनके इसी सायास कथन और अभिव्यक्ति के प्रति अतिरिक्त जागरूकता का परिणाम है। यह अनिवार्यतः एक बौद्धिक नियन्त्रण और संयम की देन है।

जहाँ तक रचना की रीतियों, शैलियों और बाह्याङ्गों के अध्ययन का प्रश्न है, वाजपेयी ने अपना विवेचन 'मुक्तछन्द' पर केन्द्रित किया है और निराला को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूलतः प्रगीत कवि माना है। इस सन्दर्भ में 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका और 'जनभारती' के निराला अङ्क में 'निराला के काव्य-रूप' निबन्ध द्रष्टव्य हैं। यद्यपि रीतियों और शैलियों का यह विवेचन परवर्ती है और तब तक निराला का काव्य अपने पूर्वरूप से बहुत भिन्न और विकसित हो चुका था, तथापि वाजपेयीजी की धारणा—कि निराला के आरम्भिक प्रयोग छन्द-सम्बन्धी थे—सही है। निराला का मुक्त छन्द काव्य की छन्दोगत सारी परतन्त्रता का निराकरण था। उसने काव्य को मुक्ति तो दी ही, साथ ही नये 'युगोपयोगी परिधान' से भी सज्जित किया। उन्होंने स्वयं 'मुक्त छन्द में लय की सुघरता' ला दी। मुक्त छन्द की इस आयोजना के कारण ही उनकी कविता में 'सुकुमार प्रसाधन, कल्पना की बारीकी और अनावश्यक आभरण नहीं हैं'। इसलिए "स्वच्छन्दता का जो अबाध स्वरूप निराला की रचनाओं में देखा जाता है, उसकी तुलना दूसरे कवि से नहीं हो सकती।" मुक्त छन्द की यह विवेचना किसी छान्दसिक धरातल पर विस्तार से नहीं हुई, फिर भी मूल धारणा की परख इसमें प्रखरता से मिलेगी। इसी परवर्ती विवेचन में निराला को मूलतः प्रगीत कवि माना गया है और निराला के पूरे काव्य-विकास को विभिन्न गीत-प्रकार और शैलियों के माध्यम से देखा गया है। उन्होंने समस्त काव्य की छः प्रगीत-श्रेणियाँ निर्धारित की हैं—पहली—गीत, जिसमें शृंगारिक, विनय और प्रार्थना के गीत, ऋतु-गीत, राष्ट्रीय-गीत, प्रगतिशील और सामाजिक गीत और प्रयोगात्मक गीत आते हैं। दूसरी श्रेणी लघु या दीर्घ प्रगीतों की, तीसरी व्यंग्य प्रगीतों की, चौथी उर्दू शैली के प्रगीतों की, पाँचवीं आख्यानक प्रगीत की और अन्तिम श्रेणी गीति-नाट्य की मानी गई है। इस प्रगीत सृष्टि में 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' आदि रचनाएँ भी परिगणित कर ली गई हैं और उन्हें वीरगीतों की भूमिका पर माना गया है। जहाँ तक 'मूलतः 'प्रगीत कवि' की धारणा का प्रश्न है, वह निराला का एक ही रूप है और उसके समस्त काव्य को 'प्रगीतात्मक' कहना समीचीन नहीं जान पड़ता। 'प्रगीत-काव्य' की उन्हीं की धारणा है कि उसमें "कवि की भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, उसमें किसी प्रकार के विजातीय द्रव्य के लिए स्थान नहीं रहता। प्रगीतों में ही कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिबिम्बित होता है। वह कवि की सच्ची आत्माभिव्यञ्जना होती है।" निराला के पूरे काव्य के साथ यह सही नहीं है और न ही उनका 'पूरा-काव्य' उनकी आत्माभिव्यञ्जना मात्र है। न तो प्रगीतों के अनुकूल वहाँ 'कोरमकोर' 'सब्जेक्टिविटी' मिलती है और न ही व्यक्तित्व की निजी भावना मात्र से उसका सम्बन्ध है। प्रगीतात्मक निराला का एक ही रूप हो सकता है, समग्र नहीं; आगे चलकर स्वयं निराला ने इस 'लिरिसिज़्म' से विद्रोह किया है।

वाजपेयीजी के निराला-विषयक विवेचन का यह समग्र और सम्पूर्ण रूप है, जिसमें उनकी व्यावहारिक समीक्षा की चेष्टाएँ सक्रिय हैं। इसमें उनका ध्यान मुख्यतः कवि की अन्तर्वृत्तियों, कलात्मक सौष्ठव और रचना की रीतियों एवं शैलियों के अध्ययन तक ही केन्द्रित रहा है। उनकी समीक्षा-सम्बन्धी 'सप्तसूत्रीय चेष्टाओं' में उपरोक्त तीन ही यहाँ प्रमुख हैं, शेष चार अधिक सक्रिय नहीं हैं। इसके कारण एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर जहाँ उनका विवेचन शुद्ध कलात्मक धरातल पर हुआ है वहीं उसकी व्यापकता और सम्पूर्णता में भी बाधा आई है। इस सन्दर्भ में वाजपेयीजी की ये पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हो उठती हैं—"यदि सामयिक हिन्दी में कोई ऐसा विषय है जो अन्य विषयों की अपेक्षा क्लिष्ट और दुरूह समझा जा सके, तो वह पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का विकास है। इस कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण में ऐसे परमाणुओं का सन्निवेश हुआ है जिसका विश्लेषण हिन्दी की वर्तमान धारणा-भूमि में विशेष कठिन क्रिया है।" कहना न होगा कि इस कठिनाई के प्रति जागरूक रहकर भी वाजपेयीजी का विवेचन उसका अतिक्रमण नहीं कर सका। दरअसल, वाजपेयीजी का विवेचन निराला के स्वच्छन्दतावादी, छायावादी एवं रहस्यवादी—और प्रगीत कवि रूप पर ही केन्द्रित रहा है और उनके इस पक्ष का जो विवेचन है वह अपने आपमें सम्पूर्ण और कई दृष्टियों से अन्तिम भी है। उनके इस रूप का विवेचन इतनी सूक्ष्म और शुद्ध समीक्षात्मक बुद्धि से और कहीं नहीं हुआ है। लेकिन ऐसा कोई एक ही वृत्त या केन्द्र नहीं है जिसे लेकर कहा जाए कि यह निराला है और यही निराला है। उनके व्यक्तित्व और काव्य में ऐसे विरोधी तत्त्वों का योग है जो हिन्दी के चिर-समन्वयवादी साहित्यकारों के लिए पहेली बन गया है। वे उनके व्यक्तित्व और काव्य के 'अन्तर्विरोध' के प्रति सचेत नहीं रह पाए और दरअसल युग की भूमिका में यह एक असाधारण घटना थी। केवल वाजपेयीजी ही नहीं, वरन् निराला के अन्य समीक्षकों (जो बहुत ही कम हैं) ने भी उनके एक ही पक्ष को प्रधानता दी है और उसे ही सम्पूर्ण निराला मान लिया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने उनमें प्रगतिशील तत्त्वों की प्रधानता देखी और व्यापक मानववादी या सामाजिक चेतना के कवि के ही रूप में उनके दर्शन किए। डॉ० बच्चनसिंह को उनमें केवल क्रान्तिकारी तत्त्व ही मिले और उन्होंने उसे ही उनका मूल स्वर मान लिया। निराला के काव्य और व्यक्तित्व के अनेक पहलू हैं जिनमें तात्कालिक दृष्टि से एकता का तारतम्य नहीं दीखता। वे विरोधी और पृथक्-पृथक् भी हैं। उनका आनुक्रमिक भूमिका पर अध्ययन किये बिना उस निहित 'अन्तर्विरोध' को नहीं समझा जा सकता, न उनके व्यक्तित्व, उनकी विचारणा या काव्य का समाहित चित्र मिल सकता है। वाजपेयीजी ने निराला के परवर्ती विकास और उनके उत्तर-छायावादी रूप पर कम ध्यान दिया है। इसका सम्भवतः कारण यह भी है कि १९३०-३५ तक तो वे प्रगीत-काव्य की विवेचना तक सीमित रहे आए और उसके बाद जब वे उस सीमित क्षेत्र से बाहर आए भी तो सारे काव्य और साहित्य की वृत्ति परिवर्तित हो चुकी थी। उत्तर-स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ जड़ जमाने लगी थीं और काव्य में प्रगतिवादी और प्रयोगवादी तत्त्व सक्रिय थे जो सैद्धान्तिक दृष्टि से वाजपेयीजी की मान्यताओं और आदर्शों से पर्याप्त भिन्न और पृथक् थे। पर ऐसा भी नहीं कि वाजपेयीजी ने निराला के अन्य रूपों या परवर्ती विकास पर ध्यान न दिया हो, लेकिन जिस स्वतन्त्र और विस्तृत विवेचन-विश्लेषण की वह अपेक्षा करता है, वह न कर पाए। उनकी संग्रह-पुस्तकों में निराला के इन विकासों का सन्दर्भ प्रासंगिक ही है और वे किसी धारा या प्रवृत्ति की चर्चा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत केवल औपचारिक विवरण मात्र रह गए हैं। इस परवर्ती विवरण में निष्कर्षों और निष्पत्तियों तक पहुँचने की शीघ्रता और व्यग्रता है। वहाँ विश्लेषण की वह प्रखरता, विवेचन की वह सूक्ष्मता और काव्य-विशेष के प्रति वह व्यापक संवेदना विरल होती गई है। उनके समीक्षक पर उनका अध्यापक हावी होता गया है और निराला-विषयक उनके यत्र-तत्र प्रकाशित सामयिक निबन्धों में विवरण और परिगणना की ही प्रधानता है। उनमें सरलीकरण और संक्षिप्तीकरण या स्पष्टीकरण की वृत्ति प्रधान है। इनमें और 'बीसवीं शताब्दी' के निबन्धों में एक पर्याप्त अन्तर और वैभिन्न है। वाजपेयीजी की वह मौलिक शक्तिमत्ता, प्रखर समीक्षक बुद्धि और प्रांजल विश्लेषक का वह स्वभाव इनमें खो-सा गया है, इसके बावजूद निराला-विषयक अग्रिम विवेचन आज भी उन्हीं के समीक्षात्मक आदर्शों और चेष्टाओं का मुखापेक्षी है। समकालीनता के कारण ही नहीं वरन् उस युग के काव्य की व्यापक संवेदनीयता के कारण, आज भी वे ही निराला के व्यक्तित्व और काव्य के अधिकारी विद्वान् ठहरते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशचन्द्र गुप्त

कामू की कला (१९१३-६०)

कामू अपनी प्रतिभा के शिखर पर थे, जब मोटर-दुर्घटना के कारण वे अकाल ही मृत्यु के शिकार हुए। मृत्यु के समय वे सैंतालीस वर्ष के थे, किन्तु युद्धोत्तर यूरोप के महत्वपूर्ण उपन्यासकारों में उनकी गणना थी और साहित्य में उनका व्यक्तित्व सुप्रतिष्ठित था। कामू ने युद्धोत्तर युरोप में मनुष्य के अनुभवों, संघर्षों और दुःख-भरे जीवन के सम्बन्ध में गहरी अनुभूति से लिखा था। परिमाण में कामू का साहित्य अधिक नहीं है, किन्तु उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने उपन्यास, नाटक, कहानियाँ और दर्शन-सम्बन्धी निबन्ध लिखे। अंग्रेज़ी में अनुवादित उनके उपन्यास, The Outsider, The Plague और The Fall, महत्वपूर्ण कलात्मक उपलब्धियाँ हैं। यही हम उनके कहानी-संग्रह, Exile and the Kingdom, उनके Caligula आदि नाटकों और उनके दार्शनिक निबन्धों, The Myth of Sisyphus और The Rebel के सम्बन्ध में कह सकते हैं। कामू सामाजिक हलचलों से अलग रहने की विचार-धारा में विश्वास न करते थे। सार्त्र और लुई अरागाँ के समान उन्होंने जर्मन विजय के बाद फ्रांस के विद्रोह में सक्रिय भाग लिया था। उन्होंने Combat नाम के एक दैनिक पत्र का सम्पादन किया था। सन् १९५७ में उन्हें सुप्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार मिला। ४ जनवरी १९६० को अनेक सफलताओं और उपलब्धियों से भरे कामू के जीवन का अन्त एक कार-दुर्घटना के कारण हो गया। यह घटना बहुत दुःखद थी, क्योंकि अनेक सम्भावनाएँ और आशाएँ मानवता को कामू के जीवन से थीं।

कामू अल्जीरियन-फ्रांसीसी थे। उन्हें मुक्त आकाश और खुले मैदानों से प्रेम था। वे सीधे-सादे विश्वासों के व्यक्ति थे। उन्होंने बाइबिल की कहानियों के समान सीधी और गहरी भावना से परिपूर्ण कहानियाँ लिखीं। सार्त्र की मांसलता, अविश्वास और उदासी से भरी कहानियों के वे बिल्कुल विपरीत हैं। कामू मनुष्य के प्रेम, दुःख और शोक के सम्बन्ध में सीधे लिखते थे। उनके पात्र ग्रीक ट्रैजिडी के नायकों के समान भाग्य से प्रताड़ित, धैर्यवान व्यक्ति होते हैं, जिनका विनाश अनिवार्य है। कामू उस अविश्वास और अनास्था का शिकार होने से बचे हैं, जिसने अनेक फ्रांसीसी लेखकों को ग्रसा है। युद्ध का संकट, अनेक विपत्तियाँ और वेदनाएँ, सड़ता और गलता हुआ जीर्ण समाज—इस अनास्था के मूल कारण हैं। कामू के पात्र पाँसे की गोटों के समान हैं; न वे भाग्य को चुनौती दे सकते हैं, न उसे बदलने में समर्थ हैं।

कामू अल्जीयर्स और ओरान के बारे में लिखते हैं, मरुभूमि की आँख झपा देने वाली धूप के बारे में, चमकते सागर और आकाश के सम्बन्ध में लिखते हैं जो उत्तरी अफ्रीका के क्षितिज हैं। कामू यथार्थवाद की क्लासिकल फ्रेंच परम्परा में अपने उप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यास और कहानियाँ लिखते हैं। वे सत्य के प्रति निष्ठा से लिखते हैं, न कुछ छिपाते हैं, न बढ़ाकर कहते हैं। उनके ब्रुश के आघात बाल्जाक अथवा टॉलसटाय की कला के समान क्रमशः घने होकर शक्ति ग्रहण नहीं करते। वे सीधी-सादी कथा कहते हैं, अलंकार-रहित, जिसमें वे जीवन और मनुष्य-सम्बन्धी अपने विचारों का सार व्यक्त करते हैं। उनका अन्तिम जीवन का चित्र संश्लिष्ट नहीं होता, उनके कैन्वैस पर पात्रों की भरमार नहीं होती। वे उपन्यास की अपेक्षा लम्बी कहानी लिखते हैं, लेकिन जो कुछ भी वे लिखते हैं, वह मानवता का रूपक होता है। प्राचीन धर्म-कथाओं के समान अर्थ-पूर्ण और सार-गर्भित उनकी कहानियाँ होती हैं। इन कहानियों में गहरी भावना, व्यंग्य और नाटकीय तत्व रहते हैं।

The Outsider, The Plague और Exile and the Kingdom शीर्षक कहानियों में उत्तरी अफ्रीका का संपूर्ण प्राकृतिक सौन्दर्य वैभव प्रकट हुआ है। कामू का एक निबन्ध, 'अल्जीयर्स में ग्रीष्म' आल्हाद से भरा गद्य-काव्य है। इस निबन्ध में हमें विशाल सागर, जलती हुई धरती, झुलसाने वाली धूप और मुक्त, खुले देश की झलक मिलती है। The Outsider में हमारे नेत्रों में 'नीला और सुनहरा' आकाश भर जाता है। सभी कहीं हम 'धूप से निखरी' भूमि देखते हैं। 'अल्जीयर्स में ग्रीष्म' में 'प्रत्येक सड़क के अन्त में सागर है, धूप का प्रसार है, जाति का सौन्दर्य है। 'अल्जीयर्स' 'मुख अथवा घाव' की भाँति आकाश की ओर खुला है। इसकी तुलना में पैरिस "मटमैला-सा नगर है। यहाँ कबूतरों की भीड़ें और अँधेरे-भरे आँगन हैं। यहाँ नागरिकों के मुँह निचुड़े हुए, रक्तहीन लगते हैं।"

कामू के पात्र बहुधा निष्क्रिय होते हैं। उन्हें जीवन की विषमताओं और दुःखों का ज्ञान है, किन्तु उनके मन में किसी ध्येय के प्रति लगन नहीं है। वे अपने भाग्य के सामने एक विचित्र उदासी से सिर झुकाते हैं। उनके मन में कोई उमंग नहीं। कामू का एक प्रमुख पात्र, मेरसू, मानो यह भी नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है। वह जीवन की क्रियाएँ बिना किसी लगाव या उत्साह के पूरी करता है, मानो वह अचेतन हो। मेरसू किसी भी चीज़ में दिलचस्पी नहीं रखता। न उसके मन में अपनी माँ के प्रति प्रेम है, न अपनी प्रियतमा के। न वह प्रेम की भावना का आदर करता है, न स्वप्न-नगर, पैरिस का। उसके मन की सभी भावनाएँ जैसे जलकर राख हो गई हों। वह अभिशप्त मानव है, उनमें जो सभ्यता की अन्तिम सीमा पर रहते हैं। सिरिल कोनौली के अनुसार मेरसू नया 'पैगन' (Pagon) है, भूमध्यसागर के मनुष्य की पुनरावृत्ति, जैसा वह कोरिन्थ या कार्थेज या एलिक्ज़ाड्रिया या तार्शिश में था, जैसा वह आज कैसा ब्लांका अथवा दक्षिण कैलिफोर्निया में है—धूप और सागर का प्रेमी जीव, इन जटिल भावनाओं से मुक्त जो सभ्यता का अभिशाप है, 'पेगन' (Pagon), मूल्यों से रहित संस्कृति का पुष्प।'

मेरसू के सिलसिले में अरब पक्ष की कामू पूर्णतयः उपेक्षा करते हैं, यह भी कोनौली का अभियोग है। मेरसू अमरीका के ग़रीब गोरों की भाँति है। वह जीवन की परिधि पर रहता है और उसकी जड़ें धरती में जमी नहीं है। भाग्य ने उसके साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रूर हास्य किया है और वह आश्चर्य-चकित और परेशान है। कामू मेरसू का बड़ा प्रभावोत्पादक चित्र खींचते हैं। वे उसे सम्पत्तिहीन गौरांग के रूप में अंकित करते हैं। अरब पक्ष की चर्चा करते हुए कोनौली कहते हैं : "कामू कथानक के दूसरे त्रस्त पात्र के चित्रण में संवेदना की कमी प्रदर्शित करते हैं। जिस मूअर (Moor) लड़की का प्रेमी उसे पीटता है और जिसका भाई उसका बदला लेते हुए मारा जाता है, उसे कामू बिल्कुल भूल जाते हैं। वह भी शायद जीवन से उतना ही प्रेम करती हो; उसका हत्या किया हुआ भाई भी जीवन से शायद लगाव रखता हो। वे भी औपनिवेशिक व्यवस्था के लिए विजातीय थे। नई 'पेगन' दृष्टि भी नारी के प्रति उतनी ही अकृपालु है, जितनी पुरानी 'पेगन' दृष्टि थी।"

कामू ने और भी अनेक दुःखी पात्रों की सृष्टि की, जो धैर्य से भाग्य के निष्ठुर प्रहारों को सहते हैं। वे उन प्राणियों की भाँति लगते हैं जो एक विचित्र संसार में अपने को पाते हैं और अपराधी अनुभव करते हैं। 'अतिथि' शीर्षक कहानी में एक अरब पात्र है, जो अन्याय के सामने सिर झुकाता है और पाई हुई स्वतन्त्रता के प्रति उदासीन रहता है। कामू के पादरी भी इतनी ही उदासीनता दिखाते हैं। The Renegade शीर्षक कहानी में पादरी पर बर्बर अत्याचार होते हैं, किन्तु उसके हृदय में कोई रोष नहीं है। पादरी इस विश्वास का शिकार है कि क्रूरता और अन्याय के विरुद्ध मन में क्रोध न होना चाहिए। 'अतिथि' में अरब पात्र दास के समान शासकों के सामने सिर झुका देता है।

'प्लेग' में अवश्य मनुष्य इस क्रूर रोग के विरुद्ध साहसपूर्वक संघर्ष करते हैं। इस उपन्यास में ओरान नाम के नगर पर युद्ध के विध्वंस के बाद इस रोग के भीषण हमले का अध्ययन है। किन्तु इस उपन्यास में भी बड़ी उदासीनता से मनुष्य इस आक्रमण का सामना करता है। जब प्लेग का बल कम होता है, तो भी मानो वह थका शत्रु है, पराजित शत्रु नहीं। उपन्यास के नायक, डॉक्टर रयू (Riux) इस उदासीनता के प्रतीक हैं। वे एक उदास और दयनीय प्राणी हैं और कैसावियानका के समान जलते हुए 'डैक' पर वीरतापूर्वक खड़े रहते हैं। रेमों रॉबेयर प्लेग के विषय में कहता है : 'उन लोगों की स्मृति में, जिन्होंने यह सब देखा, प्लेग के भीषण दिन लपलपाती लपटों के समान न थे जो आकाश को आलोकित करती हैं, सर्वभक्षी हैं और बुझाई नहीं जा सकतीं। वे किसी राक्षसी शक्ति की मन्द निश्चित गति के समान थे, जो अपने पथ में सब कुछ कुचलती हुई बढ़ती है।"

कामू के कैन्वैस पर, जो गोगाँ के चित्रों के समान उदास आँखों वाले व्यक्तियों से भरा है, डॉ० रयू ही सबसे अधिक सक्रिय और वीर पुरुष हैं। लेकिन रयू भी उदास व्यक्ति हैं, जो जीवन के आगे नतशिर हैं और जिनके मन में विद्रोह और प्रतिशोध की कोई चिनगारी नहीं है। लेखक और चित्रक की हैसियत से कामू मृत्यु के विचार से त्रस्त हैं। वे इसके विरुद्ध दार्शनिक विचार प्रस्तुत करते हैं, किन्तु निरुत्साह से। इस संघर्ष में उनका मन उमंग से खाली है।

कामू का साहित्य मूलोच्छेद संसार के प्रति अविश्वास की अभिव्यक्ति है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सम्यता की सम्पूर्ण कुटिलताओं, विभीषिकाओं और असफलताओं पर उन्होंने मर्म-प्रहार किया है। 'प्लेग' में औपनिवेशिक फ्रांसीसियों के जीवन का चित्र वे इस प्रकार खींचते हैं : "हमारे नागरिक कठोर श्रम करते हैं, लेकिन केवल समृद्धि की आशा से। उनकी मुख्य दिलचस्पी व्यापार में है, और जीवन में उनका मुख्य ध्येय भी यही है। स्वभावतय: वे प्रेम-क्रीड़ा, समुद्र-स्नान और सिनेमा देखने के समान सीधे-सादे सुख पसन्द करते हैं, किन्तु इन्हें वे शनिवार की शाम और रविवार के लिए सुरक्षित रखते हैं और शेष सप्ताह वे जितना भी हो सके, उतना धन अर्जन करने में लगाते हैं। शाम को, दफ्तर छोड़ने के बाद, वे रेस्त्राँ जाते हैं, एक ही मार्ग पर सैर करते हैं, या अपने बारजों में हवा खाते हैं। इस आमोद के समय में कभी कोई व्यतिक्रम नहीं होता। तरुणों की भावनाएँ तीव्र किन्तु क्षणभंगुर होती हैं। वृद्धों के आमोद-प्रमोद 'बोल्स' के खेल, दावतें, मिलने-जुलने और क्लबों तक सीमित हैं, जहाँ एक ताश का पत्ता गिरने पर बहुत-सी धन-राशि इधर-से-उधर हो जाती है।"

The Renegade का पादरी यूरोप के ऊब भरे जीवन से थककर जंगली स्थानों में जाता है। यूरोप के "असभ्य पिता, गँवार माँ, शराब, सूअर के गोश्त, लम्बे शीतकाल, ठंडी हवा, उड़ती बर्फ" और 'कँटीली घासों' से वह ऊब गया है। आखिरकार वह 'धूप में, ताज़े जल के साथ' जीवन बिताने चल देता है।

The Fall भी आधुनिक सयम्ता पर एक तीव्र व्यंग्यात्मक कथा है। यह एक लम्बे स्वगत् कथन के रूप में ढली है। इसका प्रमुख पात्र, ज़ाँ क्लेमांस, पहले पैरिस में बैरिस्टर था और अब एम्सटर्डम के रेस्ट्राँओं में और सागर-तट पर विचरता है। इस लम्बे अन्तर्कथन के माध्यम से कामू आधुनिक तथाकथित सभ्य मानव की दुर्बलताओं और कुकर्मो, उसके खोखलेपन और कामुकता का पर्दाफ़ाश करते हैं। The Fall में कामू युद्धोत्तर पीढ़ी पर आरोप लगाते हैं कि वह जीवन से नहीं, मृत्यु से प्रेम करती है। वे कहते हैं : "शायद जीवन से काफ़ी प्रेम नहीं करते? क्या तुमने यह देखा है कि मृत्यु ही हमारी भावनाओं को जगा पाती है। जो मित्र हमसे विदा ले चुके हैं, उनसे हमें कितना प्रेम है? हम अपने उन शिक्षकों की कितनी प्रशंसा करते हैं, जिनकी वाणी मौन हो चुकी है, जिनके मुख अब मिट्टी से भरकर बन्द हैं!"

The Renegade के समान The Fall भी अन्तर्कथन की टेकनीक पर कामू के अधिकार का प्रमाण है। इससे सिद्ध होता है कि एक ओर तो उन्होंने Defoe और यथार्थवाद के फ्रांसीसी गुरुओं की परम्परा को आत्मसात कर लिया था, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने प्रुस्त आदि महान कलाकारों की उपलब्धियों की अवहेलना नहीं की। इन कलाकारों ने 'चेतना का प्रवाह' टेकनीक का विकास किया। इस शैली के तत्त्व हम कामू की कला में पाते हैं।

साधारणतय: कामू सीधी-सादी, स्पष्ट शैली में कथा कहते हैं। वे अनलंकृत कथा कहते हैं, जो भावों की गहनता और नाटकीय तत्त्वों से पाठक को प्रभावित करती है। कामू की शैली में महाकाव्यों और बाइबिल के गौरवशाली तत्त्व हैं। इस शैली में मर्मस्पर्शी सादगी से भरी सुन्दरता है। इसके चित्रों में तेज है और प्रकृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन अफ़्रीका के सूर्य के समान हमें चकाचौंध करते हैं। कामू के वाक्य हृदय पर कठोर आघात करते हैं और उसे अपने चाक़ू से तराशते हैं। जिन (एक शराव) के लिए वे कहते हैं : "यह हमारे अन्दर एक सुनहरी, ताँबे के रंग का प्रकाश जगाती है।" पैरिस के दो व्यसन हैं : 'विचार और कामुकता'। शैली की तुलना वे 'शुद्ध-रेशम' से करते हैं, जो "बहुधा खाल को ढँके रहता है !"

आधुनिक उपमाओं का वे सशक्त प्रयोग करते हैं। The Plague में वे चूहों के खिलाफ़ आन्दोलन का इस प्रकार वर्णन करते हैं :

"अपने अंग से मशीन-गन के समान गड़गड़ाहट करता हुआ मूषक-विरोधी यान आगे बढ़ रहा था।"

कामू के चित्रों में सूर्य का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह हमारे "नेत्रों में घूंसे के समान लगता है"। बाहर मानो "भट्टी जल रही है और धूप रेत और समुद्र पर टूटकर अग्नि के वनों में बिखर रही है।" The Outsider में मेरसू को अपने मस्तिष्क पर केवल सूर्य के मंजीरों के आघात की चेतना है और "इससे कुछ कम स्पष्ट चाक़ू से प्रकाश के तेज़ फलक के कौंधने की, जो उसके पलकों पर घाव कर रहा था और मानो उसकी पुतलियों को निकाले ले रहा था।" ऐसे समय उसने अरब के तन में अपना पिस्तौल खाली किया था। रात के सन्नाटे में कुत्ते के क्रन्दन का कामू इस प्रकार वर्णन करते हैं : "नींद से भरे घर में क्रन्दन का स्वर मन्द-मन्द उठा, जो मानो मौन और अन्धकार से फूल के समान उग रहा हो।"

कामू के साहित्य में प्रकृति के अनेक सुन्दर वर्णन हैं। यह उनकी कला में नक्षत्रों की जगमगाहट-सी भर देते हैं। "हॉलैण्ड एक स्वप्न है महोदय, स्वर्ण और धुएँ से भरा स्वप्न···दिन में अधिक धूमिल, रात में अधिक सुनहला। और रात-दिन वह स्वप्न ऐसे ही जीवों से भरा रहता है, जो ऊँचे हैन्डिल वाली अपनी काली साइकिलों पर मानो स्वप्नावस्था में घूमते हैं। यह काले शोकित हंसों के समान पूरे देश में, समुद्र में, नहरों के जल में बहते रहते हैं। ताँबे के रंग के बादलों में सिर किए वे सपने देखते हैं···"

युद्धोत्तर यूरोप के मरण और विनाश से उबरने का मार्ग कामू खोजते हैं। वे यूरोप से ऊब गए हैं, अतीत के शोर-गुल से भरे उसके नगरों से। यहाँ हम "शताब्दियों का, क्रान्तियों का, ख्याति का मद-भरा नर्तन अनुभव कर सकते हैं।" वे पैरिस से थक गए हैं, जो "बहुधा हृदय के लिए मरुभूमि के समान" होती है ! कामू अफ़्रीका की ओर मुड़ते हैं, जो ताज़े जीवन और तरुणाई से भरा महाद्वीप है। किन्तु कामू, जो नए 'pagan' हैं, अफ़्रीकी मानव की आशाओं और उसके सपनों के प्रति अन्ध-बधिर हैं। वह यूरोप से अपने साथ ह्रास और मरण की गन्ध ले जाते हैं। वे 'पश्चातापी-विचारक' बने रहते हैं; उनका मन गहरी निराशा और परिताप से भरा है। वे अपने साथ यूरोप लिए अफ़्रीका आते हैं, और अनेक दुःखद स्मृतियाँ और तीव्र-वेदना लेकर आते हैं।

कामू विद्रोह में विश्वास करते हैं, क्योंकि इसका अर्थ होता है, "मृत्यु के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरुद्ध एक लम्बा विरोध"। विद्रोह 'जीवन की ही गति' है और "बिना जीवन का परित्याग किए इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता;" कामू की दृष्टि में मध्यम मार्ग का आदर्श क्रान्ति और नाशवाद के बीच में है।

The Myth of Sisyphus में कामू 'आत्मघात की समस्या का हल' खोज रहा था। The Rebel में वह मृत्यु की समस्या का विश्लेषण कर रहा था। जीवन के प्रति सिसिफ़स के अनुराग ने उसे श्रम का दण्ड दिया, ऐसा श्रम जिसका फल कुछ भी नहीं। कामू के अनुसार "पृथ्वी को भावनाओं का यही मूल्य चुकाना होता है।"

कामू के अनुसार विद्रोह मानवता की 'आवश्यक दिशाओं' में है, किन्तु कामू जीवन की परिस्थितियों के विरुद्ध आध्यात्मिक विद्रोह के पक्ष में हैं। उनकी शिकायत है कि "सभी आधुनिक क्रान्तियों ने राज्य की शक्ति में वृद्धि की है।" कामू यह समझने में असमर्थ है कि आज प्रकृति की शक्तियों पर मनुष्य के अधिकार के साथ यह आवश्यक हो गया है कि समाज को हानि पहुँचाने की व्यक्ति की क्षमता पर रोक लगाई जाए। इस प्रकार शक्ति का झुकाव सामूहिक रूप की ओर होगा। साथ ही समाज की निरंकुशता के विरुद्ध भी मनुष्य रक्षा के उपाय खोजता है। स्वतन्त्रता का स्वच्छन्दता की दिशा में पतन न होना चाहिए। कामू का आग्रह है कि वे 'रोमैन्टिक' नहीं हैं और 'नियम और व्यवस्था की आवश्यकता' में उनका विश्वास है।

'सिसिफ़स की दन्तकथा' के एक निबन्ध में कामू, कम-से-कम व्यक्ति के रूप में, समाज के प्रति कलाकार का दायित्व स्वीकार करते हैं। वह कहते हैं। "कलाकार होने के नाते शायद हमें संसार के धन्धों में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु मनुष्य के नाते ज़रूर···इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम अपने कलाकार स्वभाव का बलिदान इस या उस प्रचार के हित में करें। किन्तु यदि हम मनुष्य के रूप में ही हस्तक्षेप करते हैं, वह अनुभव हमारी भाषा को भी प्रभावित करेगा ही।" इस स्थापना का सार वह एक ही वाक्य में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं: "हमें एक साथ ही पीड़ा और सौन्दर्य की सेवा करती है।"

कामू की कला की अपनी सीमाएँ हैं। कामू विश्व के महान उपन्यासकारों के साथ—डिकिन्स, बाल्ज़ाक और टॉल्सटॉय की पंक्ति में—शायद न बैठें, किन्तु उनका साहित्य ज़ोला, मोपासाँ, फ़्लोबेयर और प्रुस्त आदि, फ्रांसीसी यथार्थवाद के पोषकों की परम्परा में एक नई अमूल्य कड़ी अवश्य जोड़ता है। उनकी सृजनात्मक प्रतिभा शायद उच्चतम् कोटि की न हो, किन्तु उसमें गहराई और ज्ञान की कमी नहीं है। उनका 'कैन्वैस' छोटा है, किन्तु उनके जीवन-अनुभव में तीव्रता और मार्मिकता दोनों हैं। अपनी कला के माध्यम से वे जीवन के अनेक आधारभूत प्रश्न उठाते हैं, किन्तु उनकी कला में विस्तार और व्यापकता का अभाव है। The Outsider में अपनी भूमिका में शायद सिरिल कोनौली यही संकेत करते हैं। वह लिखते हैं—"शीघ्र ही कुछ-न-कुछ अवश्य होना पड़ेगा और मनुष्य के लिए हर्ष, दया और न्याय का एक नया धर्म लाना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णविहारी मिश्र

मानस का समाज-दर्शन : कुछ तत्त्व

समाज-दर्शन की चर्चा करने के पूर्व समाज की रचना पर विचार करना अनिवार्य है। मानव-समाज पशुओं की प्रवृत्तिगत सामूहिकता से भिन्न है। न उसे मानव-पशु के अहं को नमित करने और उसकी स्वार्थ-भावना को संयमित करने के उद्देश्य से बाह्य रूप से आरोपित तन्त्र ही स्वीकार किया जा सकता है। वास्तव में वह मानव की भावनाओं, आकांक्षाओं और मूल्यों को उत्पन्न और अभिव्यक्त करने वाला एक परिवर्तनशील माध्यम है। प्रत्येक व्यक्ति में समाज सदैव वर्तमान है। केवल व्यक्ति ही समाज का अंग नहीं है, समाज भी व्यक्ति का अविभाज्य अंश है। व्यक्ति के मानसिक जीवन में सदैव ही कोई अन्य उपस्थित रहता है। आदर्श के रूप में, वस्तु के रूप में, सहायक अथवा शत्रु के रूप में।

अतः व्यक्ति समाज को अपने में समाविष्ट करता है, अन्यों के समक्ष उसे अभिव्यक्त करता है और उत्तराधिकार के रूप में भावी सन्तति को प्रदान करता है। वह उसका परिवर्धन एवं उसकी श्रीवृद्धि करने के साथ-साथ उसकी नव-रचना भी करता है।[1]

मनुष्य अपने मूल्यों की परिभाषा, विद्या तथा उनकी पूर्ति की आधारभूत परिस्थितियों के लिए समाज पर ही निर्भर है। समस्त मूल्य सामाजिक उत्पत्तियाँ हैं क्योंकि मनुष्य की समस्त इच्छाएँ समूहों और संस्थाओं के द्वारा ही पूर्ण होती हैं। किसी अनुभव, भावना या व्यवहार का मूल्यांकन उस परिस्थिति के सम्यक् अध्ययन पर आधारित है जिसमें वह घटित होता है। समूहगत जीवन में वैयक्तिक निष्ठाओं की घनिष्ठता एवं तज्जन्य पारस्परिकता के व्यवहार से ही न्याय, सहानुभूति और प्रेम जैसे गुणों की उत्पत्ति हुई है। सामाजिकता और नैतिकता का प्रारम्भ ही उस पारस्परिकता के सिद्धान्त से होता है जो शक्ति के अधिकार के पाशविक नियम को अपदस्थ करता है।[2] नैतिक मूल्यों में अधिकार और कर्तव्य साथ-साथ संलग्न हैं क्योंकि अनिवार्य कर्त्तव्यों से शून्य निष्कंटक अधिकारों का उपभोग किसी अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ समाज में ही सम्भव है न कि इस समाज में, जहाँ व्यवहारगत अनुकूलता के यान्त्रिक रूप से उसकी आधारगत स्थिति को प्रथक नहीं किया जा सकता।[3] आर्थिक

---

1. Man, Morals and Society, Flugel, P. 242
2. Problems of Systematic Psychology—C. H. Griffith. P. 246
3. Croce-Politics & Morals "There is no moral life unless Economic & Political life is first established, as the ancients used to say first 'the living' and then the 'good living'.' P. 24

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और राजनीतिक जीवन की स्थापना के पश्चात् ही नैतिक जीवन का उदय होता है।[1]

नैतिक मूल्यों के विकास और उनकी संस्थिति में भाषा का महत्त्वपूर्ण योग है। भाषा मनुष्य के व्यवहार के साथ प्रशंसा और निन्दा का भाव संयुक्त कर नैतिक स्वभाव और शिष्टाचार का निर्माण करती है। भाषा के द्वारा ही नैतिक मूल्यों और सदाचारों की परम्पराओं का सृजन होता है क्योंकि भाषा जहाँ एक ओर भविष्यत् पीढ़ी को सामाजिक दृष्टि से औचित्यपूर्ण एवं स्वीकार्य-व्यवहार के चयन की क्षमता प्रदान करती है वहाँ दूसरी ओर उसके महत्त्व को प्रतिपादित करने की शक्ति भी देती है। सदाचार से यथेष्ट स्तर तक न पहुँच सकने वाले व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार को निन्दित और अस्वीकृत करने का साधन भी भाषा ही है। मनुष्य की अनुभवों और मूल्यों की निर्धारण-शक्ति प्रतीक-परम्परा, कला और भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त साहित्य के रूप में परिणत होकर समाज को सभ्यता के उत्तरोत्तर उच्च स्तर की ओर ले जाने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती है। साहित्य में समाविष्ट यह शक्ति वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक हित के मध्य चलने वाले अन्तर्विरोधों में सामंजस्य स्थापित करने का भी उपक्रम करती है।

भारतीय साहित्य इन प्रक्रियाओं का उत्तम उदाहरण है। भारतीय संस्कृति के उषाकाल से ही इस साहित्य में भारतीय समाज के महान् आदर्शों की सशक्त अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। वेदों में सामाजिक औदार्य, सहिष्णुता और सहयोग के भाव बहुलता से विद्यमान हैं।[2] उपनिषदों में वैदिक कर्मकाण्ड के अतिशय वाह्याडम्बर के विरुद्ध समाज की व्यापक प्रतिक्रिया और असन्तोष का परिचय मिलता है।[3] सामाजिक गतानुगतिकता और अन्धविश्वास का विरोध भी उनमें उपलब्ध है।[4] रामायण तो इस राष्ट्र के उन आदर्शों की महागाथा ही है जो तत्कालीन युग में पारिवारिक तथा सामुदायिक स्तरों पर लक्षित होते हैं। उदाहरणार्थ राम के राज्याभिषेक के

---

१. (क) समानी वा आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानयस्तु वो मनो यथा वः सुहासति॥
ऋक्० मं० १०, सूक्त १६१, मन्त्र ४।
(ख) संगच्छध्वं, संवदस्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवमांग यथा पूर्वे संजानानां उपासते॥
ऋक्—मं० १७, सूक्त १६१, मन्त्र २।

२. The most leading ideas which we find throughout the Upnishadas are (i) negatively the abandonment on the supression of objective sacrifice and (ii) positively the doctrine that Knowledge can take its place. "Hinduism—A. C. Bonquet D. D., lecturer, Cambridge University, P. 54.

३. अविधायामन्तरे वर्तमानः स्वयधीराः पंडितमन्यमानाः।
जघन्यमाना पन्ति मूढ़ा अन्धेनेव नीयमानाः यथान्धाः॥
मुण्ड कोपनिषद (१. २. खण्ड ८१ श्लोक)

४. नानानगर वास्तकान्प्रथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानाम्पृथ्वीपतिः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसंग में जनमत और लोक-सम्मति की शक्ति का परिचय मिलता है। अभिषेक के लिए चक्रवर्ती सम्राट् नगरों और जनपदों के प्रधानों की सम्मति और अनुमति मांगते हैं।[१] महाभारत में कर्ण के तेजस्वी एवं स्वाभिमानी चरित्र में मिथ्या-कुल-प्रतिष्ठा के विरुद्ध हुंकार है। गीता ने जिस कर्म का सन्देश दिया है वह लोक-संग्रह से पृथक नहीं है।[२] मनुष्य ही क्यों, समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम की भावना गीता के ज्ञान का अविभाज्य अंग है।[3] गीता की समदृष्टि समाज की विषमता पर कुठाराघात करती है।[४] बौद्ध धर्म तो इतिहासज्ञों के अनुसार एक सामाजिक क्रान्ति ही थी।[५] इसलिए बौद्ध साहित्य में भी धर्म को सरल और संयमपूर्ण जीवन का पर्याय बताकर सर्वजन-ग्राह्य दर्शन की उद्भावना का सफल प्रयास है।[६] अश्वघोष के काव्य में बौद्ध धर्म की समाजहित-चिन्तन की भावना का प्रतिफलन द्रष्टव्य है। कालिदास[७] के

---

१. लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्पाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः॥
श्रीमद् भगवद-गीता, अध्याय ५, श्लोक २५।

२. "But the unique feature of Jnianaitana as thought in Gita is that it is never divorced from service to society. It is indeed remarkable however, in its highest flights of description of the nature of the saints this great scripture never fails to mention love of all creatures as an inalienable element is it. "The Paths of Yogas in Gita—Essay by D. S. Sharma, Cultural Heritage of India, Vol II P. 422.

३. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हास्तिनि।
शनि चैव श्वपाके च पण्डितर्शिः समदनः॥
श्रीमद्भगवद् गीता अध्याय ५, श्लोक १८।

४. "Buddhism was much more a social than a religious revolution. "E. B. Hovell" The History of Aryan Rule in India, P. 50.

5. "Man should avoid both the extremes, viz. a life of ease and a life of severe asceticism – the middle path was the best"—Ancient India—R. C. Majumdar, P. 170

६. (ख) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ३२—"ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से उत्पन्न हुए थे, जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं वैसे ही पैदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहाँ? यदि कहो, संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चाण्डाल का भी संस्कार हो, तो ब्राह्मण हो जाए। यदि कहो कि वेद पढ़ने से ब्राह्मण होता है तो क्यों नहीं चाण्डालों को भी वेद पढ़ाकर ब्राह्मण हो जाने देते।"

७. (क) प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
सपिता पितरस्तासां केवलं जन्म हेतवः॥ रघुवंश—सर्ग १, श्लोक २४
(ख) क्षतात्किल त्रायतइत्युदग्रः क्षात्रस्य शब्दो भुवनेष्य रुद्रः।
राज्येन किं तद्विपरीत वृत्तेः प्राणैस पक्रोशभलीमसैवां॥ रघुवंश, सर्ग २, श्लोक ७३
(ग) वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा, वह्नौ विशुद्धा यत्समक्षम्।
मम लोकापवाद् श्रवणाद् अहासीः श्रुतस्य किं तद् सदृशम् कुलस्य॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाकाव्यों और नाटकों में भी उस महान् साहित्य-स्रष्टा की सामाजिक चेतना की मनोरम अभिव्यक्ति हुई है। दिलीप का प्रजा का पुत्रवत पालन, उनकी क्षत्रियकर्त्तव्य चेतना तथा शकुन्तला और सीता-जैसी रमणियों के प्रदीप्त स्वाभिमान का चित्रण इस बात के प्रमाण हैं कि कालिदास के सामाजिक आदर्शवाद में कितनी शक्ति और प्राणवत्ता है। भवभूति के राम तो लोक-सौख्य के हेतु सर्वस्व त्याग के सिद्धान्त के व्रती हैं ही।[1]

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में यह परम्परा अनवरत और अक्षुण्ण रही है। सिद्ध-साहित्य में जाति-व्यवस्था की रूढ़ और विकृत वैषम्यमूलक दशा एवं मिथ्या धार्मिक पाखंड पर कटु प्रहार किये गए हैं।[2] जनता की भाषा का प्रयोग करने वाले इन कवियों ने जीवन को कर्मकाण्ड के जाल से मुक्त कर उसका सहज रूप प्रदर्शित किया था।[3] गोरखनाथ राजा और प्रजा को समान दृष्टि से देखने के आग्रही, पाखण्ड विरोधी और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के समर्थक थे।[४-क] स्वयम् की रामायण में विनम्रता की प्रशंसा और मुनि रामसिंह के पाहुड़ दोहा में जीवन-पराङ्मुखी ग्रन्थ-अध्ययन-साधना की निन्दा आदि सामाजिक विवेक के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।[४-ख]

इस व्यापक सामाजिक चेतना की परम्परा का उत्तराधिकार जिस भक्ति-आन्दोलन को मिला था, उसके सामाजिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने लिखा है—

"इससे हिन्दुओं को प्रतिरोध की एक ऐसी निष्क्रिय शक्ति प्राप्त हुई, जिसने

---

१. स्नेह दया सौख्यं च सच यदि का जानकीमपि।
आराधनाय लोकानाम् मुन्जतोनाऽस्ति मे व्यथा॥
भवभूति, उत्तर रामचरित अंक १ श्लोक १२

ब्राह्मणहि, ना जानन्ता भेद। यों ही पटेउ ये चारों वेद।
यदि नंगाये होइ मुक्ति तो शुनक श्रगालहु।
लोभ उपरि होइ सिद्धि, तो युवति नितम्बहु॥
हिन्दी काव्य-धारा—पृ० ५—राहुलजी कृत हिन्दी रूपान्तर।

२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—प्रथम भाग—डॉ० रामकुमार वर्मा पृ० ७७।

३. (क) राजा परजा एक करि देखा जब जानिबा जोगी निसपति का भेप॥
हिन्दी काव्य धारा—पृष्ठ—१६३।

(ख) मुहमद मुहमद न कर काजी, मुहमद का विषम विचारं।
मुहमद हाथ भेरद जे होती, लोहे घड़ी न सारं॥
सबदै भारै सबद जिलावै ऐसा मोहमद पीरं।
ऐसे भरमि न भूलो काजी, सौं बल नहीं सरीरं॥

४. (क) बुध जन स्वयंमु तोहि बिनवई। मोहि सरिसउ अन्य नहिं कुकली।
व्याकरण किछु न जानियऊ। ना वृत्ति सुद्र बक्खानियऊ॥
रामायण १.३, हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ २५।

(ख) पंडित पंडित पंडिता, कण छांडेउ तुप कूटिया।
अर्थहि ग्रंथहिं तुष्टोडसि, परमार्थ न जानइ मूढाड़सि॥
हिन्दी काव्य धारा—पाहुड पोहा—संख्या ८५
पृष्ठ २५७ पर उद्धृत। राहुल सांकृत्यायन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
उन्हें भय की उपेक्षा, अत्याचारों का सहन और प्राणान्तक कष्टों के मध्य में भी जीवन धारण करना सिखाया। इस प्रकार जो जाति नैराश्य के गर्त में पड़कर जीवन की आशा छोड़ चुकी थी, उसने वह सत्य संचय कर लिया, जिसने कभी क्षीण होने का नाम न लिया।"[1]

मध्ययुग के भक्ति आन्दोलन आध्यात्मिक एवं दार्शनिक लक्ष्यों को महत्त्व देने के साथ-साथ जीवन की यथार्थ वास्तविकता को भी उनकी पूर्ति का उपयुक्त माध्यम बनाना चाहते थे; क्योंकि विकृत सामाजिक व्यवस्था के आधार पर आध्यात्मिक विकास की सम्भावनाओं के पूर्ण होने की कोई आशा नहीं थी। जहाँ, जैसा कि विद्वानों का अभिमत है, बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् धार्मिक चेतना किसी नवीन जीवनादर्श की खोज में थी और वह उसे वैष्णव धर्म में प्राप्त हुआ था, वहाँ नवीन ऐतिहासिक शक्तियों के उदय से सामाजिक आदर्शों में भी क्रान्ति हुई थी। जीवन के प्रति ऐकान्तिक एवं निराशाजन्य विरक्त दृष्टिकोण, सामाजिक आपत्तियों को भाग्य-वाद के अनुसार अनिवार्य मानकर उनका करुणा से उपचार, रूढ़िबद्ध रीति-नीतियों के यान्त्रिक अनुपालन और वैयक्तिक आध्यात्मिक उत्कर्ष से सन्तुष्ट होने की भावना जैसे सड़े-गले आदर्श नवीन युग की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ थे। नये सामाजिक सन्दर्भ और सम्पर्क ने शक्ति और सहयोग का महत्त्व सिखला दिया था। हीनता की भावना से त्राण पाकर आत्मसम्मान की रक्षा करने का भाव जाग उठा था। वर्ण-वैषम्य से उत्पन्न जातीय दुर्बलता को पहचानने की दृष्टि मिल गई थी और इन सबकी सम्मिलित अभिव्यक्ति के रूप में युगानुकूल समाज-दर्शन का संघटन हुआ था। जीवन में सरसता को नया महत्त्व और अर्थ मिला था। भौतिक उन्नति की अभिलाषा सचेष्ट हो गई थी और अन्याय का प्रतिरोध करने की प्रेरणा प्रतिक्रिया के रूप में ही सही, समाज में जन्म ले चुकी थी।

भक्ति-साहित्य इस महान् भावात्मक परिवर्तन का जीता-जागता प्रतिबिम्ब है। इस साहित्य के स्रष्टाओं में तुलसी अग्रगण्य हैं। उनका समाज-दर्शन भारत की युग-युग से चली आ रही उपर्युक्त श्लाघ्य परम्पराओं का अनुगमन करने के साथ-साथ उनमें सामंजस्य स्थापित करने की विराट् साधना है। सम्पूर्ण तुलसी साहित्य में, इस दर्शन के सम्यक् उद्घाटन की दृष्टि से, मानस का महत्त्व सर्वोपरि है, क्योंकि इस ग्रन्थ-रत्न के द्वारा ही महाकवि ने अपने युग के सामाजिक अन्याय का प्रबल प्रतिरोध करने की प्रेरणा हिन्दू समाज को दी थी। राक्षसों के मुनि-मख-विध्वंस आदि अत्याचारों का चित्रण, मुस्लिम शासकों के द्वारा हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों में डाले जाने वाले विघ्नों और देवस्थानों पर होने वाले प्रहारों का ही अप्रत्यक्ष वर्णन है, शक्ति संचित कर जिसे रोकने का आह्वान तुलसी ने किया है। सीताहरण मानस में उस युग में हिन्दू ललनाओं के सतीत्व पर आये हुए संकट का प्रतीक है और कलि-युग-वर्णन तो तत्कालीन वातावरण में सामाजिक उच्छृंखलता और आचारहीनता का

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल। अनुवादक—परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १४, प्रथम संस्करण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[स्व]प्न-सा प्रतीत होता है। रामराज्य के रूप में कवि ने अपने स्पृहणीय समाज की [झाँ]की प्रदर्शित कर अपनी रचनात्मक प्रतिभा और मौलिक सृजन-सम्पन्न कल्पना [श]क्ति का प्रमाण दिया है। मानस के सामाजिक दर्शन का सांगोपांग विवेचन एक [प्र]बन्ध का विषय है। इस निबन्ध को केवल उसके विशिष्ट तत्त्वों की ओर अंगुलि-[नि]र्देश तक ही सीमित रखा गया है।

प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्यकार की वाणी नवीन युग के लिए एक नये सन्देश का [व]हन करती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमारे वर्तमान जीवन की दृष्टि [से] नवीन समाज रचना में 'मानस' का क्या उपयोग और महत्त्व हो सकता है, इस पर विचार किया जाए।

पिछली एक शताब्दी में भारतीय जीवन त्वरित गति से परिवर्तित हुआ है। इस देश में बृटिश साम्राज्य की पूर्ण स्थापना और उसके विलय का इतिहास सामन्त-व्यवस्था के विनाश की कहानी अपने क्रोड़ में समेटे हुए है। पूँजीवादी आर्थिक-प्रणाली की स्थापना, ग्रामीण समुदाय का विघटन, सम्मिलित कुटुम्ब व्यवस्था का ह्रास, जाति व्यवस्था का आचारगत शैथिल्य आदि इस संक्रान्ति युग की एक-एक घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और न जाने कितने भावात्मक घात-प्रतिघात, मानसिक संघर्ष और पारिवारिक विशृंखलताएँ इन परिवर्तनों के अन्तराल में छिपी पड़ी हैं। स्वाधीनता के साथ-साथ राष्ट्र का राजनैतिक विभाजन पारस्परिक आर्थिक और सांस्कृतिक संघर्ष तथा विदेशी शासन की साम्राज्यवादी नीति का दुष्परिणाम है। आर्थिक क्रान्ति और आर्थिक जनतंत्र की स्थापना के अभाव में कोरी राजनैतिक क्रान्ति अपने उद्देश्य में असफल रही है। पिष्टपेषित और निरर्थक सांस्कृतिक रूढ़ियों और परम्पराओं का लोप हो रहा है परन्तु उनका स्थान यूरोपीय संस्कृति के विकृत अनुकरण को प्राप्त होता जा रहा है। विश्व-युद्धों ने मानव हृदय को संज्ञा-शून्य बना दिया है। यद्यपि इस राष्ट्र ने जनतन्त्रात्मक प्रणाली के माध्यम से समाजवादी समाज की संस्थापना का उद्देश्य घोषित किया है, परन्तु इन आदर्शों के प्रति राष्ट्रीय आस्था का अभाव है। वर्तमान भारतीय जीवन में व्यक्तिवाद का अनवरुद्ध प्रसार हुआ है, जिसने यद्यपि उन्मुक्त बौद्धिक दृष्टिकोण के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया है परन्तु कुछ सामाजिक विकृतियाँ भी उत्पन्न की हैं। आचरण में संयमहीनता और अहं का उद्धत प्रदर्शन इसी के दुष्परिणाम हैं। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के प्रभाव से सामुदायिक सम्बन्धों में व्यावसायिकता का समावेश हो गया है। सामाजिक असुरक्षा ने मानव व्यक्तित्व को द्विधा विभाजित कर उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानना असम्भव बना दिया है। इस संक्रान्ति से उद्धार के हेतु आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक आदर्शों का पुनर्निर्माण भी नितान्त आवश्यक है जिसमें परम्परा और इतिहास का योग भी अल्प नहीं होगा। निश्चय ही किसी एक बाल्मीकि, व्यास या तुलसी के पास हमारे रोग का निदान और औषधि नहीं है परन्तु वे एक सीमा तक हमारे पुनरुद्धार में सहायक अवश्य हो सकते हैं।

समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्पर्क और व्यवहार को मृदु बनाए रखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए सदाचार के जिस आवश्यक अंग की अनिवार्य अपेक्षा है, वह है विनम्रता। विनम्रता का अर्थ अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए दूसरे के व्यक्तित्व के महत्त्व की स्वीकृति है। अपने अहं की नोकों और किनारों का तीखापन कहीं दूसरे व्यक्ति को आहत न कर दे अथवा उसे यह अनुभूति न हो कि उसकी उपेक्षा हो रही है और अपनी योग्यता के फलस्वरूप वह जिस सम्मान का पात्र है वह उसे प्राप्त नहीं हो रहा है, यह ध्यान रखना ही विनम्रता है। तुलसी के अपने व्यक्तित्व में यह गुण अतिशय मात्रा में विद्यमान है। 'मानस' जैसे महाकाव्य का रचयिता अपने पाठकों से करबद्ध प्रार्थना करता है :—

"करन चहौं रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित्र अवगाहा॥
भाषा भनिति मोरि मति भोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥
कवि न होहुँ नहिं चतुर कहावउँ।[1] मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥

उनके आदर्श पात्र राम का चरित्र भी इस विशिष्ट गुण से विभूषित है। अपने से उच्चतर, समान तथा निम्न स्तर के व्यक्तियों का परिचायक है। राज्याभिषेक की सूचना लेकर आये हुए गुरु वशिष्ठ के प्रति, आगमन के उद्देश्य से अपरिचित, राजकुमार राम के ये शब्द उनकी विनयपूर्ण शालीनता के द्योतक हैं :—

गुरु आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी॥
सेवक सदव स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीति। पठइय काज नाथ असि नीति॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयेउ पुनीत आज यह गेहू॥

विपत्ति और कष्ट के समय भी राम उस मनोहर गुण को अपने हाथ से नहीं जाने देते। वनवास के प्रसंग में कैकेयी के द्वारा समस्त वृत्तान्त सुनकर भी राम की वाणी में जिस विनम्रतापूर्ण स्नेह की अभिव्यक्ति होती है उसकी असाधारणता राम के चरित्र को देवत्व की महिमा से मंडित कर देती है :—

भरत प्राणप्रिय पावहिं राजू। विधि सब विधि मोहिं सनमुख आजु॥
जो न जाहुँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहिं मूढ़ समाजा॥

* * *

"अंब एक दुख मोहि बिसेखी। निपट बिकल नरनायक देखी॥
थोरेहिं बात पितहिं दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी॥
राउ धीर गुन उदधि अगाधू। भा मोहिं ते कछु बड़ अपराधू॥
जाते मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तेहि कहु सतिभाऊ॥[2]

दशरथ चक्रवर्ती सम्राट हैं परन्तु जनक के दूतों से उनकी वार्ता में जिस विनम्रता और सारल्य के दर्शन होते हैं उसके कारण उनका चरित्र पाठकों को

१. देखिए, हिन्दी साहित्य की भूमिका—३१४ हजारी प्रसाद द्विवेदी।
२. रामचरित मानस— , १४वीं आवृत्ति, संवत् ४४७। बालकाण्ड, दोहा सं० ८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यन्त प्रिय हो उठता है और वे उनके मरण पर उनकी काम दुर्बलता की उपेक्षा कर संतप्त और शोकाकुल हो उठते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में एक सम्राट के आतंक की अपेक्षा एक सहृदय वृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण पितृ-हृदय की विनम्रतापूर्ण आत्मीयता ही प्रमुख हो गई है :

तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥
भइया कहहु कुशल दोउ बारे। तुम नीके निज नयन निहारे॥
पहिचानहु ते कहहु सुभाऊ। प्रेम बिवस पुनि पुनि कह राऊ॥[1]

समान स्तर के व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में भी विनम्रता का होना नितान्त आवश्यक है। चित्रकूट में अयोध्या और मिथिला के राज-परिवारों की महिलाओं के मिलन और सम्भाषण के प्रसंग में दशरथ-पत्नी कौशल्या और जनक-पत्नी सुनयना दोनों ही विनम्रता की प्रतिमाएँ प्रतीत होती हैं। यदि कौशल्या सुनयना के सम्बन्ध में कहती हैं :

कौशल्या कह धीर धरि सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिवेक-निधि-बल्लभहिं तुमहिं सकइ उपदेसि॥[2]

तो सुनयना भी प्रत्युत्तर में अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए उचित शब्दों में उत्तर देती हैं :

लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनक प्रिया गहि पायं पुनीता॥
देवि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ घानि राम महतारी॥
प्रभु अपने नीचहु आदर हीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिन धरहीं॥
रउरे अंग जोग जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै॥[3]

इस प्रकार तुलसी ने सम्भ्रान्त पुरुष वर्ग के समान नारियों के प्रति अपनी समान दृष्टि का परिचय दिया है।

विनय और शिष्टाचार किसी वर्ग की धरोहर नहीं हैं। जनक के द्वारा चित्रकूट को भेजे गए दूत गुरु वशिष्ट के जनक की कुशल पूछने पर जो उत्तर देते हैं उसे विनयपूर्ण वाक्पटुता का अच्छा दृष्टान्त कहा जा सकता है :

यहि बिधि राउर पूछब साईं। कुसल हेतु सोइ भय गोसाईं॥
"नाहिं तो कौसलनाथ के, नाथ कुसल गई साथ।
मिथिला अवध बिसेषते, जग सब भयउ अनाथ॥[4]

जनक जैसे प्रतापी नरेश के होते हुए भी दूत, दशरथ मरण से पहले मिथिला को अनाथ बताकर, तब अयोध्या और समस्त संसार के अनाथ होने की चर्चा करता है। इसे विनम्रता की पराकाष्ठा ही समझना चाहिये।

विनम्रता जहाँ स्नेह के बन्धन को और भी सुदृढ़ करती है वहाँ विरोधी को

---

१. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा सं० ४२, पृष्ठ २५८, २५९।
२. मानस, बालकाण्ड दोहा सं० २६१, पृष्ठ १६६३।
३. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा सं० २८४, २८५, पृष्ठ ३८२।
४. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा सं० २७९, पृष्ठ ३७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना मत समझाने में भी सहायक होती है। इसीलिए रामदूत हनुमान रावण के समक्ष अपने पक्ष को पूर्ण विनम्रता के साथ उपस्थित करते हैं :

विनती करउं जोरि का शवन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥
देखहु तुम निज कुलहिं विचारी। भ्रम तजि भजहु भगत भयहारी॥
जाके डर अति काल डेराईं। जो सुर असुर चराचर खाई॥
तासों बैर कबहु नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै॥

*　　*　　*

ऋषि पुलस्ति कुल विमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका॥[1]

परन्तु यह विनम्रता निष्फल हो गई, क्योंकि दूसरी ओर उद्धत तथा अन्ध अहंकार था जिसने सारी बात की गम्भीरता को उपहास में उड़ा दिया :

बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ग्यानी॥[2]

ऐसे शठों के लिए विनम्रता के स्थान पर शक्ति-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है जैसा कि समुद्र बन्धन के प्रसंग में कहा गया है :

विनय न मानत जलधि जड़ गए तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिन होइ न प्रीति॥
लछिमन बान सरासन आनू। सोखउँ बारिधि विसिख कृसानू।
"काटइ पै कदरी फरै कोटि जतन कोउ सीचि।
विनय न मान खगेस सुनु डाटेहि पै नव नीच॥"[3]

युद्ध की उत्तेजना में भी राम की विनम्रता उनके समुद्र के समान गम्भीर स्वभाव के अनुरूप ही है। युद्ध-भूमि में जब रावण अपने पराक्रम की प्रशंसा करता हुआ उन्हें आतंकित करने की चेष्टा करता है :

"जीतेहु जे भट संजुग माही। सुनु तापस मैं तिन सम नाहीं॥
रावण नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बन्दी खाना॥
आजु करौं खल काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले।"[4]

तो ऐसे उत्तेजनात्मक और अपमानजनक शब्दों का भी राम के पास कितना विनम्र उत्तर है :

"जानि जल्पना करि सुजस नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महं पुरुष त्रिविधि, पाटल, रसाल, पनस सभा॥
एक सुमन प्रद एक सुमन फल एक फलहि केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहि अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥[5]

शिष्टता के साथ क्षमा माँगते हुए राम ने जो नीतिपूर्ण सिद्धान्त-वाक्य उत्तर में प्रस्तुत किया, उसमें व्यंग्य का समावेश होते हुए भी विनम्रता का अभाव नहीं था। परन्तु अहंकार तो सदैव विनम्रता को भय और दुर्बलता का चिह्न मानता आया

१,२. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा सं० २२, पृष्ठ ४८४, ४८१।
३. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा सं० ५७, ५८, पृष्ठ संवत् ५००।
४,५. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा सं० ९०, पृष्ठ ५६३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसलिए रावण ने इसे राम की भीरुता के रूप में ही ग्रहण किया :

"राम बचन सुनि बिहँसा, मोहि सिखावत ग्यान।
बैर करत नहिं तब डरे अब लागे प्रिय प्रान॥"[1]

विनम्रता साधन है, और उसका प्रमुख साध्य है गर्व का उत्पादन। तुलसी अभिमान को, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के दोनों पक्षों के विकास के मार्ग का भयंकर शत्रु मानते हैं। व्यक्तिगत साधना के क्रम में वह अवरोध उत्पन्न करता है, निष्क्रियता लाता है तथा पथभ्रष्ट करता है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण 'मानस' का 'नारद-मोह-प्रसंग' है। जहाँ मार-विजय के गर्व से गर्वित ऋषि की इन्द्रिय-जन्य दुर्बलताओं को प्रदर्शित कर साधकों को शिक्षा प्रदान की गई है।

अहंकार का ही एक रूप आत्म-प्रशंसा है। परशुराम की इस दुर्बलता का उपहास करते हुए लक्ष्मण कहते हैं—

"लखन कहा मुनि सुजस तुम्हारा। तुमहि अछत को बरनै पारा॥
अपने मुख तुम आपन करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥
नहिं सन्तोष तो पुनि कुछ कहहू। जनि रिसि रोकि दुसह दुख सहहू॥[2]

शक्ति के अहंकार में व्यक्ति दूसरों को तृणवत समझने लगता है। बालि की यही दशा हैं—

"अस कहि चला महा अभिमानी। तृण समान सुग्रीवहिं जानी॥"[3]

अहंकार का सबसे बड़ा अवगुण यह है कि वह मनुष्य की दृष्टि का अपहरण कर लेता है। एक ओर उसे दूसरे की शक्ति और गुण नहीं दिखाई पड़ते तो दूसरी ओर अपनी दुर्बलताओं पर दृष्टि नहीं जाती। और यदि किसी तीव्र आघात के फल-स्वरूप क्षण भर के लिए दुर्बलताओं की चेतना आती भी है, तो मिथ्या दर्प का आवरण उसे शीघ्रता से ढँक लेता है। और अहंकारी स्वनिर्मित अहं के गढ़ में अपने को सुरक्षित समझता रहता है जिसका कहीं अस्तित्व भी नहीं होता। हनुमान के द्वारा लंका जला दिये जाने के बाद भी अहंग्रस्त रावण अंगद के समक्ष अपने पराक्रम की डींग मारता हुआ कहता है—

सुनु सठ सोइ रावन बल सीला। हर गिरि जान जासु भुज लीला॥
जान उमापति जासु सुराई। पूजेउँ जेइ सिर सुमन चढ़ाई॥
भुज विक्रम जानहिं दिगपाला। सठ अजहूँ जिनके उर साला॥
जासु चलत डोलत इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी॥
सोइ रावन जग विदित प्रतापी। सुनेसि न श्रवन अलीक अलापी॥[4]

ऐसा व्यक्ति जीवन की वास्तविकता को देखकर भी नहीं देखता। उसे सत्य भी मिथ्या प्रतीत होता है और विपरीत परिस्थितियों को मनोकूल सिद्ध करने के लिए

---

१. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा सं० ९०, पृष्ठ ५६३।
२. मानस, बालकाण्ड, दो० संख्या २७४, पृष्ठ १८४।
३. मानस, दोहा संख्या ८, पृष्ठ ४५१।
४. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा सं० २५, पृष्ठ ५२१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह अवास्तविक कारणों की कल्पना कर लेता है। इस विपरीत बुद्धि से उसका विनाश काल निकट आने में देर नहीं लगती। रावण की बुद्धिभ्रष्टता का उदाहरण देखिए—

जरत विलोक्यों जबहिं कपाला। विधि के लिखे अंक निज माला॥
करके कर आपन बध बाँची। हसेउँ जानि विधि गिरा असाँची॥
सो मनु समझि त्रास नहिं भोरे। लिखा बिरंचि जरठ मति भोरे॥[1]

जब मन्दोदरी रावण को राम की महान् शक्ति का परिचय देने के लिए उनके विराट रूप का वर्णन करती है तो वह उसे अपनी ही प्रशंसा समझता है—

"रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति विसाल भय मोहिं सुनावा॥
सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥
जानेहुँ प्रिया तोरि चतुराई। यहि विधि कहेहु मोरि प्रभुताई॥
तब बतकही गूढ़ मृग लोचनि। समुझत सुखद सुनत भय मोचनि॥"
मन्दोदरि मन महं अस ठयऊ। पियहिं काल बस मति भ्रम भयऊ॥[2]

कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि महान् योद्धाओं की मृत्यु के कठोर आघातों से भी यह दुर्दमनीय अहंकार नहीं टूटता और युद्ध को प्रयाण करते हुए रावण कहता है—

"निज भुजबल मैं बैर बढ़ावा। देहौं उतर जो रिपु चढ़ि आवा॥"

जीवन के अन्तिम क्षण तक अहंकार रावण की चेतना पर अधिकार किये रहता है—

"गरजेउ भरत घोर रव भारी। कहाँ राम रण हतउं प्रचारी॥"[3]

सामाजिक व्यवहार को उलझनों, भ्रमों और तज्जन्य अनर्थों से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य जैसा हो, वैसा ही दिखे। परन्तु हृदयगत भाव और अपने वास्तविक व्यक्तित्व को छिपाकर कृत्रिम व्यक्तित्व के प्रदर्शन की चेष्टा प्रायः समाज में होती रहती है। इस आत्मगोपन के द्वारा बहुत से कुत्सित व्यक्तित्व के प्राणी भी कुछ समय के लिए सम्मान के अधिकारी बन जाते हैं। परन्तु यह अल्पकाल के लिए ही उनके लिए सुविधाजनक होता है। तुलसी ने 'वेष-प्रताप' से पूजे जाने वाले इन 'जग वंचकों' के जीवन की अन्तिम परिणति के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

"उघरे अन्त न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावण राहू॥"[4]

राम के चरित्र की एक विशेषता यह है कि वे जो कुछ भी अनुभव करते हैं उसे स्पष्ट रूप से कहने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। यह इसीलिए सम्भव हो सका है कि भावनात्मक दृष्टि से उन्होंने अपने व्यक्तित्व को एक सुसंस्कृत और परिमार्जित स्तर पर प्रतिष्ठित किया है, जिसे आत्मसम्मान की चेतना और आत्मविश्वास का आश्रय मिला हुआ है। तभी तो वह लक्ष्मण से कह सके—

१. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या २६, पृष्ठ ५२३।
२. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या १६, पृष्ठ ५१५।
३. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या १०३, पृष्ठ ५१४।
४. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ७, पृष्ठ ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तात जनक तनया यह सोई। धनुष जज्ञ जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लइ आई। करत प्रकास फिरत फुलवाई॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥"[1]

इतना ही क्यों उन्होंने गुरु विश्वामित्र के समक्ष भी अपने मनोविकार को स्पष्ट कर दिया—

"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरस सुभाउ छुअत छल नाहीं।"[2]

यह व्यक्तित्व की एकरूपता अयोध्या, वन और लंका सब कहीं बनी रहती है। इसीलिए तो उन्हें सबका विश्वास प्राप्त हो सका। वे स्वजनों और आत्मीयों का इतना बड़ा घेरा बनाने में समर्थ हो सके कि साधन और सम्पत्ति के अभाव में भी, एक प्रबल शत्रु को नष्ट कर आत्मगौरव की रक्षा करना उनके लिए सुगम हो सका।

सामाजिक कर्तव्यों के उचित निर्वाह के लिए भावनाओं की उत्तेजना पर संयम का अंकुश रखने वाले आत्मानुशासन की आवश्यकता अपरिहार्य है, जिसकी शक्ति से व्यक्ति आवेश का दमन करके, अपने कर्तव्य पर स्थिर रह सके। सीता के कटु वचनों से भावावेश में आकर, लक्ष्मण अपने कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं और उसका कितना भीषण परिणाम होता है? राम के व्यवहार में यह आत्मानुशासन सर्वत्र लक्षित होता है। सापेक्षिक रूप से शत्रु की तुलना में साधनों का अभाव होने पर भी उससे भयभीत न होना, धैर्य से विचलित न होना इसी अनुशासन से प्रेरित नैतिक साहस का परिणाम है। तभी तो जब रावण को रथी और रघुवीर को विरथ देखकर विभीषण अधीर हो जाते हैं तो राम नैतिक बल में अपनी दृढ़ आस्था प्रकट करते हुए कहते हैं—

"सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज-धीरज तेहि रथ चाका। सत्य, सील, दृढ़ ध्वजा-पताका॥
बल-बिवेक-क्षय-परहित घोरे। क्षमा-दया-समता-रजु जोरे॥"[3]

समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्पर्क के परिणामस्वरूप अनुकूल और प्रतिकूल भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ होनी अवश्यम्भावी हैं। अनुकूल प्रतिक्रिया से सामीप्य, साहचर्य और सहयोग की भावना का विकास होता है, जिसका दृढ़ सूत्र आबद्ध हो जाने पर उसे मित्रता का नाम दे दिया जाता है। मानव की वैयक्तिक प्रगति के लिए प्रायः मैत्री से अधिक उपादेय और कोई सामाजिक शक्ति नहीं होती। मित्रता अनेक प्रकार की हो सकती है। 'मानस' में राम और सुग्रीव की जिस मित्रता का वर्णन है उसे विपद्-बन्धुता की कोटि में ही ग्रहण किया जाएगा। वे सहज मित्र न होकर व्यावहारिक मित्र हैं, परन्तु मित्रता के जिस आदर्श की प्रतिष्ठा तुलसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में की है वह कोरी व्यावहारिकता तक ही सीमित नहीं है, अपितु भावनात्मक स्तर की मित्रता के लिए भी उतना ही सत्य है—

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २३१, पृष्ठ १६२।
२. मानस, बालकाण्ड, पृष्ठ १६५।
३. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या ८०, पृष्ठ ५५५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र के दुख रज मेरु समाना॥
जिनके असे मति सहज न आई। ते सठ हठि कत करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुण प्रगटहि अवगुनहि दुरावा॥
देत लेत मन शंक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
विपति काल कने सतगुन नेहा। श्रुति कह सत्य मित्र गुन एहा॥"
आगे कह मृदु वचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥
जाकर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरे भलाई॥'[1]

राम, सीता-वियोग से दुखी और क्लान्त होने पर भी, पहले सुग्रीव की विपत्ति निवारण कर उसे राज्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। मित्र के हित के लिए, बालि का अनुचित रीति से बध करके, मर्यादा के अपने प्राणोपम प्रिय आदर्श को भी न्योछावर कर देते हैं और उसके द्वारा, अपने कार्य की उपेक्षा होने पर भी, उसके निकट आकर अपनी त्रुटि स्वीकार कर लेने पर, हृदय के क्षोभ को क्षण-भर में ही धो डालते हैं—

"तब रघुपति बोले मुसकाई। तुम प्रिय मोहि भरत जिमि भाई॥
अब सोइ जतन करहुँ मन लाई। जेहि विधि सीता के सुधि पाई॥[2]

मित्रता के लिए कुल, वंश आदि की श्रेष्ठता की शर्तें नहीं हैं। राम कितने अभिमान से, अपने इन सखाओं का परिचय, अयोध्या लौटने पर गुरु वशिष्ठ को देते हैं। राम घोषित करते हैं कि उन्हें अपने ये मित्र भरत से भी कहीं अधिक प्रिय हैं। यह अन्तरंगता भावात्मक मैत्री का ही दृष्टान्त है—

"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे॥
मन हित लागि जनम इन हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥[3]

तुलसी को यदि मित्रता की इतनी गहरी अनुभूति न होती तो वे 'प्राकृत जन गुन गान' को, सरस्वती के लिए व्यर्थ परिश्रम और पश्चात्ताप का विषय मानते हुए तथा जीवन-भर इस व्रत का पालन करते हुए भी, केवल एक चार गाँव के ठाकुर, परन्तु मन के महीप मित्र के लिए तोड़ न डालते।

तुलसी ऐसे युग में उत्पन्न हुए थे जब यह देश दीर्घकालीन युद्धों की श्रृंखला के भीषण परिणाम को भोगकर, स्थायी शान्ति का इच्छुक था और यह शान्ति एक सीमा तक मुग़लों के प्रतापी साम्राज्य में उपलब्ध हो गई थी। शान्ति की अवस्था में ही, सामाजिक उन्नति सम्भव है, इसलिए तुलसी शान्ति के प्रबल समर्थक कवि हैं। यद्यपि उनके नायक राम युद्ध करते हैं, परन्तु तभी, जब युद्ध अनिवार्य हो जाता है। शान्ति के समस्त मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। उत्तेजना में आकर, तुरन्त अविचारपूर्ण युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाना राम को ही नहीं, तुलसी को भी अप्रिय है। ऐसे संघर्षों

---

१. मानस, किष्किन्धा काण्ड, दोहा संख्या ७, पृष्ठ ४४९-४५०।
२. मानस, किष्किन्धा काण्ड, दोहा संख्या २८, पृष्ठ ४४९।
३. मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा संख्या ८, पृष्ठ ५९८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का परिणाम घातक हो सकता है, इसीलिए जब निषाद-गण भरत को राम का शत्रु समझकर, युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं तो निषादराज की विवेकबुद्धि जागती है। वह शत्रु-मित्र का उचित निर्णय करके युद्ध करना चाहते हैं। और शुभ परिणाम यह होता है कि युद्ध की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसी प्रकार जब लक्ष्मण चित्रकूट में भरत के आगमन के मन्तव्य को, ठीक से न समझ पाने के कारण, भरत को दण्ड देने के लिए राम से आज्ञा माँगते हैं तो उनके शौर्य की सराहना करते हुए भी राम उन्हें निरुत्साहित करते हैं—

तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा। को कहि सकै को जाननि हारा॥
अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं॥[1]

हनुमान के समझाने और शक्ति प्रदर्शित करने पर भी, जब रावण वस्तु-स्थिति को नहीं समझता, तो राम अंगद को दूत बनाकर भेजते हैं। इसका एकमात्र उद्देश्य युद्ध की स्थिति को बचाना है। राम के हृदय में अपने शत्रु के प्रति भी घृणा का भाव नहीं है। अपने कार्य-साधन के साथ-साथ रावण का कल्याण भी उनकी दृष्टि में उतना ही प्रमुख है। अतः वे अंगद से कहते हैं :

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥
काज हमार, तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥[2]

परन्तु इसके मूल में भय या अपने बल में अविश्वास नहीं था। राम का अपनी शक्ति में गहरा आत्मविश्वास उस स्थल पर दृष्टिगत होता है, जब विभीषण के आने पर सुग्रीव आदि उनके गुप्तचर होने की, आशंका प्रकट करते हैं। राम उनसे पूर्ण निर्भीकता से कहते हैं :

भेद लेन पठवा दससीसा। तबहु न कछु भय हानि कपीसा॥
जग महं सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महं तेते॥[3]

अंगद-रावण वार्ता में, अंगद के द्वारा, राम के इसी आत्मविश्वास की पुनरावृत्ति होती है :

दसमुख मैं न बसीठी आयउं। अस विचारि रघुवीर पठायउं॥
बार बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जस बधे शृंगाला॥[4]

शक्ति होते हुए भी घृणा और पाशविकता पर यह संयम, राम के चरित्र के सामाजिक महत्व की वृद्धि करता है, और राष्ट्रों के मध्य समस्याओं को हल करने के लिए शान्ति-पूर्ण वार्ता के महत्व को भी रेखांकित करता है।

समाज में, प्रत्येक व्यक्ति के समान अधिकार की स्वीकृति, और प्रत्येक सामाजिक कार्य में उसके भाग लेने की स्वतन्त्रता के निश्चय से ही जनतांत्रिक परम्पराओं

---

१. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या २३१, पृष्ठ ३५५।
२. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या १७, पृष्ठ ५१६।
३. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा संख्या ४४, पृष्ठ ४६३।
४. मानस, लंकाकाण्ड, दोहा संख्या ३०, पृष्ठ ५२३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विकास होता है। भारत में, अत्यन्त प्राचीन युग से ही, समाज की जनतान्त्रिक प्रणाली का सूत्रपात हो चुका था और साम्राज्यों के उदय और अस्त के मध्य, भारतीय समाज-व्यवस्था, जनमत को उचित सम्मान प्रदान करनेवाली गणतांत्रिक परम्पराओं, को ही आधारशिला बनाकर जीवित रही है। अतः, यदि तुलसी जैसे भारतीय समाज के महान चित्रकार के महाकाव्य में, इन परम्पराओं का उद्घाटन न होता तो यह आश्चर्य की ही बात होती। तुलसी ने, यद्यपि शासकवर्गीय राजाओं और राजकुमारों की कथा लिखी है, फिर भी उनके राम का रूप केवल राज-भवन की प्राचीरों में बन्दी रहनेवाले, एक शासकीय वर्ग के व्यक्ति का जीवन नहीं, एक जननायक की महान् जीवन गाथा है। राम के जीवन की प्रत्येक घटना, जनता के सम्मिलित महोत्सव के सदृश है, जिसमें तुलसी समस्त समाज को सम्मिलित कर लेते हैं। 'मानस' में जो कुछ होता है, उसमें जनता की इच्छा-अनिच्छा तथा सम्मति का निदर्शन, तुलसी ने अपना कर्तव्य समझा है। उदाहरणार्थ राम और सीता का विवाह, जनकपुर के निवासियों की अभिलाषा का अटल परिणाम-मात्र प्रदर्शित किया गया है। मिथिला की नारियाँ राम-सौन्दर्य देख अपनी यह अभिलाषा व्यक्त करती हैं।

देखि राम छबि कोई इक कहई। जोग जानँहि यह बरु अहई॥
जो विधि बस अस बनै संजोगू। तौं कृतकृत्य होंहि सब लोगू॥

और जब एक स्त्री अपना यह विश्वास व्यक्त करती है :

जेहि विरंचि रचि सीय सँवारी। तेई स्यामल बर रचेउ विचारी॥

तो उसे सभी का हर्षपूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है :

तासु बचन सुन सब हरसानी। ऐसइ होउ कहहिं मृदु बानी॥[१]

अयोध्या में वशिष्ठ ने, दशरथ की राम को युवराज बनाने की इच्छा पर, भले ही कह दिया हो :

"फल-अनुगामी महिप-मणि, मन अभिलाष तुम्हार।

परन्तु कठोर यथार्थ ने सम्राट् के कमनीय कल्पना-प्रासाद को भूमिसात होते ही दिखाया। राम को, युवराज पद पर अभिषिक्त करने के पूर्व, दशरथ प्रजा के प्रतिनिधियों की सम्मति लेते हैं :

जो पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका।[२]

ऋषि वशिष्ठ के समक्ष राम की योग्यता का उल्लेख करते हुए दशरथ उनकी लोकप्रियता को विशेष महत्व देते हैं :

सेवक, सचिव, सकल पुरबासी। जे हमार अरि मित्र उदासी॥[३]
सबहि राम प्रिय जेहि बिधि मोही।... ...

शत्रुओं के द्वारा भी उनकी प्रशंसा होती है :

बैरिहु राम बड़ाई करहीं...... ।[४]

---

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २२२, २२३, पृष्ठ १५७, १५८।
२. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ५, पृष्ठ ३४०।
३-४. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ३, पृष्ठ २३९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरत जनता की इच्छाओं का सम्मान करते हुए राम को वन से लौटाने के लिये जाते हैं। अयोध्या के सभी वर्ग उनके इस निर्णय से हर्षित हैं :

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे।
मातु सचिव गुरु पुर नर नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी ॥[१]

रावण का विनाश जन-कल्याण के लिये है। उसकी पराजय इसीलिए होती है कि वह प्रहस्त, विभीषण तथा माल्यवान जैसे विलक्षण राक्षसों की सम्मति तथा लंका के राक्षस-समुदाय की इच्छा के विरुद्ध, राम से युद्ध करता है। लंका के राक्षस-समाज को रावण के नेतृत्व पर विश्वास नहीं है। वे इस युद्ध से क्षुब्ध हैं :

सब मिलि देहिं रावणहि गारी। राज करत यहि मृत्यु हँकारी ॥[२]

राज्याभिषेक के पश्चात् राम अयोध्या की जनता के स्वतन्त्र मत का सम्मान करते हुए विरोधी सम्मतियों का स्वागत करते हैं। वे घोषणा करते हैं कि अपने विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति में, किसी व्यक्ति को भय नहीं होना चाहिए। अपनी नीति की आलोचना को वे सहिष्णु भाव से सुनने के लिये उद्यत हैं :

जो अनीति कछु भाखौं भाई। तौ मोहिं बरजेहु भय बिसराई ॥[3]

स्वाधीनतापूर्वक एवं अपने मतानुसार कार्य करने का अधिकार भी अयोध्या की जनता को है :

नहिं अनीति, नहिं कुछ प्रभुताई। सुनहु, करहु जो तुमहि सोहाई ॥[४]

अपने राज्याभिषेक के अवसर पर राम ने अन्य भाइयों को छोड़कर, केवल अग्रज को राज्यसिंहासन पर प्रतिष्ठित करने की परम्परा पर, जो असन्तोष और क्षोभ प्रकट किया है उसमें एकतन्त्र-व्यवस्था का विरोध दृष्टिगत होता है :

जनमे एक संग सब भाई। भोजन, सयन, केलि, लरिकाई ॥
कर्णबेधि, उपवीत, बिवाहा। संग-संग सब भये उछाहा ॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू ॥[५]

इस भ्रातृ-भावना का विश्व की समस्त मानवता में विस्तार कर लेने पर इस कथन को सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ओर एक मार्मिक संकेत माना जा सकता है।

समाज की सबसे लघु इकाई परिवार है, और परिवार का निर्माण, जीवन-संघर्ष में नारी और पुरुष के साहचर्य के उस संकल्प से होता है, जिससे विवाह की संस्था विकसित हुई है। जीवन के उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिये, यह संस्था दोनों पक्षों से, पारस्परिक विश्वास और दृढ़ निष्ठा की अपेक्षा करती है। स्वेच्छा से और पवित्र भावना से एक व्यक्ति को वरण करने के पश्चात्, कोई भी प्रलोभन सात्विक प्रणयी हृदय को विचलित करने में असमर्थ रहता है। पार्वती सप्तर्षियों के द्वारा परीक्षा लिये जाने पर अपनी अडिग स्नेह भावना का प्रमाण देते हुए कहती हैं :

१. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या १८४, पृष्ठ ३३१।
२. मानस, लंका काण्ड, दोहा संख्या ४२, पृष्ठ ५३२।
३-४. मानस, उत्तरकाण्ड, पृष्ठ ६२०।
५. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या १०, पृष्ठ २४२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य कहेउ गिरि भव तन एहा । हठ न छूट छूटै बरु देहा ॥
जो तुम मिलतेउ प्रथम मुनीसा । सुनतिऊँ सिख तुम्हारि धरि सीसा ॥
अब मैं जन्म सम्भु हित हारा । को गुन दूसन करै बिचारा ॥
जनम कोटि लगि रगरि हमारी । बरौं संभु नत रहौं कुँआरी ॥[1]

हृदय का पवित्र आत्मार्पण कोरा व्यापार-मात्र नहीं है, जिसमें हर कदम पर हानि-लाभ का विचार कर, नित्य नये सम्बन्ध स्थापित किये जाएँ।

मनोनुकूल वर के अभाव में, पुत्री का कुमारी रहना ही श्रेयस्कर है, ऐसा पार्वती की माता मैना का विचार है क्योंकि अयोग्य वर को कन्या सौंपने के पश्चात्, परिणाम दारुण 'दाह' के सिवा, और क्या हो सकता है :

जो घर-वर, कुल होय अनूपा । करिय विवाह सुता अनुरूपा ॥
न तु कन्या बरु रहै कुँआरी । कंत उमा मम प्रान पियारी ॥
अस विचारि पति करेउ विवाहू । जेहि न बहोरि होय उर दाहू ॥[2]

समाज में पुरुष के आधिपत्य और नारी के परवशता पर महाकवि का करुण-स्वर भी मैना के माध्यम से पार्वती-विदा के अवसर पर मुखरित हो उठा है :

कत विधि सृजी नारि जग माहीं । पराधीन सपनेहु सुख नाही ॥[3]

महाकवि के युग में प्रचलित, अनमेल विवाहों पर उनका आक्षेप, अप्रत्यक्ष रूप से, शिव को देखकर किये गये, मैना के इस विलाप में, प्राप्त हैं, क्योंकि उस काल में कितनी ही सुकुमार और सुन्दरता और श्रेष्ठ कन्याएँ बौरहे वरों के गले बाँध दी जाती थीं :

कस कीन्ह बर बौराह जेहि विधि तुम्हहिं सुन्दरता दई ।
जो फल चहिय सुर-तरुहि, सो बरबस बबूरहिं लागई ॥[4]

राम राज्य में समस्त अयोध्या वासियों को एक नारि-व्रत बताकर, और वृद्ध दशरथ की कामुकता, तथा उसके विषम परिणामों को प्रदर्शित कर, तुलसी ने आदर्श वैवाहिक-पद्धति पर, अपना मत व्यक्त किया है। तुलसी की सहृदयता, सीता की वर-निर्वाचन की स्वतन्त्रता को, कठोर शिव-धनुष के साथ आबद्ध होते भी, नहीं सहन कर पाती और वे बार-बार सीता को, इस परिस्थिति पर, क्षुब्ध और शोकाकुल प्रदर्शित करते हैं। वाटिका मिलन में ही सीता का हृदय पराजित हो चुका है। परन्तु पिता के प्रण की स्मृति आते ही, उनकी मनोदशा कुछ और हो जाती है :

नख सिख देखि, राम कै सोभा । सुमिर पिता पनु, मनु अति छोभा ॥
जानि कठिन शिव चाप बिसूरति । चलीं राखि उर स्यामल मूरति ॥[5]

मिथिला का लोकमत भी राम और सीता को सर्वथा एक-दूसरे के योग्य देखकर जनक के प्रण को त्याज्य और जड़तापूर्ण मानता है :

---

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ८१, पृष्ठ ८१ ।
२. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ७१, पृष्ठ ७६ ।
३. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या १०२, पृष्ठ ९४ ।
४. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या ९६, पृष्ठ ९० ।
५. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २३४, पृष्ठ १९४ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई । मति हमारि असि देहु सुहाई ॥
बिनु बिचारि, पनु तजि, नरनाहू । सीय राम कर, करै बिबाहू ॥[१]

यहाँ तक कि सीता को भी, यह प्रतिज्ञा दारुण-हठ मात्र, प्रतीत होती है :

नीके निरखि, नयन भरि, सोभा । पितु पन सुमिरि, बहुरि मन छोभा ॥
अहह तात ! दारुण हठ ठानी । समुझत नहिं, कछु लाभ न हानी ॥[२]

वैवाहिक जीवन की सफलता निश्छल व्यवहार पर निर्भर है । हार्दिक निष्कपटता से दो हृदयों का संयोग होने पर, जीवन में गुणगत वृद्धि होना अनिवार्य है । परन्तु अल्प मात्रा का दुराव-छिपाव भी, उनमें पार्थक्य की दीवार बनाकर, सरसता का विनाश करने के लिए पर्याप्त है । जैसा कि शंकर और सती के प्रसंग में हुआ :

जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति की रीति भलि ।
बिलग होइ, रसु जाय, कपट-खटाई परत पुनि ॥[3]

इस आचरण के विपर्यय में, दाम्पत्य-प्रेम की आदर्श भावात्मक-एकता, राम और सीता में दृष्टिगत होती है । राष्ट्र और विश्व की भावात्मक एकता का, महान् लक्ष्य उपलब्ध करने की पहली सीढ़ी, पारिवारिक-भावात्मक-एकता को समझना चाहिए । और इस पारिवारिक एकता का सूत्रपात पति-पत्नी के, पारस्परिक भाव-अवगाहन की सामर्थ्य से होता है । जीवन के दैनंदिन क्रियाकलापों में सहयोग के द्वारा ही इसकी उत्पत्ति होती है । 'मानस' में गंगा-संतरण प्रसंग में सीता राम के हृदय के भावों को तत्काल समझ लेती है :

केवट उतरि दण्डवत कीन्हा । प्रभु सकुचे यहि कुछ नहि दीन्हा ॥
पिय हिय की सिय जाननि हारी । मनि मुँदरी मन मुदित उतारी ॥
कहेउ कृपालु लेहु उतराई । केवट चरन गहे अकुलाई ॥[४]

वियोग एवं विपत्ति की कठिन घड़ियों में भी राम की इस एकता पर निश्चल आस्था विद्यमान रहती है । तभी तो वे अनुमान को यह सन्देश देने में समर्थ होते हैं :

तत्व प्रेम कर, मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥
सो मन, रहत सदा तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं ॥[५]

इसी हृदयैक्य का अवलंब लेकर सीता रावण के प्रलोभन की सहज उपेक्षा कर यह सतेज प्रत्युत्तर देने की शक्ति प्राप्त कर सकी :

स्याम सरोज-दाम सम सुन्दर । प्रभु-भुज, करि-कर सम दस कन्धर ॥
सोइ भुज-कंठ कि, तब असि घोरा । सुनु सठ ! अस प्रमान-पनु मोरा ॥[६]

'मानस' में राम की वन-यात्रा के अवसर पर भारतीय ग्राम-समाज की जिस

---

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २४६, पृष्ठ १७१ ।
२. मानस, बालकाण्ड, दोहा संख्या २५८, पृष्ठ १७६ ।
३. मानस, बालकाण्ड, सोरठा संख्या ५, पृष्ठ ६६ ।
४. मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा संख्या १०२, पृष्ठ २८६ ।
५. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा संख्या १५, पृष्ठ ४७७ ।
६. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा संख्या १०, पृष्ठ ४७३, ४७४ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहृदयता का दर्शन होता है, वह पर्यटन-शील गोस्वामीजी की वैयक्तिक अनुभूति जान पड़ती है। रामराज्य की स्थापना करने वाले शासक का भारतीय जनता से घनिष्ठ परिचय था। उसने असभ्य माने जाने वाले, बनचरों और कोलं भीलों से भी, रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में, सफलता प्राप्त की थी और उनके विश्वास को जीतकर उन्हें आत्मीयता के क्रोड में आबद्ध किया था। राम-राज्य के नवीन स्वप्न-द्रष्टाओं को यह महत्वपूर्ण तथ्य स्मरण रखना चाहिये।

'मानस' में रामकथा का जो स्वरूप है, जिन प्रसंगों का चयन अथवा परिहार है, उसके पीछे भी कवि की सामाजिक दृष्टि कार्य करती है। तथाकथित, उच्च-नीच के भेदभाव को मिटा देने के उद्देश्य से चित्रित, वशिष्ठ-निषाद-आलिंगन और तपस्या-रत शम्बूक की निर्मम हत्या, दोनों का एक काव्य में, स्थान नहीं हो सकता था। तुलसी की भावुकता सीता निर्वासन का अन्याय सहन करने में असमर्थ है। इसलिये अयोध्या के राजभवन में ही लवकुश का जन्म होता है। राजरानी सीता के लिये 'निज कर गृह परिचर्या करई' लिखकर तुलसी ने श्रम की महत्ता का प्रतिपादन किया है, और राम परिवार को परपिण्डोपजीवी, समाज के लिये भारत स्वरूप, बिलासी वर्ग से पृथक कर दिया है।

'मानस' में ब्राह्मणों को विशेष महत्व प्रदान करने के पीछे, तुलसी को यह चिन्ता थी कि भारतीय विद्या एवं उसके विशेषज्ञों की उपेक्षा और अवमानना से, कहीं जनता उस अक्षय कोष के लाभ से वंचित न हो जाय क्योंकि जहाँ कबीर जैसे कुछ सुने, और सुनकर गुने हुए साधकों ने जीवन के सारभूत तत्वों का अनुसंधान किया था और इसलिये उनके द्वारा पठन-पाठन से प्राप्त ज्ञान को बौद्धिक व्यायाम कहकर किया गया तिरस्कार, एक सीमा तक सहा था, वहाँ उनके कितने ही अनुकर्ता विद्या के सच्चे साधकों का तिरस्कार करते हुए अज्ञान का प्रसार कर रहे थे और दीर्घकालीन साधना तथा पीढ़ियों के सतत प्रयत्न से अर्जित, ज्ञान-भण्डार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। ऐसों का विरोध आवश्यक था। यह अवश्य मान लेना पड़ेगा कि इस उद्देश्यपूर्ति में उन्होंने कुछ असंगत और अनुचित बातें भी कह डालीं।

नारियों के सम्बन्ध में तुलसी के दृष्टिकोण को लेकर हिन्दी के समीक्षकों में पर्याप्त विवाद हुआ है। उस सारे पचड़े से अपने को प्रथक रखकर लेखक केवल इतना ही कहना चाहेगा कि उस युग में समाज में नारियों का स्थान बहुत उच्च नहीं था। कितना ही महान् कवि क्यों न हो, युग की धारणाओं का उस पर प्रभाव पड़ता ही है। आध्यात्मिक साधक होने के कारण भी तुलसी मध्ययुगीन विश्वासों के अनुरूप, नारी और परिवार को, साधना में बाधक ही समझते थे। वैसे यह सत्य है कि किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक अथवा लौकिक जीवन व्यापी विशाल संकल्प की पूर्ति के मार्ग में पारिवारिक जीवन के कर्तव्य एक सीमा तक बाधक अवश्य बनते हैं। अतः कलाकार तुलसी की दृष्टि में एक विचित्र अन्तर्विरोध है। उनकी जीवन-स्पर्शिनी प्रतिभा नारी के चरित्र को पूर्णतः भव्य और उदात्त रूप में प्रस्तुत करती है। तारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मन्दोदरी जैसी एकनिष्ठ पतिव्रता पत्नियों के परामर्श की उपेक्षा करने के कारण ही बाली और रावण अधोगति को प्राप्त होते हैं। यह प्रदर्शित करने में तुलसी का मार्मिक संकेत यही है कि जहाँ पुरुष वर्ग पतन की ओर उन्मुख होता है, सारा वातावरण घृणा और हिंसा से विषाक्त हो उठता है, वहाँ भी नारी की पवित्र चेतना निर्धूम और निष्कम्प दीपशिखा के सदृश, अशिवता के अन्धकार को नष्ट करने का सतत प्रयत्न करती रहती हैं। मानस के राक्षस नारी-पात्रों की चर्चा करते हुए, त्रिजटा को भूल जाना असंगत होगा क्योंकि—

यदि सुग्रीव राम के विपद्‌बन्धु हैं तो त्रिजटा सीता की विपद् संगिनी माँ :

मातु बिपति-संगिनि तैं मोरी।"[1]

उसकी ममता के अंचल की छाया का आश्रय पाकर ही सीता आत्महत्या जैसे जघन्य पाप से विरत होती हैं। उसकी सान्त्वना और आश्वासनों का अवलम्ब लेकर ही नैराश्य और वेदना के समुद्र को पार कर सीता-राम-मिलन सम्भव होता है। राक्षस नारियों के चरित्र को भी जिसने इस उदात्त रूप में अंकित किया है उस महाकवि को नारी द्वेषी बतलाना सत्य का विपर्यय मात्र है।

'मानस', युग की वाणी होने के साथ-साथ, युग-युग की वाणी है। सामाजिक प्रगति और विकास के प्रत्येक मोड़ पर, वह हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए, नवीन दिशा-संकेत प्रदान करता है। निकट भविष्य में, वह न केवल भारतवासियों के लिए, एवं समस्त विश्व के लिए भी, इस दृष्टि से उपादेय सिद्ध होगा, ऐसा लेखक का विश्वास है।

---

१. मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा संख्या १२, पृष्ठ ४७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोपालकृष्ण कौल

विश्वविद्यालय और समकालीन साहित्य

(१)

विश्वविद्यालयों में समकालीन साहित्यके अध्ययन और अध्यापनके प्रति प्रायः उतना उत्साह नहीं दिखाई देता है जितना अतीत के साहित्य के प्रति । कुछ वातावरण ऐसा बन गया है कि साहित्य की जो प्रवृत्तियाँ समकालीन हैं या जिन रचनाओं में शिल्प और वस्तु की दृष्टि से नवीनता के प्रति अधिक आग्रह है उनकी ओर उदासीन भाव से देखा जाता है और ज्यों-ज्यों वे काल का जूठन बनकर बासी होने लगती है त्यों-त्यों उनको अध्ययन और अध्यापन की महत्त्वपूर्ण सामग्री समझा जाने लगता है । इस अतीतोन्मुख दृष्टि ने प्राचीन साहित्य के अध्ययन और अनुसन्धान कार्य को अवसर अधिक उदारता से दिए हैं लेकिन एक निश्चित सीमा तक ही, क्योंकि इस क्षेत्र में भी विषयों और प्रतिपादन की प्रक्रिया की पुनरावृत्तियों ने अप्रिय रूढ़ियाँ क़ायम कर दी हैं । जो शोध-ग्रन्थ निकलते हैं उनको आलोचना की उपलब्धि समझने का भ्रम पैदा किया जाता है, जिससे न तो वे शोध-कार्यों की दृष्टि से पूरा महत्त्व पाते हैं और न आलोचना में नई दिशा ही प्रदान कर पाते हैं । ऐसे ग्रन्थों की एक सुनिश्चित उपयोगिता बन जाती है । वह है, छात्रोपयोगिता । लेकिन पाठ्यक्रम से बँधी छात्रोपयोगिता के लिए कुन्जी और शोधग्रन्थ समान महत्त्व रखते हैं । साहित्य के विद्यार्थी की दृष्टि इतनी उपयोगितावादी बन गई है कि परीक्षा में सफलता के लक्ष्य से आगे उसने प्रायः देखना ही बन्द कर दिया है । इस दृष्टिरोध को जहाँ कुछ शिक्षक और विद्यार्थी अनुभव करने लगे हैं वहाँ अनेक इस ओर ध्यान भी नहीं देते, बल्कि वे इसको विद्यार्थियों पर अपनी अध्यापकीय विद्वत्ता का प्रभाव समझकर गौरव अनुभव करते हैं ।

दूसरी ओर साहित्य के शिक्षकों के विशेषतः हिन्दी साहित्य के, अजीब-अजीब कम्पलेक्स हैं जो उनकी धारणाओं में व्यक्त होते रहते हैं । अधिकांश शिक्षक अपने को रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉक्टर नगेन्द्र और डॉक्टर रामकुमार वर्मा जैसे विद्वानों की परम्परा में केवल हमपेशा होने के नाते आलोचक या साहित्यकार मानने या मनवाने लगते हैं और अपने मतों को साहित्य का महान् सिद्धान्त प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं । विद्यार्थी भी उनके आदर्श वाक्यों के सहारे अपनी परीक्षा की नैया पार लगाने के प्रयत्न में रहता है । सब मिलाकर ऐसा वातावरण बन गया है कि उसमें समकालीन सजगता के प्रति विरक्ति का साम्राज्य दिखाई देता है ।

अधिकांश समकालीन सजग लेखक विश्वविद्यालयों के इस विरक्तिपूर्ण दक़ियानूसी वातावरण से विक्षुब्ध हैं । कम-से-कम सन्तुष्ट तो कोई भी नहीं है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव लेखन के एक अग्रगण्य लेखक ने एक बार विक्षोभ-भरे स्वर में कहा, 'मैं नहीं चाहता, मेरी रचनाएँ विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जायँ, वे पढ़ी जायँ यही बहुत है।"

लेकिन विश्वविद्यालय में पढ़ाने का रिवाज़ ज़्यादा है, पढ़ने का कम। साहित्य के विद्यार्थी, इसीलिए प्रायः समकालीन रुचि के प्रबुद्ध पाठक नहीं बन पाते हैं। पढ़ाने की प्रक्रिया में, पुराने लक्षणों और उदाहरणों को लगभग एक ही ढंग से, न जाने कितने वर्षों से दुहराया जा रहा है। शास्त्रीय दृष्टि का अर्थ ही पुराने लक्षणों की व्याख्या और उनको घटित करना मात्र रह गया है। इस स्थिति में नाटक की जो दुर्दशा हुई है वह उल्लेखनीय है। एक-दो अपवादों को छोड़कर प्रायः नाटक को नाटक की तरह नहीं पढ़ाया जाता है। नाटक पढ़ाने के लिए रंगमंचीय ज्ञान को ज़रूरी नहीं समझा जाता है। ऐसे नाटक भी पाठचक्रम में सजा दिए जाते हैं, जो किसी भी दृष्टि से श्रेष्ठ नाटक नहीं कहे जा सकते हैं। नाटकों को पाठचक्रम में लगाने की कसौटी रंगमंच को नहीं स्वीकार किया गया है। गद्य के एक शैली-भेद के रूप में ही नाटक को पढ़कर स्वीकार किया जाता है और प्रायः कहानी और उपन्यास के ढंग पर पढ़ा दिया जाता है। इस सम्बन्ध में सूची-ज्ञान को ज्यादा महत्त्व दिया गया है। कभी-कभी विचित्र घटनाएँ घटती हैं। हिन्दी में नाटकों के पहले शोध-ग्रन्थ में उदयशंकर भट्ट लिखित नाटकों में 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का नाम गिनाया गया। इस शोधग्रन्थ के लगभग १० साल बाद नाटकों पर दूसरा शोधग्रन्थ प्रकाशित हुआ, उसमें भी भट्ट जी के लिखे हुए 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का उल्लेख था। फिर कुछ साल बाद नागरी प्रचारणी सभा की ओर से 'हिन्दी का उच्चतर साहित्य' के नाम से लेखकों की पुस्तक-सूची प्रकाशित हुई, उसमें भट्टजी की पुस्तकों में प्रकाशक के साथ 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का उल्लेख था। लेकिन उदयशंकर भट्ट का कहना है कि उन्होंने यह नाटक कभी लिखा ही नहीं है। समकालीन साहित्य के प्रति उदासीनता का ही यह एक परिचायक है।

इसी प्रकार कविता और कहानी के क्षेत्र में जो कुछ नया लिखा जा रहा है उसके प्रति भी समकालीन रुचि को जाग्रत करने की दिशा में उदासीनता का भाव है। बिना समकालीन रुचि के अतीतोन्मुखी दृष्टि-रोध के जाले को साफ नहीं किया जा सकता। विश्वविद्यालय के साहित्य-विभाग में स्वतन्त्र चिन्तन और नवीनतम ज्ञान को पाने की जो सम्भावनाएँ हैं, उनके द्वारा बन्द नहीं करनी चाहिए। विद्वत्ता का अर्थ, मात्र अतीत का संचित ज्ञान उहीं है। विद्वान् वह है जो त्रिकालदर्शी है। यदि साहित्य-विभागों से समकालीन साहित्यकारों को सम्पर्क में रखा जाय तो इस वातावरण में बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। विश्वविद्यालय के गुरुओं और साहित्यकारों के बीच एक खाई बन गई है, उसे कोई न पाट सके, लेकिन साहित्य के विद्यार्थी समकालीन रुचि के माध्यम से एक सेतु अवश्य बना सकते हैं। साहित्य के श्रेष्ठ व्यक्तित्वों का लाभ साहित्य के विद्यार्थियों को मिलना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रमुख साहित्यकार और भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति रामधारीसिंह 'दिनकर' का यह कथन महत्त्वपूर्ण है।

''यह समझाने के लिए बहुत ज़्यादा अक़्ल की ज़रूरत नहीं है कि अगर सर्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठ लोग इसी तरह यूनिवर्सिटियों से विमुख होते गए तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब यूनिवर्सिटियाँ सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति तैयार करने में असमर्थ हो जायें। यूनिवर्सिटियाँ अगर पिछड़ गईं तो योजना कमीशन के बावजूद सारा देश पिछड़कर रह जायगा।"

इसी तरह समकालीन साहित्य में जो श्रेष्ठ है, यदि उसके प्रति उदासीनता बरती जाती है, समकालीन साहित्य के रचनाकारों को यदि विश्वविद्यालय की परिधि से दूर रखा जाता है और यदि समकालीन मानव-मूल्यों एवं कला-मूल्यों के सन्दर्भ में साहित्य की परख को अतीतोन्मुखी शास्त्रीयता की बलिवेदी पर भेंट चढ़ा दिया जाता है, तो देश का सांस्कृतिक जीवन भी पिछड़ जायेगा।

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

(२)

साहित्य अध्यापन का नहीं, अध्यापन साहित्य का अनुगामी होता है। किसी भी देश अथवा काल के साहित्यकार ने अपने साहित्य का सर्जन यह सोचकर नहीं किया कि उसका अध्यापन विद्यालयों या विश्वविद्यालयों में हो। किन्तु अध्यापन साहित्यानुगामिता-निरपेक्ष होकर नहीं चल सकता। अध्यापन का लक्ष्य ही यह है कि वह नित-नूतन ज्ञान से अध्येता को परिचित कराये और उसके ज्ञान के विकास में सहायक हो। साहित्य का अध्यापन विज्ञान के अध्यापन से एक माने में भिन्न है। विज्ञान नितान्त नवीन शोध की तुलना में विगत शोध का त्याग करता चलता है, जबकि साहित्य परम्परानुशीलन का विश्वासी होकर प्राचीन को भी उतना ही महत्त्व देता है जितना नवीन को, बल्कि प्राय: नवीन की तुलना में प्राचीन को ही अध्यापन के हेतु अधिक मान मिलता है। पुराने और नये को एक साथ समेट लेने की इच्छा का परिणाम यह होता है कि साहित्य की परिणामात्मक वृद्धि के अनुकूल अध्यापन की परिधियाँ विकसित नहीं हो पातीं। इसका परिणाम नये साहित्य को ही भोगना पड़ता है। पुराने साहित्य के चूंकि मूल्य प्राय: निर्धारित हो चुके होते हैं, रचयिताओं के प्रति कुछ सुनिश्चित धारणाएँ व्यक्त की जा चुकी होती हैं और काल-प्रवाह उनकी स्थायिता की परीक्षा ले चुका होता है, अतएव अध्यापन के लिए उसका ग्रहण सुगमता से हो जाता है। सुनिश्चित मूल्यों और संस्कारों के अभाव में नया साहित्य विस्तृत और गहन अध्ययन का विषय नहीं बन पाता। यह एक विवशता है और इसे इसी सीमा तक ग्रहण भी करना चाहिए। विश्वविद्यालयों को इसके लिए विशेष प्रताड़ित और लांछित करने की आवश्यकता नहीं है।

समकालीन साहित्य के रचयिताओं की ओर से विश्वविद्यालयों के प्रति जिस प्रकार का क्षुब्धता और आक्रोशपूर्ण वातावरण पिछले दिनों तैयार हुआ है उसके पीछे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत कुछ तो इस स्थिति को न समझने की भूल है और बहुत कुछ यश और अर्थ प्राप्त करने की तृष्णा भी है। विश्वविद्यालयों, विद्यालयों और अध्ययनार्थियों की बढ़ती संख्या ने आज के लेखक के मन में यह विश्वास—बहुत कुछ सही रूप में ही—भर दिया है कि यदि स्थायी यश अर्जन करना है तो उसकी रचनाओं को पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए। जो पुस्तक या जो लेखक पाठ्यक्रम में स्थान पा लेता है, विद्यार्थी उसे विशिष्ट समझता है और आलोचक भी उसी का गुणानुवाद—गुणानुवाद इसलिए कि सही बात कहने वाला निडर आलोचक हिन्दी में तो नहीं दीखता—करता है। यश के साथ ही उसे अर्थलाभ भी होता है और दूसरे लेखक एक प्रकार से अर्थ-लाभ में ही नहीं, यशःलाभ में भी पिछड़ जाते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि विश्वविद्यालयीय स्तर पर दोनों लाभों से वंचित रहकर भी सच्चा लेखक सामाजिक स्तर पर कम-से-कम यशःलाभ से तो वंचित नहीं रहता। विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में उपेक्षित रहकर भी अनेक लेखक स्थायी यश प्राप्त करते हैं। विश्वविद्यालयों का काम अध्ययन की दिशाओं का निर्देश करना है अथवा भावी चिन्तन के लिए ज़मीन तैयार करना उनका लक्ष्य है, और किसी को विशेष यश का भागी बनाना नहीं। समस्त प्राचीन और समकालीन साहित्य का एक-सा और एक साथ अध्ययन संसार के किसी विद्यालय में सम्भव नहीं है, अतः विश्वविद्यालय दिशा-निर्देश के लिए केवल उन नामों को स्वीकार कर लेता है जो अधिक उभरे हुए होते हैं। सही मानों में कहना चाहिए, जिन्हें समाज पहले ही स्वीकार कर चुका होता है। ऐसे लेखकों को पाठ्यक्रम में स्थान देकर विश्वविद्यालय उनकी चर्चा के माध्यम से तत्समान समस्त लेखन की चर्चा को अपना लक्ष्य बनाता है। अतएव यह कहना ग़लत है कि पाठ्यक्रम में स्थान पा लेने वाले लेखकों को ही यशार्जन का लाभ मिलता है, अर्थार्जन के विषय में यह बात सही हो सकती है।

लेकिन विश्वविद्यालयों में समकालीन साहित्य की यह चर्चा यहाँ इसलिए नहीं उठाई गई है कि यश और अर्थ-लाभ के प्रति ही आज के लेखक को शिकायत है और यदि उसे पाठ्यक्रम में स्थान मिल जाएगा तो उसे आत्मतोष प्राप्त हो जाएगा। इस चर्चा का मूल कारण शायद यह है कि विश्वविद्यालयों में समकालीन साहित्य की पढ़ाई के तरीके से ही आज का लेखक क्षुब्ध है। विश्वविद्यालयों में आचार्य-पदाधिष्ठित विद्वानों की ओर से समकालीन साहित्य के सम्बन्ध में जो आलोचनाएँ और वक्तव्य सामने आते रहते हैं, उनसे या तो उनकी उपेक्षावृत्ति की सूचना मिलती है या संहार प्रवृत्ति की। प्रायः ऐसा जान पड़ता है कि इन विद्वानों में प्राचीन का मोह अधिक है, नवीन के साथ चलने और उसे समझने की सजगता कम। समकालीन लेखकों का इस स्थति से विचलित होना स्वाभाविक है। साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करने और सही दिशा में पाठक को ले चलने का उत्तरदायित्व जिन लोगों पर है, यदि वे अक्षम हैं या अपने कर्तव्य के प्रति सचेत नहीं है, तो साहित्य के उपकार की उनसे आशा नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में उपकार ही नहीं नये साहित्य के अपकार का भी भय बना रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविकता यह है कि विश्वविद्यालयों में प्राध्यापकों के प्रायः चार स्तर हैं— (१) वे जो केवल आजीविका के लिए इस पेशे में आ गए हैं और अपनी आरम्भ की प्रतिष्ठा की कमाई खा रहे हैं। (२) वे जो अध्ययनरत तो हैं, किन्तु प्राचीन साहित्य को ही महत्त्व देते और उसी का अध्ययन करते हैं। (३) वे जो पाठ्यक्रम देखकर विद्यार्थी-साहित्य का सर्जन करते हैं और नये-पुराने को या तो एक-से नियमों से आँकते हैं या दूसरे लेखकों के वचनों के संग्राहक हैं तथा (४) वे जो नये का सम्मान और अध्ययन भी करते हैं और उसका सर्जन भी। निश्चय ही इनमें अधिक संख्या पहली तीन श्रेणियों के प्राध्यापकों की है। चौथी श्रेणी के प्राध्यापक आयु, संस्था और अधिकार-सीमा तीनों बातों के कारण पाठ्यक्रम में समकालीन साहित्य को स्थान दिलाने में सहायक नहीं हो पाते और पाठ्यक्रम में समकालीन साहित्य का यथेष्ट स्थान न होने से उसके अध्यापन का अपेक्षित अवसर प्राप्त न करने के कारण वे अपने विचारों के प्रकाशन के लिए पत्र-पत्रिकाओं को ही अपना माध्यम बनाते हैं। दूसरे, विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक-चुनाव और अध्यापनार्थ पाठ्यक्रम-विभाजन का ढंग कुछ ऐसा है कि समकालीन साहित्य के प्रति क्या प्राचीन साहित्य के प्रति भी कुछ न्याय नहीं हो पाता। कई विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान के विशेषज्ञ भाषाविज्ञान न पढ़ाकर आधुनिक काव्य का अध्यापन करते हैं, कई प्राध्यापक नाटकों पर शोध करके तुलसीदास का विशेष अध्ययन कराते और उसी में अपना गौरव मानते हैं। स्पष्ट है कि परिणाम अच्छा नहीं होता। यह सब क्यों होता है? इसलिए कि नियुक्ति के समय आवश्यकता का नहीं व्यक्ति का ध्यान रखा जाता है। अध्यापन के पेशे को लोगों ने ऐसे पवित्र पेशे के रूप में देखना बन्द कर दिया है जिसमें अध्यापक के पूर्ण मनोयोग की आवश्यकता हो, बल्कि वह केवल तकनीकी पेशा रह गया है। अतः जिस विषय के अध्यापक की आवश्यकता है उसकी नियुक्ति अब नहीं होती और उसका कुपरिणाम भोगना पड़ता है अध्ययन-रत पीढ़ी को। ऐसा नहीं है कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में समकालीन साहित्य की नितान्त उपेक्षा होती हो, सही बात यह है कि उनके अध्यापन की उचित व्यवस्था नहीं होती। काम का बँटवारा ही इस उपेक्षा के लिए उत्तरदायी है। अध्यापन की सुचारुता केवल दीर्घ-अध्यापनानुभव पर निर्भर नहीं हैं, अध्यापक की विषय के प्रति रुचि और उसके चिन्तन-विकास पर भी निर्भर है। दीर्घ-अध्यापन बात कहने, समझाने और कभी-कभी बहका देने के ढंगों में तो अध्यापक को प्रवीण कर देता है, नवीन चिन्तन को आवश्यक रूप से दिशा नहीं देता। दीर्घ-अध्यापन रुचि और चिन्तन के अभाव में पुराना पड़ जाता है और पुरानापन पिछड़ने का ही द्योतक है। साहित्य का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिसमें नवीन चिन्तन आवश्यक हो। भाषा-विज्ञान से लेकर कविता और गद्य-विधाओं तक इतनी नई बातें, इतने नये-सिद्धान्त और इतनी नई रूप-विधाएँ हमारे यहाँ आ चुकी हैं कि किसी भी क्षेत्र में आज से दस वर्ष पूर्व तक का ही ज्ञान रखने वाला प्राध्यापक साहित्य के साथ उचित न्याय नहीं कर सकता। चिन्तन को आगे बढ़ाना है तो समकालीन साहित्य को पढ़ना और पढ़ाना होगा और इस समकालीन साहित्य में केवल हिन्दी साहित्य ही नहीं, उसे प्रभावित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाले साहित्य को भी अपने अध्ययन-अध्यापन का विषय बनाना होगा। लेकिन नये और पुराने के बीच जो एक अन्तर बोध के स्तर पर आ गया दीखता है और ज्ञान तथा साहित्य की शाखाओं में जो इधर मुद्रण की सुविधा के कारण विस्तार आ गया है, उसके कारण प्रायः यह सम्भव नहीं रह जाता कि हर व्यक्ति हर शाखा के पूर्ण ज्ञान से पण्डित बन चुका हो या बन सकेगा। साहित्य जितना ही अधिक लिखा जा रहा है और जितने क्षेत्रों से प्रभावित हो रहा है उन्हें देखते हुए यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं होना चाहिए कि गहराई के लिए अब सीमित ज्ञान अनपेक्षित नहीं, अपेक्षित है। सामान्यतः अन्य शाखाओं का परिचय हो यह सही है, किन्तु अध्यापन की यह विवशता है कि सामान्यतया नहीं विशिष्टता ही वहाँ गरिमामयी होती है। यह स्थिति स्वीकार कर लें तो यह मानने में भी कोई आपत्ति कदाचित् ही रह जाए कि जो पुराने पड़ गए हैं, उन्हें केवल पुराने साहित्य के अध्यापन तक का ही दायित्व सौंपा जाए और नये के लिए नये प्राध्यापकों को आगे बढ़ने दिया जाए। समकालीन साहित्य के पक्षधरों की ओर से की जाने वाली आपत्ति में मुझे कुछ सार इसलिए नहीं दिखाई देता कि पुराने अपने संस्कारों और पुरानेपन से जितने विवश हैं, नये भी नयेपन के सन्दर्भ में उससे कम दोषी नहीं हैं। प्रायः नये लोग प्राचीन साहित्य के ज्ञान के प्रति उपेक्षावृत्ति वाले और यदाकदा उससे शून्य देखे जाते हैं, पुराने किसी ग्रन्थ का प्रमाण उनके बीच सदैव उपहास्य बना रहता है और अंग्रेजी उद्धरणों की कतरनें और वहाँ पढ़ी हुई बातों की हिन्दी उपस्थित करने में ही उनका गौरव माना जाता है। प्राचीन और नवीन के बीच यदि इतना गहरा अन्तर आ गया है तो दोनों के अध्ययन के लिए अलग-अलग ढंग के प्राध्यापकों की नियुक्ति और उनके काम का बँटवारा करने में हर्ज ही क्या है?

समकालीन साहित्य के लिए यद्यपि पाठ्यक्रम में अब भी व्यवस्था रहती है, इतिहास के सन्दर्भ और उसकी सीमा में समकालीन साहित्य की विधाएँ भी आती हैं, प्रसाद की रचनाएँ, रामकुमार वर्मा के नाटक, इलाचन्द्र, वृन्दावनलाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास और ललित निबन्ध आदि छपते-छपते विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान पा गए थे और अब भी नई कुछ रचनाओं को स्थान मिलता ही चलता है, किन्तु कविता-साहित्य की अवहेलना-सी हो गई लगती है। प्रगतिवाद से नई कविता तक की रचनाएँ अपठित ही रह गई हैं, उपन्यासों में भी 'शेखर : एक जीवनी' से लेकर आगे का साहित्य उपेक्षित-सा ही दीखता है। यही कारण है कि आज विश्वविद्यालयों के समकालीन साहित्य के अध्यापन का प्रश्न एक समस्या के रूप में उपस्थित हुआ है। यह सब होते हुए भी यह देखने में आता है कि विश्वविद्यालयों से शोध-प्रबन्ध और एम० ए० कक्षा के लिए लिखित अधिनिबन्धों में अधिकांश का विषय आधुनिक काल और नया साहित्य होता है। हिन्दी में जितने शोध के विषय विभिन्न विश्वविद्यालयों से स्वीकृत हुए हैं उनके सामने प्राचीन साहित्य से सम्बन्धित विषयों की संख्या नगण्य न कही जा सकती हो तो बहुत उत्साहवर्धक भी नहीं है। नई कविता तक के सम्बन्ध में कई विश्वविद्यालयों से प्रबन्ध और अधिनिबन्ध सामने आ चुके हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आने वाले हैं। निश्चय ही विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक नये साहित्य के प्रति अचेत नहीं हैं, समस्या केवल उनके सोचने के ढंग से उपस्थित हुई है और इसलिए भी उपस्थित हुई है कि विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों ने प्रायः सूर, तुलसी, जायसी, रहीम, रसखान आदि पर बँधी प्रणाली पर आलोचनाओं को अधिक प्रस्तुत किया है, नये ढंग से सोचने का उपक्रम कम ही किया है। आलोचना के जो मूल्य उन्होंने पुराने साहित्य के लिए अपनाये थे, नये साहित्य के सम्बन्ध में भी उन्हीं का प्रयोग कर रहे हैं। मेरी समझ से यदि समकालीन साहित्य के लिए एम० ए० के स्तर पर एक प्रश्न-पत्र ही अलग हो और उससे निचले स्तर तक साहित्य का इतिहास पढ़ाते समय समकालीन सृजनात्मक साहित्य की अपेक्षित विस्तार के साथ चर्चा की जाए और गद्य-संकलनों में अनिवार्यतः नये साहित्य के सम्बन्ध में दो-एक अच्छे लेख संगृहीत हों तो समकालीन साहित्य के साथ न्याय किया जा सकता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि हमारे पाठचक्रमों में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को एकत्र रखकर देखें तो पता चलेगा कि पाठ्यक्रम-समितियों के सदस्यों ने पाठ्यक्रम निर्धारण के समय न तो इस बात का ध्यान रखा है कि आयु-भेद से प्रत्येक कक्षा में पढ़ाये जाने के लिए एक ही या भिन्न-भिन्न कवियों और लेखकों के कौन-से पद और लेखादि हो सकते हैं, न उन्हें यही देख लेने की आवश्यकता का कभी अनुभव होता है कि एक स्तर पर जिन रसालंकारादि का ज्ञान उन्होंने विद्यार्थी को करा दिया है, दूसरे ऊँचे स्तर पर उनकी आवश्यकता नहीं, उनसे भिन्न की आवश्यकता है। संग्रह किन्हीं पदों का किया जाता है, प्रश्न किन्हीं और पदों से सम्बन्धित आते हैं। प्रश्नों के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी स्थिति है कि एक सेट टाइप के प्रश्न ही परीक्षा में आते हैं। किन्तु ये अवान्तर बातें हैं। जब आज से कई वर्ष पूर्व भारतीय हिन्दी परिषद् जैसी शुद्ध प्राध्यापक संस्था की ओर से दिल्ली विश्वविद्यालय में बुलाई गई पाठ्यक्रम-विचार-गोष्ठी के निर्णय ही आज तक प्रकाशित नहीं हो सके और न उसके अनुरूप ही किसी विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम ढला तो आमूल-चूल परिवर्तन की बात तो निरर्थक छेड़खानी ही है, यदि समकालीन साहित्य का प्राध्यापकों का उचित बँटवारा और उसके अध्ययन के लिए पृथक् व्यवस्था ही हो जाए तो भी अलम् समझिए।

डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय

(३)

मैं यह मानकर चलता हूँ कि साहित्य में आधुनिक और समकालीन के बीच के अन्तर को यहाँ ध्यान में रखा जाएगा क्योंकि मेरा लक्ष्य यहाँ उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में आधुनिक साहित्य के समावेश और उसके अध्ययन की समस्याओं पर विचार करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, केवल अत्यंत अदूरगत काल में प्रणीत साहित्य को समाविष्ट करने की सम्भावना पर विचार करना है। मैं समझता हूँ कि एकाधिक कारणों से इस प्रश्न पर विचार करना न केवल प्रासंगिक बल्कि अनिवार्य रूप से आवश्यक भी हो गया है। एक तो यह कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही साहित्य में निरूपित विषय के रूप में जीवन इतना प्रमुख हो गया है—विशेषतः साहित्यकार को दूसरे महायुद्ध के पश्चात् उसके चतुर्दिक की जीवनपद्धति ने इतने प्रबल रूप से प्रभावित किया है कि जीवन और साहित्य के इस नवीन सम्बन्ध का जायजा न लेने से स्वयं साहित्य का अपने जीवित परिवेश से उच्छिन्न हो जाने का खतरा है। दूसरे, शिक्षण की उच्चतम संस्था होने के नाते नव-लेखन के प्रति विश्वविद्यालय का दृष्टिकोण भावी साहित्य-सर्जना को बहुत कुछ अनुशासित और प्रभावित कर सकता है। खेद है कि समकालीन साहित्य के लिये प्राध्यापकवर्ग में सहज उदासीनता का भाव होने के कारण अभी यह वांछित स्थिति नहीं उत्पन्न हो सकी है, लेकिन ऐसी आशा की जा सकती है कि, भले ही परिस्थितियों के दबाव से, स्थिति में सुधार होगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की कदाचित सबसे चमत्कारी विशेषता उसके विकास की त्वरा है। पिछली अर्धशताब्दी में अत्यन्त सीमित काल विस्तार में हिन्दी ने अत्यंत क्षिप्र गति से विकसित होते हुए साहित्यिक गरिमा प्राप्त की है और उसकी उपलब्धियाँ भी केवल परिमाणात्मक ही नहीं गुणात्मक भी रही हैं। किसी भी भाषा साहित्य के इतिहास में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलेगा। आखिर रहस्य क्या था कि खड़ी बोली कविता के जन्म के केवल पैंतीस वर्ष के भीतर 'कामायनी'-जैसी रचना प्रस्तुत हो सकी? कि आधुनिक हिन्दी कहानी के जन्म के पन्द्रहवें-सोलहवें वर्ष में ही 'उसने कहा था' और 'पंचपरमेश्वर' जैसी कहानियाँ लिखी गयीं? स्मरण रहे कि इनमें से कोई एक रचना अपवाद रूप से श्रेष्ठ कृति नहीं है—हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल जैसे एक सम्पूर्ण युग की प्रतिभा का प्रस्फुटन काल है! और पिछले तीन-चार दशकों की समग्र रचनाओं का नाम गिनाना भी कठिन कार्य है—यह किस प्रकार सम्भव हुआ? कदाचित इसका सबसे प्रमुख कारण भावों की संवाहिका एक नयी भाषा के रूप में खड़ी बोली का उदय था जिसकी अन्तर्निहित जीवंतता ने युग-प्रतिभा को अभिव्यक्ति का सहज साधन प्रदान किया।

यदि आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास को हम आधुनिक युग की एक चमत्कारी घटना मानते हैं तो इसी के साथ इस युग की कदाचित सबसे बड़ी विडम्बना भी जुड़ी थी कि समकालीन साहित्य और साहित्यकार का जैसा विरोध हुआ और उसकी जितनी उपेक्षा इस काल में की गई, विश्वविद्यालय तथा उसके मान्य प्राध्यापकों द्वारा एवं अन्य उच्च शिक्षा संस्थाओं द्वारा उसका जैसा प्रबल बहिष्कार किया गया वैसा भी किसी दूसरे देश के इतिहास में या अपने देश में भी पहले कभी नहीं हुआ था। हिन्दी में विशेषकर समकालीन साहित्य के विरोध की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। सन् २०-३० के बीच काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और फिर प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की स्थापना हुई और यही काल हिन्दी में छायावाद के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्थान और प्रसार का युग था। यहाँ छायावाद के विरोध का इतिहास दुहराने की आवश्यकता नहीं है, केवल इतना स्मरण दिलाना ही पर्याप्त होगा कि छायावाद की नवीन परम्परामुक्त कविता-शैली का सबसे कड़ा विरोध विश्वविद्यालय के परम्परावादी प्राध्यापकों द्वारा ही किया गया था। इस प्रसंग में आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल का नाम सहज ही ध्यान में आ जाता है। किसी ने कहा था कि शुक्लजी से "नया लेखक डरता है, पुराना घबराता है और पण्डित सिर हिलाता है"—ऐसे शुक्लजी के आरोपों का खण्डन करने का साहस एक निराला को छोड़कर किसी दूसरे छायावादी कवि में नहीं था। निराला ने अपनी स्वाभाविक निर्भीकता के साथ जो उत्तर "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यापक छात्र-संसदि-लब्धकीर्ति पं० रामचन्द्र शुक्ल" को 'समालोचक' के भाग ३ संख्या ६ में दिया है वह छायावादी सिद्धान्तों की एक सुन्दर व्याख्या होने के अतिरिक्त आलोचना साहित्य की एक अनमोल निधि है। ध्यान रहे कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापक ही आज से नहीं बहुत पहिले से पाठचपुस्तकों के रचयिता और संकलन कर्ता होते आये हैं और इन्हीं के हाथों विभिन्न पाठ्यक्रमों का निर्धारण होता था। अतः इनका विरोध ऐसा नहीं था जिसे सहज ही झेला जा सके। इसके बावजूद भी छायावादी कवि मैदान में डटे रहे, उनकी कविता काल को झेल सकी, यह उसकी जीवंतता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

समकालीन साहित्यकार और उसका साहित्य उच्च शिक्षा संस्थाओं द्वारा ही नहीं समाज के द्वारा भी उपेक्षा पाता रहा है। जब प्रेमचन्द की अर्थी बनारस की गलियों से होकर गुजर रही थी तो किनारे खड़ी भीड़ में से किसी ने अपने साथी से पूछा "कहो कौन मर गया?" उसके साथी ने उत्तर दिया "लगता है कोई स्कूलमास्टर मर गया है।"—वह प्रेमचन्द जिन्होंने कुछ नहीं तो कई सौ चटपटी कहानियाँ और मज़ेदार उपन्यास लिखे थे और जिनके जीवन का अधिकांश उसी नगर में व्यतीत हुआ था! और प्रेमचन्द, लोग बताते हैं, काफ़ी मिलनसार किस्म के व्यक्ति थे। प्रसाद दूसरे उदाहरण हैं, जिनका अन्तिम समय भी दुखमय व्यतीत हुआ। निराला तीसरे उदाहरण हैं, किंचित अधिक सौभाग्यशाली क्योंकि निराला मरने के पहले ही एक मिथ बन गये थे—नहीं तो उनका जीवन कहीं अधिक उपेक्षा को झेल कर समाप्त होता!

आज कालक्षेप के कारण परिस्थितियों में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है, आज प्राचीन और नवीन के बीच का अंतराल पहले जितना दीर्घ नहीं रहा लेकिन समकालीन साहित्य और लेखक के प्रति शिक्षा में ज़िम्मेदार लोगों का दृष्टिकोण बिलकुल भी नहीं बदला है, आज भी उनके प्रति पहले जैसी ही ठण्डी उदासीनता बरती जा रही है। आज से तीस वर्ष पहले उच्च कक्षाओं के पाठचक्रम से छायावादी कविता को विरोधपूर्वक अलग रखा जाता था वैसे ही आज भी समकालीन साहित्य को रखा जा रहा है—अब समकालीन साहित्य के प्रति विरोध का भाव नहीं, केवल उपेक्षा या उदासीनता का भाव है। मैं किसी एक शैली या सम्प्रदाय को पाठचक्रम के द्वारा मान्यता दिलाने की हिमायत नहीं करता। मेरा आग्रह पाठचक्रम को युग के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समवर्ती और उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के लिए है। जब हम मानते हैं कि साहित्य एक व्यक्ति की सृष्टि होते हुए भी उस व्यक्ति के अतिरिक्त पूरे युग की समष्टि को भी चित्रित करता है, जब हम कहते हैं कि एक रचनाकार की कृतियाँ अपने समकालीन युग की चेतना का भी वहन करती हैं तो सिद्धान्ततः हम यह स्वीकार करने को प्रेरित होते हैं कि शिक्षार्थी को अपनी समकालीन चेतना को तत्कालीन साहित्य में देखने-पहचानने के लिए प्रेरित और शिक्षित करना उच्च शिक्षा का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। यदि यह नहीं माना जाता कि उच्च शिक्षा का उद्देश्य बहुसंख्या में विद्यार्थियों को समकालीन चेतना से पीछे खींचे रखना है तो यह भी स्वीकार किया जाना चाहिये कि उन्हें अपने समकालीन लोकमानस को समझने का अधिकार है और इसके लिये साहित्य के अधुनातम से उनका परिचय होना आवश्यक है।

इस सारे विभ्रम का कारण पाठ्यक्रम के उद्देश्य को लेकर हमारे मन की भ्रांतियाँ हैं। मेरे विचार से उच्च या प्रारम्भिक किसी भी स्तर पर पाठ्यक्रम का उद्देश्य विद्यार्थी को पाठ्यक्रम की शिक्षा के द्वारा उस विषय का निष्णात विद्वान बनाना नहीं है—ऐसा होना सम्भव भी नहीं। पाठ्यक्रम का निर्धारण सदा इस दृष्टि से किया जाना चाहिये कि उसके द्वारा विषय से विद्यार्थी का परिचय यथासम्भव अधिक-से-अधिक विस्तीर्ण हो, विद्यार्थी की रुचि उस विषय में पैदा हो और सबसे अधिक कि वह उसके विवेक और प्रतिभा के विकास में सहायक हो। वस्तुतः उच्च शिक्षा का सबसे प्रमुख उद्देश्य यही है। कहना न होगा कि इस उद्देश्य की किंचित भी पूर्ति विश्वविद्यालयों में हिन्दी के पाठ्यक्रमों द्वारा सम्भव नहीं है। इनका अधिकतर अंश समसामयिक समस्याओं से असम्बद्ध होने के कारण नीरस और अरुचिकर है। कदाचित यह अपने-आपमें एक पृथक घटना न होकर हमारे आज के जीवन में व्याप्त जड़िमा का एक उपलक्षण मात्र है। जैसे काफी देर तक चलते रहने के बाद चलने की पृथक चेतना का तिरोभाव हो जाता है उसी प्रकार आज हमारे जीवन के अधिकतर क्रियाकलाप सड़क पर किनारे-किनारे चलने से लेकर पाँच-पाँच वर्ष पर आने वाले आम चुनाव और चीनी आक्रमण तक होने की हमारी चेतना से परे यों ही होते जा रहे हैं—उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम उसी प्रकार चल रहे हैं। वस्तुस्थिति यह है कि देश के स्वाधीन हो जाने के बाद इन सत्रह वर्षों के बाद भी हमारी शिक्षानीति लगभग बिलकुल वही है—जैसे हमारी शिक्षा का उद्देश्य एक बिगड़ा हुआ रिकार्ड है जो गीत का एक ही बेतुका शब्द लगातार रटे जा रहा है।

आज भी विभिन्न कक्षाओं के हिन्दी पाठ्यक्रम का अधिकांश भाग सूर और तुलसी—या छः अथवा आठ अथवा बारह कवि-नामों द्वारा समावृत है, जैसे आज से तीस वर्ष पहले था। सूर और तुलसी आज भी उच्च कक्षाओं में विशेष अध्ययन के जमे-जमाए आजमाए हुए विषय हैं। इस प्रकार आज भी अधिकतर कक्षाओं के पाठ्यक्रम की अधुनातम सीमा वही है जो आज से तीस वर्ष पहले थी—सेफ लिमिट अभी भी भारतेन्दु युग तक ही मान्य है—जैसे तीस वर्ष पहले मान्य थी। यह नहीं कि इनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोझ उतारकर इनसे पीछा छुड़ाया जाना चाहिए लेकिन सूर और तुलसी को छोड़ देने पर हिन्दी के पास रह क्या जाएगा, यह सोचकर दूबरे होने की भी आवश्यकता नहीं। विचारणीय यह है कि इन पिछले तीस वर्षों में क्या देश और विशेषतः हिन्दी के जीवन में कुछ भी घटित नहीं हुआ ? आर्थिक संकट और दूसरा महायुद्ध और शीतयुद्ध और स्वाधीनता दिवस और पंचवर्षीय योजनाएँ और चीनी आक्रमण ? वास्तव में पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार करने की माँग के पीछे प्राचीन का विरोध करने की भावना नहीं है। आज जब समग्र राष्ट्र के लिए जाग्रत हो सधे हुए दृढ़ कदमों में आगे बढ़ने का अवसर या विवशता आ गई है, जब जन-जीवन का प्रत्येक अंग छिपी हुई आभ्यन्तरिक शक्तियों के अणु-अणु को संजोकर उसे एक व्यापक अनुशासन में ढाल रहा है, जब हिन्दी के सामने प्रसार की अमित सम्भावनाएँ हैं और उस पर भीतर-बाहर से आक्रमण हो रहे हैं, युग के अनुरूप शिक्षा को संगठित करने के हेतु पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार करना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

इस सबका दुष्परिणाम भी सहज ही देखने में आता है। जड़ और नीरस पाठ्यक्रम का पहला शिकार विद्यार्थी होता है, जिसे तमस से ज्योति की ओर ले आने के लिए पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाता है। एक विद्यार्थी अपनी पाठ्य-पुस्तक में 'उसने कहा था' शायद पहली बार आठवीं कक्षा में पढ़ता है और यह कहानी उसे छः वर्ष तक प्रायः लगातार एम० ए० कक्षा तक पढ़नी होती है। 'मेरी भव बाधा' निचली कक्षाओं से लेकर निस्सन्देह एम० ए० तक उसकी भव बाधा होती है। परिणामतः अधिकतर विद्यार्थियों के चेहरों पर एक करुणाजनक उदासीनता दिखाई देती है, जो कालान्तर में उनकी विचारणा का एक अनिवार्य अंग बन जाती है। विचारणीय है कि जब फ़िल्म का अधिक-से-अधिक लोकप्रिय गीत भी बीस या पन्द्रह बार लगातार दुहराये जाने पर श्रोता के लिए अपना आकर्षण खो देता है तो फिर एक जैसे नीरस पाठों का पाठ्यक्रम विद्यार्थी और अध्यापक के लिए कैसे रुचिकर हो सकता है ! फलतः ऊँघती हुई कक्षाएँ और उसे अपनी चीखती हुई आवाज़ से मानो जगाने की चेष्टा करते हुए अध्यापक—यह दृश्य अक्सर दिखाई दे जाता है।

अध्यापक भी इस नीरस पाठ्यक्रम का बेचारा कम शिकार नहीं होता। प्रतिवर्ष बेंचों पर बैठे चेहरे बदल-बदल जाते हैं लेकिन पुस्तक और उसके पाठ वही-के-वही रहते हैं। इसलिए किसी छोटी कक्षा के अध्यापक के मन में कक्षा के किसी शैतान विद्यार्थी के प्रति भी शायद वह कुढ़न न होगी जो उसकी पाठ्य-पुस्तक के लिए होती है। हाँ, विश्वविद्यालय का अध्यापक—या प्राध्यापक की स्थिति बहुत भिन्न है। यह एक बहुत ही ऊँचा और इसी कारण सुरक्षित पद है। इस उच्चासनासीन व्यक्ति की ओर नीचे का कोई चर-प्राणी आँख उठाकर देखने का साहस नहीं कर सकता ! सचमुच यदि आज के युग में कोई हाथी दाँत की मीनार की अखण्ड शान्ति में रहता है तो वही। उसे नया कुछ पढ़ना नहीं है। पढ़ने की आवश्यकता नहीं। बल्कि पढ़ा हुआ ही उसे भूलना है, क्योंकि न केवल यह कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं बल्कि यह भी कि अनुभव ने उसे सिखाया है कि नया ज्ञान और नई दृष्टि पाठ्य-पुस्तक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यार्थी के बीच एक अवरोध उत्पन्न करती है। यदि उसने एक बार खून-पसीना कर डाक्टरेट प्राप्त कर विश्वविद्यालयों में मान्य टीचर्स ट्रेनिंग सर्टिफ़िकेट ले लिया तो फिर पढ़ने मात्र से जीवन-भर का छुटकारा मिल गया है! यह विडम्बना कदाचित ही किसी दूसरे देश में दिखाई देगी और अपने देश में भी दूसरे विषयों में उतनी नहीं जितनी हिन्दी में आज दिखाई देती है। भौतिकी और रसायनशास्त्र आदि विषयों के अध्यापक प्रयोगों और नई-नई खोजों में निरन्तर जुटे रहते हैं? क्योंकि उन्हें समय से पिछड़ जाने का भय रहता है। सुना है कि भारत के ही किसी विश्व-विद्यालय में प्राध्यापकों की अगली वेतनवृद्धि उनके अनुसन्धान कार्य के आधार पर की जाती है। यह नियम सभी उच्च शिक्षा संस्थाओं के लिए सभी दृष्टियों से अनुकरणीय है। लेकिन अभी तो हिन्दी प्राध्यापकों के सौभाग्य से हिन्दी के क्षेत्रीय विस्तार और प्रसार का काल है—सन्देह है कि इसी में हिन्दी का भी सौभाग्य सन्निहित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अध्ययन के प्रति भारतीय विश्वविद्यालयों में प्राध्यापकों की उदासीनता जड़ और नीरस पाठचक्रम के कारण भी है—कम-से-कम पाठचक्रम ऐसा है कि वह उन्हें नया पढ़ने के लिए बाध्य तो नहीं करता।

समय से पिछड़े हुए पाठचक्रम के कुप्रभाव से स्वयं साहित्य की भावी प्रगति भी अछूती नहीं रह सकती। भले ही अब तक, विकास की प्रारम्भिक स्थिति में होने के कारण, रचनात्मक साहित्य के निर्माण पर शिक्षा-संस्थाओं की प्रेरणा और उसका अंकुश न रहा हो, किन्तु भविष्य में स्थिति इससे भिन्न होगी। यह नहीं कि उच्च-शिक्षा-संस्थाओं द्वारा समकालीन रचनाकारों पर कोई सीधा अनुशासन ऊपर से आरोपित करना सम्भव है, किन्तु प्रत्येक सजग और समृद्ध साहित्य में आलोचकों और साहित्य समालोचन की एक ऐसी जीवन्त परम्परा होती है जो सामयिक साहित्य-कारों के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करती है। हिन्दी में ऐसी परम्परा का आज तक अभाव रहा है, किन्तु हिन्दी के सर्वाङ्गीण विकास के लिए ऐसी परम्परा का निर्माण अवश्य होना है और यह निस्सन्देह माना जा सकता है कि विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा की स्थिति इसमें निर्णायक योगदान कर सकती है।

हमें इस जड़िमा से उच्च-शिक्षा को मुक्त कराने का उपाय भी सोचना है—मुख्यतः हिन्दी पर जो आक्रमण हो रहे हैं और हिन्दी को जो गौरवपूर्ण स्थान अपनी क्षमता के बल पर प्राप्त करना है उसे दृष्टि में रखते हुए हिन्दी की उच्च-शिक्षा के आयोजन पर विशेष ध्यान देना है।

दुर्भाग्य का विषय है कि आज पाठचक्रम शिक्षा-सिद्धान्तों की अपेक्षा व्याव-सायिकता से अधिक प्रभावित और संचालित होता है। विडम्बना तो यह है कि अध्यापक जो इस व्यावसायिकता की आसुरी माया से मुक्ति दिला सकता था, स्वयं उसी आसुरी माया के हाथों का खिलौना बन बैठा है। पुस्तक व्यवसाय का सम्पूर्ण रूप से राष्ट्रीयकरण करके भी इस संकट को दूर नहीं किया जा सकता। वैसे ही जैसे आज के अन्य दूसरे संकटों को हल नहीं किया जा सकता। वह निदान दूसरा है। पर उसके लिए अर्धशताब्दी के इतिहास पर पुनर्विचार करना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बलवंत गार्गी

ब्रेख़्त का थियेटर

आज से दस साल पहले ब्रेख़्त के थियेटर को भारत में कोई नहीं जानता था। इंगलैंड में भी इसकी कोई चर्चा नहीं थी। प्रसिद्ध अंग्रेज अभिनेता सर जान गिलगुड ने ब्रेख़्त का एक लेख पढ़कर कहा था : "यह लेख अस्पष्ट है, बकवास है और नीरस है।"

आज ब्रेख़्त, उसका महानाट्य और 'निस्संगता' का सिद्धान्त नाटक-जगत के अनिवार्य शब्द हैं। लोग लन्दन से, पेरिस से, न्यूयार्क और टोकियो से ब्रेख़्त के थियेटर को देखने के लिए पूर्वी बर्लिन के उस भाग में आते हैं जिसके इर्द-गिर्द अब दीवार खिंच गई है। हिटलर के नृशंस राज्य के अन्त पर, पन्द्रह वर्ष देश-निकाले के बाद ब्रेख़्त बर्लिन लौटा और उसने अपने पुराने अभिनेता-साथियों को इकट्ठा करके १९४९ में 'बर्लिनर एन्सामबल' स्थापित किया। यह 'एन्सामबल' अब नाटक-प्रेमियों के लिए तीर्थ-स्थान बन गया है।

ब्रेख़्त का यह नया थियेटर उन्नीसवीं सदी की एक छोटी-सी पुरानी इमारत में है—गन्दले चीकट दरिया के किनारे। शाम के समय जब नाटक होता है, इस बिल्डिंग के बुर्ज पर एक गोल चक्कर घूमता है जिसमें 'बर्लिनर एन्सामबल' शब्द जड़े हुए हैं। यहाँ ब्रेख़्त ने सात वर्ष (१९५६ में उसका देहान्त हो गया) तक अपने नाटकों का निर्देशन किया। पूर्वी नाट्य-परम्पराओं का उस पर गहरा प्रभाव था। अपने नाटकों में उसने गीत, मूक-अभिनय, शैलीबद्ध-सम्वाद, और मुखोटों का प्रयोग किया और पश्चिम के घोर यथार्थवाद में इन शैलियों को रचा कर अपना 'महानाट्य' प्रस्तुत किया।

ब्रेख़्त के नाटक में ऐसी क्या चीज़ है जो इन्हें प्रभावशाली बनाती है? उसके शब्दों में ऐसी क्या बात है जो दर्शकों के दिल में उतर जाती है? उसके सम्वाद सहज हैं लेकिन उनमें जीवन का विरोधाभास है। वह लोकोक्तियों और प्रचलित मुहावरों का प्रयोग करता है लेकिन विपरीत अर्थ में—जैसे कोई उलटी कमीज़ पहन ले। उदाहरण के लिए : 'आस्था से आदमी पहाड़ हिला सकता है' के बजाय ब्रेख़्त कहता है: 'शंका से आदमी पहाड़ हिला सकता है।' 'सौभाग्यशाली है वह जो वीरों को जन्म देता है,' के बजाय वह कहता है : 'दुर्भाग्य उस देश का जिसको वीरों की आवश्यकता है।'

ब्रेख़्त के कथनानुसार लोग साधारण दिनचर्या में घटनाओं के इतने अभ्यस्त हैं कि वे उन्हें देखते हैं, पर नहीं देखते। दफ्तर जाता हुआ क्लर्क हर रोज़ गिरजाघर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पास से गुजरता है पर उसे देखता नहीं। लेकिन अचानक एक दिन गिरजाघर टेढ़ा हो जाए तो वह क्लर्क चौंककर रुक जाएगा और सोचने लगेगा। ब्रेख्त प्रचलित मूल्यों को झटके से तोड़ देता है। वह समस्याओं का निराकरण पेश नहीं करता। उसके मंच पर धीरोदात्त नायक नहीं होते। वह नायक की कमजोरियाँ और ग़लतियाँ दिखाकर दर्शक को विवश करता है कि वह पात्र को देखे-परखे और उस पर अपना निर्णय दे।

१९२७ नवम्बर के अपने एक लेख में वह कहता है : 'महानाट्य की विशेषता यह है कि यह दर्शक के भाव को इतना आन्दोलित नहीं करता है जितना उसकी बुद्धि को।'

महानाट्य का रूप प्रचलित नाट्य-रूप से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें नाटकीयता की बजाये वर्णनात्मक गुण होता है। यह मध्यकाल के कथाकारों और किस्सा सुनने वालों की कला से मेल खाता है। किसी शूरवीर की प्रशस्ति का बखान करते हुए कथाकार उसके जीवन की बहुत-सी घटनाओं को सामने लाता है। इनमें से हर एक घटना अपने-आपमें पूर्ण होते हुए भी एक कड़ी में बंधी होती है। चार्ली-चैपलिन की फिल्में, स्पेन के उपन्यासकार सरवान्ते के 'डान क्विजोट और पं० रतननाथ सरशार के फ़सानाए-आज़ाद में इसी प्रकार का वर्णनात्मक गुण है।

प्रचलित नाट्यरूप एक घटना को साकार करता है, महानाट्य उसका वर्णन करता है। पहला रूप दर्शक को नाटक के कार्य में उलझा लेता है, भावनाओं को उत्पन्न करता है, और जीवन को महसूस करने में सहायता देता है। इसके विपरीत महानाट्य दर्शक को तटस्थ दृष्टि देता है, तर्क से तीखी बौद्धिकता प्रदान करता है और उसे निर्णय करने पर मजबूर करता है। एक में मनुष्य की क्रियाशीलता को सुला दिया जाता है दूसरे में इस शक्ति को जगाया जाता है। पहले में उसकी भावनाएँ परखी जाती हैं, दूसरे में उसके उद्देश्य।

प्रचलित नाट्य रूप में घटनाएँ एक दिशा में बढ़ती हैं, एक दृश्य से दूसरा दृश्य उभरता है, एक कार्य से दूसरा कार्य फूटता है और नाटक चरम शिखर की ओर बढ़ता है। ब्रेख्त के महानाट्य में घटनाएँ वक्र गति से बढ़ती हैं, हर दृश्य अपने-आप में चित्र के समान पूर्ण होता है और प्रभाव बहुत से छोटे-छोटे दृश्य-खंडों से उत्पन्न किया जाता है।

दर्शकों की प्रतिक्रियाएँ भी दोनों रूपों में भिन्न-भिन्न हैं :

प्रचलित नाट्यरूप का दर्शक कहता है : 'अरे मैंने भी बिल्कुल इस पात्र की तरह महसूस किया था। यह तो मेरे ही मन का भाव था। बिल्कुल स्वाभाविक। यह भावनाएँ सदा ऐसी ही रहेंगी। इस पात्र का दुख मुझे झिंझोड़ता है क्योंकि इससे बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं। यह महान कला है क्योंकि हर चीज वहाँ स्वयं-सिद्ध है। जो पात्र रो रहे हैं मैं उनके साथ रोता हूँ और जो हँस रहे हैं उनके साथ हँसता हूँ।'

महानाट्य का दर्शक कहता है : 'अरे मैंने ऐसा नहीं सोचा था। यह तो मेरे मन में कभी आया ही नहीं। बिल्कुल अजीब। ये भावनाएँ बदली जा सकती हैं। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पात्र का दुख मुझे झिंझोड़ता है क्योंकि इससे बाहर निकलने का भी शायद कोई रास्ता हो । यह महान कला है क्योंकि इसमें कोई चीज़ स्वयंसिद्ध नहीं । जो पात्र रो रहे हैं मुझे उन पर हंसी आती है; जो हँस रहे हैं मुझे उन पर रोना आता है ।'

ब्रेख्त के पात्र कठोर हैं, ताम्बे के कलसे की तरह जिसमें दगचे पड़े हुए हों। उनमें जीवन की असंगतियाँ हैं । उसके प्रसिद्ध नाटक 'दिलेर माँ' की पृष्ठभूमि यूरोप का तीस वर्षीय युद्ध है । इसकी नायिका माँ में प्यार, कमीनगी, व्यभिचारिता, कड़वाहट, ज़िद और खुदगरज़ी है । वह अपने छकड़े में बैठी है जिसमें उसके दो बेटे जुते हुए हैं और उसकी गूँगी नेक बेटी मुँह का बाजा बजा रही है । माँ युद्ध का गीत गाती हुई युद्ध-स्थल में चीज़ें बेचती फिरती है—शराब, चमड़े की पेटियाँ, बारूद-सिक्का, और चोरी की चीजें । जब उसका एक बेटा पकड़ा जाता है तो एक वेश्या उसे छुड़वाने के लिए दल्लाला का काम करती है । माँ जो कौड़ी-कौड़ी दाँतों से पकड़ती है फौजी अफसर से उसी दल्लाला के ज़रिए कई बार भावताव करती है । वह अपने बेटे को बचाने के लिए जिसे वह बहुत चाहती है, दो सौ सिक्के देने में हिचकिचाती है । अन्त में वह कीमत घटाकर रकम देने को मान जाती है तब तक उसका बेटा गोली से उड़ा दिया गया होता है ।

ब्रेख्त जीवन की उन स्थितियों को प्रस्तुत करता है और उन ऐतिहासिक कारणों को ढूंढ़ता है जिनमें मनुष्य को बदलते हुए और नए रूप ग्रहण करते हुए दिखा सके। वह दर्शक के मन में ऐसे प्रश्न खड़े कर देता है जिनसे वह सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने पर विवश हो जाए । माँ अपने दोनों बेटों की मौत और अपनी बेटी को गोली लग जाने पर युद्ध के भयानक वातावरण में घिरी हुई पशु के समान हाँफती हुई अकेली छकड़े को खेंचती है । अब भी उसमें इस घिनौनी जंग में अपना टूटा-फूटा माल बेचकर पैसा कमाने का लालच है ।

'काकेशिया का न्याय-चक्र' की घटनाएँ मध्य-युगीन काकेशिया की है । शहर के गवर्नर की बीबी क्रांति हो जाने पर अपने नन्हें बच्चे को छोड़कर भाग जाती है। उसकी दासी ग्रूसा जो एक स्वस्थ नवयुवती है, बच्चे को बचाकर ले जाती है । शाही महल के जासूस सिपाही उसे जगह-जगह ढूंढ़ते हैं और वह अपना सिर छुपाती, मुसीबतों की मारी बच्चे को लिए-लिए फिरती है । उसमें ममता जाग पड़ती है । वह अपना सब-कुछ क़ुर्बान कर बच्चे को पालती है । परिस्थितियाँ बदलती हैं, विद्रोही-शासन उलट जाता है और भागी हुई गवर्नर की बीवी फिर आकर राज्य सम्हाल लेती है । उसके जासूस ग्रूसा को पकड़ लाते हैं । मुकदमा अजहक की अदालत में पेश किया जाता है जो लोभी, लम्पट, शराबी, रिश्वतखोर फिलासफर है लेकिन सही फैसला देता है । बच्चा किसका है ? कौन उसकी सही माँ है ? वह जिसने उसे जन्म दिया या वह जिसने उसे पाला ?' अजहक का फैसला ग़रीब नौकरानी ग्रूसा के हक में जाता है । वही उसकी असली माँ है—नन्हें बच्चे को जन्म देकर छोड़ जानेवाली माँ असली माँ नहीं । इस घटना के पीछे यह दार्शनिक समस्या भी उभरकर आती है : खेत किसका है ?—वह जो इसका मालिक है या वह किसान जो हल चलाकर फ़सल उगाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रेख्त की यह धारणा है कि दर्शक नाटक के कार्य में लीन होकर अपने-आपको भूल न जाए। वह बार-बार दर्शकों को इस बात की चेतावनी देता रहता है कि वे नाट्य-गृह में बैठे नाटक देख रहे हैं। दर्शक को सचेत रहना चाहिए। इसीलिए ब्रेख्त ने अपने दर्शकों को १९२८-३० में नाट्यगृह में सिगरेट पीने की छूट दे रखी थी क्योंकि उसका खयाल था कि सिगरेट पीने से दिमाग चैतन्य रहता है। यूरोप के किसी थियेटर में सिगरेट पीने की इजाजत नहीं है।' इस सचेत अवस्था को बनाए रखने के लिए वह कथाकार, गीत, स्वगत-कथन और ऐसे पदों का प्रयोग करता है जिन पर आने वाले दृश्यों की सूचना और घटनाओं के सारांश दिए जाते हैं।

जब ब्रेख्त नवयुवक था उसने अपना बहुत-सा समय बाज़ारी गवैयों, मसखरों, बाजीगरों, सरकस के जोकरों, शराबियों और टकियाइयों के साथ गुज़ारा। वह चंडूखानों, घटिया शराबघरों और धींगामुश्ती के अखाड़ों में अक्सर जाता था। इससे उसके लेखन में निचले तबक़े और दुतकारे हुए संसार की गन्ध आ गई। वह महान संगीतकार वेग्नर का विरोधी था। वह खेलों, तमाशों, नाचघरों, घटिया बाज़ारी गानों, जाज़ संगीत और भूली-बिसरी धुनों का शैदाई था। वह संगीत की सहज स्वच्छ उज्ज्वलता और शक्ति के आकर्षण से परिचित था। वह इस बात में विश्वास रखता था कि संगीत और धुन की रूपरेखा स्पष्ट हो। वह ऐसे संगीत को बर्दाश्त नहीं करता था, जो उसकी कविता या शब्दों को धुँधला दे। उसके कथनानुसार "संगीत, धुन और शैलीबद्ध अभिनय को चाहिए कि वे शब्दों के अर्थ को उभार कर पेश करें।" उसका तेज़ बदलता हुआ छन्द-संगीत, चुभती हुई झंकारें, आपस में टकराती हुई सुरें और तीखे झकोले उसकी संगीत-शैली में संघर्ष का भाव भर देते हैं। इसमें तपी हुई आत्मा, मेहनत से चिचौड़े हुए अंग, जीवन की विभीषिका और घिनौनी विडम्बना नज़र आती है।

वह कथाकार और गीत का प्रयोग करता है, जो जापान के शास्त्रीय नाटक 'काबुकी' और भारत के लोकनाटकों की रूढ़ियों से प्रभावित है। कथाकार गाता है और आनेवाली घटनाओं की ओर संकेत करता है। मंच पर हो रहे कार्य की टीका करता है। रामलीला में गाई जानेवाली तुलसीदास की चौपाइयों की तरह पिछले दृश्य के अधूरे कार्य को अगले दृश्य से जोड़ता है। कई बार पात्र भावावेश में अपने मन की बात नहीं कह पाते। कथाकार गाकर उनके मन की बात बताता है। कहीं-कहीं जहाँ पात्र को गाना होता है, उसकी जगह कथाकार गाता है। इन सतर्क युक्तियों से अन्य आयामों को उद्घाटित करता है।

मैं ब्रेख्त के थियेटर में तीन महीने रहा और उसे अपने नाटकों का निर्देशन करते देखा। वह मंच पर दृश्यों को चित्रों की भाँति सजाता था। अन्तर्योजना, संयोजना और रंग-रेखाओं की संरचना में उसकी दृष्टि बहुत सूक्ष्म थी। वह संगीतात्मक और चित्रात्मक दृश्यों से अपने नाटकों को अधिक प्रभावशाली बनाता था। केसपर नेहर ने ब्रेख्त के नाटकों में दृश्यों और पात्रों के कल्पनामय चित्र बनाए और मिस्टर वाईल और टेन्स आईसलर ने भावप्रधान धुनें दीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रेख्त तार्किक बौद्धिकता का हामी था और इनकी अन्तिम विजय का प्रतिपादक। वह समझता था कि वाद-विवाद और तार्किकता मनुष्य के उत्तम मनोरंजन के साधन हैं। उसका नाटक इस प्रकार के मनोरंजन का पक्षपाती था। उसने मुझसे एक बार कहा, "यदि ज्ञान-प्राप्ति रंजन नहीं करता तो नाट्य-गृह सामाजिक चेतना को जगाने का स्थान नहीं रहेगा। हम यहाँ उस नैतिकता के पक्ष में नहीं बोल रहे हैं जिन पर अत्याचार हुआ है।"

ब्रेख्त रूढ़िगत यथार्थ का भ्रम पैदा नहीं करता। वह यथार्थ के भ्रम को भंग करता है और ऐसा नाटकीय-भ्रम पैदा करता है जो अधिक गहन, विस्तृत और आकर्षक है। जब अजहक का अभिनय करने वाला पात्र मंच पर आता है, इससे पहले वह कथाकार का अभिनय कर रहा था। वह दर्शकों को सम्बोधित करके कहता है, "अब मैं अजहक का अभिनय करूँगा।"—और जज का चोगा पहन लेता है।

एक और नाटक 'हर आर्थर आई' हिटलर के राज्यसत्ता पर अधिकार जमाने का रूपक है। इसमें एक धूर्त गुण्डे का चरित्र है। इसके आरम्भ में मंच पर कागज़ के बड़े चमकदार पुतले खड़े कर दिए जाते हैं। कथाकार इन सबका परिचय करवाता है। पुतलों के पीछे खड़े हुए पात्र एक-एक करके सामने जाते हैं और फिर पीछे छिपकर जा खड़े होते हैं।

प्रकाश-प्रभाव में कोई ट्रिक नहीं होती। उसने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि रोशनी सीधी और तेज़ हो ताकि उसके पात्रों के चेहरों पर भावों के उतार-चढ़ाव स्पष्ट नज़र आएँ। उसने अभिनय-कला, मंच-सामग्री, पर्दों, गीतों और दैनिक नाट्य-चर्या पर बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं, जो सूत्रों की तरह हैं। इसी प्रकार की एक कविता 'मंच-प्रकाश' पर भी है। इसमें वह कहता है : "ऊँघती हुई रोशनी में मेरे दर्शक ऊँघने लगेंगे। मिस्त्री जी ! चुंधियाने वाली तेज़ रोशनी दो ताकि दर्शक जागते रहें। अगर उन्हें सपने देखने हैं, तो चमकती हुई रोशनी में देखें। रात के अन्धेरे को हमारे जगमगाते हुए लैम्प और चाँद और गहरा सकते हैं। हम अपने अभिनय के द्वारा डूबते हुए दिन और आती हुई रात को व्यक्त करेंगे।···रोशनी तेज़ करो ताकि दर्शक हमारे नाटक को देखें, जो हमने उनके लिए तैयार किया है।"

मंच-सामग्री और वेशभूषा पर वह बहुत ज़ोर देता है। उसे पात्रों को चमका-दमकाकर पेश करने और 'सुन्दर' अभिनेत्रियों से चिढ़ थी। 'दिलेर मां की गूंगी बेटी' और 'न्याय-चक्र की नौकरानी ग्रूसा' का अभिनय अन्य देशों के अधिकांश मंचों पर खूबसूरत लड़कियों ने किया है। परन्तु ब्रेख्त के निर्देशन में यह अभिनय एक साधारण, मोटी ताजी मज़बूत लड़की करती है।

ब्रेख्त को ऐसी चीज़ें पसन्द थीं, जो इस्तेमाल करने से घिस गई हों। वह कहता है : "जो चीज़ें टूटी हुई हैं, इस्तेमालशुदा हैं, जो इन्सान के हाथ लग-लगकर घिस गई हैं—मुझे बहुत पसन्द हैं। प्याले जिनके दस्ते टूट गए हैं, किवाड़ जो चिकने हो गए हैं, पीतल के कटोरे जिनमें दगचे पड़े हुए हैं, जिन्हें सैकड़ों-हज़ारों हाथों ने छुआ है, जो 'हरजाई' होकर खास हो गई हैं—मुझे ये सब चीज़ें प्यारी हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके नाटकों में निचले तबके के लोगों की घिसी हुई पतलूनें, चिकने कोट, फटी हुई आस्तीनें और चीकट घाघरे बनाने के लिए एक विशेष फैक्टरी थी, जो कपड़ों में मध्यकाल के समय और बीते हुए युगों की बू-बास और रंग ले आती थी। एक बार ब्रेख्त की कम्पनी किसी दूसरे देश में नाटक खेलने गई। वहाँ के कुछ नाट्य-मुखियाओं ने जब एक्टरों को मंच पर घिसे-पिचे और मैल से मोमजामा बने कपड़ों में देखा, तो उन्होंने सहानुभूति दर्शाते हुए कहा कि इस कम्पनी के पास वेशभूषा और वस्त्र बहुत घटिया हैं। वे यह नहीं जानते थे कि इन कपड़ों को घटिया बनाने के लिए कितनी मेहनत और व्यय हुआ है।

ब्रेख्त पात्रों के स्वभाव और चरित्र को उभारने के लिए उनकी प्रकृति के अनुसार अर्द्ध-मुखौटे और बड़ी-बड़ी नक़ली दाढ़ी-मूँछें लगा देता था। किसी विशेष पात्र की आँखें तीखी और भेड़िए की तरह भूखी बनाने के लिए वह इनके इर्द-गिर्द लेप लगा देता था, नाक और गालों पर मोटी परत जमा देता था। 'न्याय-चक्र' का मोटा हँसोड़ शहज़ादा छाज-सी चौड़ी दाढ़ी लगाए हुए आता है और उसके हाथ की दसों उँगलियों में कीमती हीरे-पन्नी जड़ी अंगूठियाँ चमक रही होती हैं।

ब्रेख्त ने नाटकों से भावुकता और रूढ़िगत नाटकीय सज्जा की केंचुली उतार फेंकी है। वह 'विचार' के कपड़े उतार कर उसे नंगा कर देता है, जिससे हम उस 'विचार' के स्वस्थ शरीर और अंग देख पाते हैं। अभिनेता केवम अभिनय ही नहीं करता, बल्कि इसका प्रदर्शन भी करता है। प्रसिद्ध इतालवी अभिनेता सालवेनी ने कहा था, "अभिनेता अपने पात्र के भावमय जीवन में बसा हुआ केवल हँसता और रोता ही नहीं, बल्कि अपनी हँसी की आवाज़ भी सुनता है और अपने आँसुओं को बहते हुए भी देखता है।" ब्रेख्त के नाटकों में अभिनेता केवल दो जीवन ही नहीं जीता, बल्कि वह एक तीसरे रूप में भी प्रकट होता है, जो इतिहास के इसी प्रकार के अन्य पात्रों का आईना भी बन जाता है। उदाहरण के लिए 'न्याय-चक्र' का अजदक केवल जज ही नहीं, वह सुलेमान भी है, विक्रमादित्य भी है और धर्मराज भी। वह न्यायाधीशों का न्यायाधीश है।

ब्रेख्त के पात्र साधारण जीवन में मिलने वाले चरित्रों से बड़े हैं। उन्नीसवीं शताब्दि में इब्सन, आस्त्रोव्स्की और चेखव जीवित दुनिया को मंच पर ले आए। स्टान्सोल्वस्की ने इस यथार्थवादी प्रवृत्ति को शिखर पर पहुँचाया और हमें ऐसे पात्रों से परिचित कराया जिनको हम जानते हैं, जो हमारी दिनचर्या के अंग हैं और जिन्हें हम अन्तिम पर्दा गिर चुकने के बाद अपने भीतर देख सकते हैं। परन्तु ब्रेख्त के पात्र व्यक्तित्व का खोल तोड़कर बाहर निकलते हैं। उनका आकार बड़ा होता है। वे एक बड़े उद्देश्य को एक बड़ी पृष्टभूमि पर साकार करते हैं। उसने यथार्थ में कविता और संगीत का संचार करके इसके अन्दर एक और प्रकार का यथार्थ भरा, जो मानवता के मूल-तथ्यों को परखता है और हम में एक अन्तर्दृष्टि पैदा करता है। इस अर्थ में वह टैगोर, लोर्का, शेक्सपीयर और यूनानी नाटककारों की पंक्ति में आ खड़ा होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ

चारुचन्द्रलेख

मध्यकालीन इतिहासखण्ड का एक बत्तुल दर्पण

यह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का दूसरा उपन्यास है जो उपन्यास की दृष्टि से एक नया प्रयोग ज़रूर कहा जाएगा—बहुत कुछ 'एंटी-नावेल' जैसा प्रयोग। इस प्रयोग को चाहे असफल कहें या सफल; लेकिन प्रयोग ज़रूर है। यदि हम 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को हर्षकालीन संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में कला का अंगूर कह सकते हैं, तो 'चारुचन्द्रलेख' को भी पृथ्वीराज-जयचन्द्र के परवर्तीकाल के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन समाजचिन्तन की भूलभुलैयाँ। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कला और धर्म की नीरक्षीर मैत्री है, तो 'चारुचन्द्रलेख' में धर्म और इतिहास का भ्रमर-चम्पक कुयोग। सारे उपन्यास में आधुनिक शिक्षित संस्कारों से समावृत वैष्णवदृष्टि से जड़ीभूत मध्यकालीन धार्मिक और सामाजिक संस्कृति की विवेचना की गई है। इस वैष्णव दृष्टि में एक साधारण समाज (—गृहस्थजन) की भाँति एक ओर तो सामाजिक यथार्थता है, दूसरी ओर विवेकशीलता तथा परम्परा (Rationality and Tradition)। उपन्यास में तथ्य (fact), कल्पना (imagination), यथार्थता (reality) और अन्वेषण (invention) का जो इतना अद्वितीय और किंचित् अगल्पात्मक संयोग हुआ है, उसने पूरी तरह से उस युग के समाज तथा लोकचित्त को ही साक्षात् कर दिया है जिसके विषय में या तो इतिहास मौन है, या इतिहास कुछ महान् पुरुषों के रूप में पुष्पित नहीं हो पाया या फिर इतिहास ने उस युग की विशाल जनता को अपना उपजीव्य नहीं बनाया। इसलिए इस उपन्यास की महत्ता (शायद महानता भी) इस बात में है कि उपन्यास-कला पर बदलने की अपेक्षा इसने महान् नायक और महान् घटनाओं से विहीन अधोमुखी **"मध्यकाल के इतिहास की पुनर्रचना"** की है। इसीलिए लेखक को एक काल्पनिक घुड़सवार राजा (सातवाहन) को नायक मानना पड़ा और एक कल्पित चन्द्रलेखा को रानी नायिका। किन्तु उस काल के इतिहास की पुनर्रचना में 'पृथ्वीराज रासो' को उपजीव्य बनाकर लेखक ने विद्याधर (विज्जाहर), धर्मायण (बोधा प्रधान के पिता), नाटी माता (कनवज्जसमय की करनाटी), सुहागदेवी (सूहवदेवी), जल्हन, चन्द्रबलिद्दय (चन्द्रबरदाई), हाहुलीराय, धीर शर्मा, सीदी मौलादि जैसे राज एवं जनजीवन के अल्पख्यात पात्रों द्वारा ऐतिहासिक रोमांस को ऐतिहासिक उपन्यास तथा ऐतिहासिक अनुसंधान के स्तर पर उद्घारित किया है। इसके अलावा एक बात और भी प्रमाणित की गई है—'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पृथ्वीराज रासो' की तुलना से रासो के इतिहास तथा ऐतिहासिकता की स्थापना तो परोक्षरूप से यह उपन्यास 'पृथ्वीराज रासो' की। पर छानबीन भी है। सारांश यही है कि राजारानी, नागनाथ आदि की अधिकारिक कथा को तो मेरुतुंग के जैन प्रबन्ध ('प्रबन्ध चिन्तामणि') से गृहीत किया गया है (जो काल्पनिक है); और प्रासंगिक कथाओं को 'पृथ्वीराज रासो', 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह', 'तबकाते नासिरी' आदि से ग्रहण किया गया है (जो ऐतिहासिक हैं)। इस तरह यहाँ एक निजंधर (लीजेंड) की वृत्ति (theme) पर एक इतिहास का आच्छादन ही उस युग के समाज और युगबोध को उद्‌घाटित कर सका है। यह स्वयं में लेखक के इतिहास लेखन—(Historiography)—उपन्यास को निमित्त बनाकर इतिहास लेखन—के क्षेत्र में राहुल की तरह एक साहसपूर्ण प्रयास है; और काफी उत्तेजक है। इसलिए सफल भी है कि लेखक ने युग की अन्तर्मुखी चेतना को पूरी तरह उद्‌घाटित भी किया और, उसकी, उसी युग की साधनाचित्त की भाषा में, आलोचना भी की है। एक बात और ध्यातव्य है कि लेखक ने ऐतिहासिक तारीखों को एकसूत्र में पिरोने की कोशिश की है। चूँकि समय पृथ्वीराज-जयचन्द्र के बाद का है इसलिए बूढ़ा जगनिक आता है, चन्दबरदाई का बेटा जल्हण आता है, नालन्दा के (बख्तियार की ध्वंसलीला के बाद) राहुलभद्र और अक्षोभ्य भैरव आते हैं, जयचन्द्र का बेटा हरिश्चन्द्र आता है, सीदी मौला आते हैं (किन्तु उपन्यास में उन्हें दिल्ली के सुलतान की आज्ञा से हाथी के पाँवों तले कुचलवाया नहीं जाता क्योंकि यह बाद का तथ्य है)। सीदी मौला मध्यऐशिया का काफ़ी प्रामाणिक इतिहास भी बताते हैं दो बार। यहाँ राहुल सांकृत्यायन कृत 'मध्यऐशिया का इतिहास' से सामग्री ली गई है। यूँ तो पूरे उपन्यास में लेखक ने स्वयं अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन धर्मसाधना' से सामग्री ली है। उपन्यास में कथन शैली की दृष्टि से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' वाली पहेली ही चली आई है। सारा उपन्यास चन्द्रगुहा पर उट्टंकित शिलालेख का भाषांतर है जिसे अघोरनाथ ने व्योमकेश शास्त्री को सम्पादित करने को दिया। हजारीप्रसाद द्विवेदी अर्थात् व्योमकेश शास्त्री ने इस पर टिप्पणियाँ लिखीं। यूँ मूलकथा दैनंदिनी-शैली में है। यहाँ आत्मकथा शैली कम, जीवनी शैली ही प्रधान है। इसके अलावा इसमें वाणी (स्पीच) के विभिन्न प्रकारों का उपयोग किया गया है। रानी चन्द्रलेखा प्रथम पुरुष में बात कहती है। नागनाथ ने मध्यम पुरुष में कहना शुरू किया था किन्तु नहीं कह पाये। राजा उत्तम पुरुष में कहते हैं। इस तरह शुरू में प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष की साधना को उद्‌घाटित करने की योजना भी रही थी जो बाद में त्याग दी गई। कला-रूपों की दृष्टि से यहाँ **लेखों, पत्रों** और **सम्बोधनात्मक भाषणों** की भरमार है; पत्रों के अनूठे **रेखाचित्र** यत्र-तत्र छिटके हैं; **श्लोक**, उनके अर्थ, उनकी व्याख्याएं-टिप्पणियाँ भी कहीं-कहीं मिल जाती हैं। इस तरह उपन्यास में एक ओर तो ऐतिहासिक तथ्यों को (घटनाओं को भी) सोच-विचारकर पिरोया गया है, तो दूसरी ओर चित्रों के खण्ड-खण्ड खिंचे-से सजे हैं जिनके बीच में कार्यव्यापार का तीर लड़खड़ाता हुआ निकलता चलता है। लेखों और पत्रों की—विशेषतः चन्द्रलेखा के चारुलेखों की —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुतायत से ही कृति का नाम 'चारुचन्द्रलेख' पड़ा है। नाम के अन्य हेतु भी हैं, जैसे, चन्द्रगुहा का लेख; या, जिसमें चारुचन्द्रलेखा (नायिका) हो!

पहले हम घटनात्मक इतिहास लें जो इस उपन्यास में आया है। यहाँ घटनाएँ दो ही केन्द्रों में अभिमुख हैं—धर्मसाधनाएँ तथा युद्ध। घटनाओं का बहुमत धार्मिक साधनाओं से जुड़ा है। इस प्रकार कृति में मध्यकालीन साधनाओं का तथा सामंतयुग के समाज एवं राजनीति का इतिहास जुड़ जाता है। जहाँ तक साधनाओं का सम्बन्ध है वे आगमों और तन्त्रों की परम्परा में हैं और उनसे सम्बन्धित लगभग सभी घटनाएँ काल्पनिक हैं। अलबत्ता उनसे सम्बन्धित कुछ पात्र (नाटी माता, धीर शर्मा, जल्हन, गोरखनाथ) अवश्य ऐतिहासिक हैं। इस तरह धर्मसाधनाएँ एक विशेष भूमिका रखती हैं जिनका विवेचन हम आगे करेंगे। लेकिन जहाँ तक राजा-राज्य-राजनीति का सम्बन्ध है वहाँ काल्पनिक राजा सातवाहन एवं रानी (बाद में सिद्ध-योगिनी) चन्द्रलेखा के साथ कई ऐतिहासिक पात्र एवं घटनाएं गुँथी हैं। इसकी वजह से कृति में मध्यकालीन सामंतीय सेनासंगठन, अर्थतन्त्र, समाज आदि का अनुभाव भी जुड़ जाता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में लेखक ने अपने कलादर्शन और मर्यादा के आदर्श को प्रस्तुत करना लक्ष्य बनाया था। इसमें लेखक ने सामाजिक दर्शन और धार्मिक साधनाओं के सर्वेक्षण-विश्लेषण को अपना आदर्श बनाया है। यद्यपि साधनाओं की भरमार के कारण कथातन्त्र बहुत ज़्यादा ढीला हो गया है किन्तु (दिल्ली के सुलतान को छोड़कर) सभी पात्र राजा और रानी की धुरी में बंधे हैं। इस प्रकार राजा तत्कालीन ज्ञान और समाजचित्र का एवं रानी तत्कालीन व्यष्टिमूलक सिद्धियों की खोज और व्यक्ति के असंतुलित व्यक्तित्व का प्रतिनिधि हो जाती हैं। इस पृष्ठभूमि के द्वारा कृति के दो पक्षों को बताने के बाद हम क्रमशः घटनात्मक इतिहास का उद्घाटन करेंगे जो कथातन्त्र में विन्यस्त है। पहले परिच्छेद में सीदी मौला से परिचय होता है जो हिन्दू-मुसलिम (सिद्ध+मौला) संस्कृति के संगम हैं। वे बिलकुल फक्कड़ हैं किसी में विश्वास नहीं करते। बिलकुल कबीर जैसे हैं। किन्तु कबीर भक्त भी हो गए थे और सीदी मौला भक्त नहीं ही हुए। लेखक ने मानो 'आत्मकथा' के धावक की पूर्ति इनमें की है। सीदी मौला तत्कालीन मध्य एशिया की—मंगोलों और भोटों की—साधनाओं तथा इतिहास से भारत का गठबन्धन कर देते हैं। वे चिन्मिश-खान् तथा तिब्बती लामाओं की महायानी साधना से (तीसरा परिच्छेद) भारतीय साधना-भूमि का पुनर्मिलन करा देते हैं। दूसरे परिच्छेद में हम 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के चतुर्दश विद्याधर मन्त्री को पाते हैं जो अब राजा सातवाहन के मन्त्री हैं। वे महाराज जयित्रचन्द्र की डोम रानी सूहवदेवी की बीती ऐतिहासिक कथा का आख्यान करते हैं तथा संस्कृत कवि श्रीहर्ष के अपमान की कथा भी गूंथते हैं। जिस तरह 'आत्मकथा' में बाण सम्राट् हर्ष के सभाकवि हुए थे उसी तरह विद्याधर गाहड़वार नरेश जयित्रचन्द्र के मन्त्री, सभाकवि और सभापण्डित हुए हैं। चौथे परिच्छेद में लेखक एक ओर तो चन्द्रलेखा को परमाल की दौहित्री बनाकर उन्हें ऐतिहासिक गात देता है तो दूसरी ओर जयचन्द्र व परमाल के विग्रह के कारण की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वमेव व्याख्या करता है (इस विषय में इतिहास चुप है)। यहाँ भी 'आत्मकथा' की भट्टिनी का भाव साकार हुआ है। भट्टिनी की तरह चन्द्रलेखा—किसान-कन्या—चन्टलेखा एक राजबाला है; जिस तरह भट्टिनी की शिविका पर प्रत्यन्त दस्युओं ने हमला किया था उसी तरह चन्द्रलेखा की माँ चन्द्रप्रभा की शिविका पर हमला होता हैं। छठे परिच्छेद में राजा सातवाहन के यहाँ वृद्ध जगनिक को लाकर लेखक वीरगाथाकाल का वृत्त पूरा करता है। सातवें परिच्छेद में उज्जयिनी के गधैयाताल की दन्तकथा के पीछे लेखक वास्तविक इतिहास का उद्घाटन करता है। यहाँ सरस्वती-विक्रमादित्य-अडोलिया—की ऐतिहासिक गुत्थी सुलझती है और कालिदास के 'शाकुन्तल' की कथा में इसका मूल संस्कार उद्घाटित होता है। इस व्याख्या के द्वारा लेखक ने लोककथाओं में से ऐतिहासिक तथ्य ढूँढ़ निकालने की पद्धति का भी अनुसरण किया है। दसवें परिच्छेद में नाना गोसाईं के माध्यम से दक्षिण में शैव-जैनों के द्वन्द्व के ऐतिहासिक तथ्य को प्रकट किया गया है। बारहवें परिच्छेद में ऐतिहासिक धर्मायिन कायस्थ के काल्पनिक पुत्र बोधा प्रधान का प्रवेश हुआ है। तेरहवें परिच्छेद में कन्ह चाचा की कथा द्वारा ढोंगी सामंतीय दर्प की खिल्ली उड़ाई गई है। इसके बाद बाइसवें परिच्छेद में बोधा राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयशल वंश के इतिहास में धर्म की पहल का विवेचन करते हैं। तेइसवें परिच्छेद में सूहवदेवी के पुत्र हरिश्चन्द्र का अनुसंधान होता है जो तुर्कों की सहायता किया करता था। इसी में भंभल के द्वारा कारुनटों के अर्थतात्त्विक (सीमेंटिक) इतिहास की व्याख्या होती है। भंभल ही नाटी माता और कदम्बवास मन्त्री के सम्बन्धों की कथा कहकर कर-नाटी (=नाटीमाता) का पूरा इतिहास खोल देता है जिससे रासो के एक समय पर पूरा प्रकाश पड़ सकता है। चौबीसवें परिच्छेद में काशी के हरिश्चन्द्र घाट की ऐतिहासिक छानबीन हैं। पच्चीसवें परिच्छेद में अशोक चल्ल नामक ऐतिहासिक पात्र का आगमन होता है जिससे कि नालन्दा का भी पूरा इतिहास खुल जाता है (सत्ताइसवें परिच्छेद में)। अट्ठाइसवें परिच्छेद में ऐतिहासिक जल्हन के प्रवेश ने रासो में वर्णित कई ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग कराने में मदद की। जल्हन अपने पिता चन्दबरदाई का पूरा चरित्र प्रकाशित करता है। पृथ्वीराज द्वारा कदंबवास मन्त्री की हत्या का भेद खोलता है। हाहुलीराय-प्रसंग को गूँथता है; करनाटी (नाटी माता) के प्रति पृथ्वीराज की आसक्ति की बात भी बताता है। इस तरह यह पूरा परिच्छेद रासो पर आधारित है। उन्नीसवें परिच्छेद से दिल्ली के सुल्तान का नेपथ्य आभास चलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ इतिहास संस्मरण के रूप में आया है। क्यों ? इसलिए कि लेखक पृथ्वीराज-जयचन्द्र के ऐतिहासिक युग के आधार पर ठीक उनके बाद के युग के रंगमंच में क्रियाशील है। उस युग के पात्र प्रौढ़ और बूढ़े होकर आए हैं (जगनिक विद्याधर, धीरशर्मा, नाटीमाता), या किशोरपात्र युवक होकर (अशोक चल्ल, जल्हन)। प्रमुख घटनात्मक इतिहास के दो तथ्य हैं—करनाटी (नाटीमाता तो लेखक का दिया हुआ स्वरूप है) तथा कैमास या कइंवास (कदम्बवास); और नालन्दा क्षेत्र में विध्वंसलीला। इन **तथ्यों** में लेखक ने जो प्रचुर **कल्पना की**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है वही तत्कालीन समाज का **यथार्थ** चित्र रचती है। किन्तु इन ऐतिहासिक तथ्यों के साथ लेखक ने जो **अन्वेषण** किये हैं वे कई ऐतिहासिक गाँठों को खोलते हैं (गधैया-ताल प्रसंग, सूहवदेती के पुत्र हरिश्चन्द्र का प्रसंग,); काल्पनिक पात्रों को या तो अधिक जीवंतयुग भूमिका में प्रतिष्ठित कराते हैं (चन्द्रलेखा, विष्णुप्रिया, अमोघवज्र, मैना,) अथवा उन्हें चरित्र का एक दूसरा प्रभामंडल दे देते हैं (नाटीमाता, सीदीमौला, विद्याधर, जल्हन)।

इतिहास-परिचर्चा में आगे भावात्मक इतिहास लिया जा सकता है। यहां राज्य, युद्ध, राजा, इतिहास, क्षण, काल, संयोग, घटना आदि जो अवधारणाओं (Concepts) के रूप में आए हैं वे एक ओर तो लेखक के इतिहासदर्शन को समग्र सर्वांगीणता में प्रस्तुत करते हैं तथा दूसरी ओर उसके सामाजिक-आलोचनाशील (क्रिटीक) का प्रतिपादन।

इस संदर्भ में लेखक ने पहला सवाल किया है कि इतिहास क्या है? इतिहास काल-प्रवाह (जिसे वह 'कालदेवता का आधिभौतिक प्रतीक मानता है) है या क्षण-खंड? इतिहास अन्तर्मुखी (एक ब्रह्माण्डव्यापी समष्टि मन) है या बाहरी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का पुञ्ज? इतिहास हमें बनाता है या हम इतिहास को बनाते हैं? क्या इतिहास की आवृत्ति होती है? क्या इतिहास से सीखा जा सकता है? क्या इतिहास में संयोग (जिसे लेखक हमेशा 'दैव संयोग' में रूपांतरित कर देता है) अपनी व्यवस्था (Cosmos) को अस्तव्यस्त कर देते हैं? अब हम इस नितांत गम्भीर पहलू का सर्वेक्षण करेंगे। सभी आदर्शवादियों की भाँति लेखक इतिहास की प्रथम धारणा को प्रारब्ध-विचार (Destiny-idea) के रूप में ग्रहण करता है। यह प्रारब्ध अर्थात् कालदेवता है जो संसार की नाव को चला रहा है; व्यक्ति केवल पतवार (गति) थामे बैठा है लेकिन दिशा और परिणाम कालदेवता ने निश्चित कर दिया है (पृष्ठ ४२३)। हाँ, लेखक का मानवतावादी दृष्टि-कोण भी यहाँ अनुस्यूत हो गया है जिसकी वजह से वह मानता है कि कालदेवता एक शक्तिमात्र है—और मानव-पिण्ड में भी वही शक्ति है। जब मानव-पिंड उस ब्रह्माण्ड व्याप्त शक्ति के साथ सामंजस्य कर लेता है तब इतिहास का अनुसंधान या आविष्कार हो जाता है। अतः यह इतिहास हमारे अन्तःकरण में ही स्फुरित होता है। अतः जब हम व्यष्टि चित्त में जकड़े होते हैं स्वार्थवश होते हैं, तब हम इतिहास से कट जाते हैं। हम यद्यपि प्रवाह में हैं फिर भी एक क्षण अपना चित्र और व्याख्या छाप देता है क्योंकि यह एक क्षण अराजकता (Chaos) नहीं, सुव्यवस्था (Cosmos) का सुफल है। अतः क्षणों की व्याख्या हमेशा नवीन और क्रमशः होती है (पृ० ३१७-१८)। ये सारे क्षण उस सुव्यवस्था की ताल हैं जो अद्भुत एवं नवीन भी हैं। इतिहासप्रवाह (महाकाल, महाशून्य) में इन क्षणों की ताल ही सृष्टि का उत्सव है (पृ० ३१४)। क्षण की आवश्यकता के कारण ही इतिहास की नई व्याख्याएं होती हैं। अतः बाद में इतिहास का नाम भी बदल जाता है। (पृ० ३४३)। इस तरह लेखक का इतिहास-दर्शन-अन्तर्विरोधों से भरा है क्योंकि उस में रहस्यवाद एवं मानवतावाद का द्वन्द्व है। एक ओर तो वह इतिहास प्रवाह तथा क्षण या कालखण्ड का सामंजस्य करता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ अनेक विरोधी गतियाँ 'एक' के महान् मन्त्र में दीक्षित हो जाती है (पृ० ३४३), तो दूसरी ओर इतिहास में क्षण की कोई सत्ता ही नहीं मानता (पृ० ४१०)। एक ओर वह मानवचेतना से परे ब्रह्माण्ड-चेतना मानता है तो दूसरी ओर ब्रह्माण्डचेतना को मानव-चेतना का ही समष्टिरूप मानता है। हाँ दो बातें पूर्णतः सुदृढ़ हैं—पहला, इतिहास महान् सम्राटों और महान् युद्धों का लेखा-जोखा नहीं है, बल्कि लोकचित्त का आत्मबल और जनजीवन है; दूसरी, इतिहास से सीखा जा सकता है, भविष्य की दिशाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इन्हीं दो मज़बूत नीवों पर लेखक ने 'चारुचन्द्रलेख' में अपना इतिहास-दर्शन और इतिहास-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ एक ओर बोधा घुण्डकों-जैनों-वैष्णवों के इतिहास की सहायता से वर्तमान को अपने अनुकूल कर लेते हैं और दूसरी ओर अमोघवज्र भारत की सदियों पुरानी विच्छेद परम्परा, दुर्बल सामाजिक संहति तथा खण्डविदीर्ण असंख्य छोटी इकाइयों को पढ़कर भविष्य के प्रति चिंतित हो जाते हैं; अक्षोभ्य भैरव इतिहास को समझाने के बाद छोटे-छोटे सामंतों की स्थायी परम्परा को देश की सैनिक और राजनीतिक पराजय का मुख्य हेतु मानते हैं, विद्याधर इतिहास को केवल सकालीन कूटनीति एवं राजनीति मानते हैं; राजा भविष्य में बड़ी दूर तक जाते हैं क्योंकि वे राजा रूप में जनचित्त हैं। वे कहते हैं कि उस समय राजा वही होगा जो लोकसेवक होगा। इस तरह लेखक इतिहास में 'अन्तर्मुखी निश्चयवाद' की स्थापना करता है जिसमें प्रगाढ़ मानवतावादी नींव है।

लेखक इतिहास और दैवसंयाग का अन्तर्सम्बन्ध बताता है। इतिहास और दैवसंयोग से घटने वाले जागतिक व्यापार में अन्तर है। इतिहास मानवीय संकल्पों से बनता है। ये कोमल मानवीय संकल्प बाहरी कठोर परिस्थितियों से टकराकर परिवर्तित होते हैं अतः इतिहास वैसा ही नहीं होता जैसा हम चाहते हैं। (पृ० ३०५)। अतः इतिहास हमें बनाता भी है, ओर हम इतिहास का निर्माण भी करते हैं। इस निर्माण में अनुकूल मंगल है और प्रतिकूल अमंगल। यह द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध स्वीकार करने पर लेखक देवसंयोग को ज़रा अलग हटा देता है। इतिहास की आन्दोलक शक्ति क्या है—विशेषरूप से सामंतीय व्यवस्था में ? युद्ध ? धर्म ? युद्ध और धर्म ? दोनों !—किन्तु दूसरे स्तर पर !! मूल हैं—धरती और सोना ! यही इतिहास के अश्वत्थ का मूल हैं। धरती का मतलब केवल इस मिट्टी से नहीं किन्तु किसानों और साधारण प्रजावर्ग से है जिनकी अपूर्वनिष्ठा कठोर परिस्थितियों को जीत लेती है। यह धरती उन असंख्य गृहस्थों के बलिदान की कथा है, जो परम्परा के रूप में अनुभव होकर समष्टि चित्त हो जाती हैं और जो भविष्य को दिशाएँ बताती हैं (पृ० १३२, २५०)। अतः इतिहास सामूहिक है। इसी तरह अर्थतन्त्र ('स्वर्ण' के प्रतीक में) तभी बदला जा सकता है जब एक दूसरी व्यवस्था की मज़बूत नींव पड़ जाए। ग़रीब देशों और सामंत व्यवस्था में अर्थव्यवस्था (सोना) और युद्ध (सेना) साथ-साथ रहते हैं। जिसके हाथ में सोना होगा उसके कब्ज़े में सेना। युग की चेतना वेतनभोगी लोगों के ऊपरी युद्धों से चला करती थी किन्तु बाहरी चेतना किसानों, गृहस्थों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण प्रजा के आपसी सम्बन्धों में। हाँ, एक समस्या है कि हम नाना पात्रों के इतिहास सम्बन्धी मतों को लेखक के निजीमत किस हद तक मानें ?

इसी परिप्रेक्ष्य में इतिहास के दौर में सामंत-युद्धों पर लेखक ने गूढ़ विचार किया है। उस युग में राज्य व्यक्ति को मिलते हैं, पूरे जन को नहीं। अतः युद्धों के प्रति जनता उदासीन है और कुछ स्वार्थी व्यक्ति या धार्मिक और शोषक समूह आपस में मारकाट किया करते हैं। ये युद्ध जुल्मों से आगे कभी भी क्रान्ति की चेतना से परिपूर्ण नहीं हो सकते जब तक कि उनमें जनता का बलिदान, आत्मबल न आए। युद्ध के विषय में इसीलिये लेखक कहता है कि शस्त्रबल से देश हार जाए (=राजा पराजित हो गए) तो कोई बात नहीं; जनता का आत्मबल नहीं पराजित होना चाहिए। इसीलिये रानी चन्द्रलेखा लाख-लाख निरीह प्रजाओं की रक्षा को युद्ध का धर्म मान लेती हैं। इसीलिये घुण्डकेश्वर और दिल्ली के सुलतान के युद्धों तथा राजा और विद्याधर के युद्धों में क्रमशः साध्य और साधन का अन्तर है। यहाँ राजा चक्रवर्ती ज़रूर है किन्तु वह लोकनेता हो गया है जो संसार में दरिद्रता, रोग, शोक, अभाव के उन्मूलन को कटिबद्ध है। जो पूरी प्रजा को आश्रय करके श्रद्धार्चचित अनुगामिता को पुष्पित करता है और सेवाभाव को ही उत्तम नेतृत्व में बदल देता है। यहाँ युद्ध देश की रक्षा, जनता की प्राणरक्षा, शोषण से मुक्ति, गुलामी के मुक्ति के निमित्त मात्र हो जाते हैं। इसी क्रम में लेखक ने इतिहास के सामंत युग (भारत में विशेषकर) पर एक आलोचनाशील रचा है। इस युग में जन और प्रजा का राज्य में सहकर्म नहीं होता इसलिए अर्थव्यवस्था (राजलक्ष्मी) खण्डतिक्षत हो जाती है। फलस्वरूप छोटे-छोटे राज्यों की स्वार्थी राजनीति विच्छेदकारिणी ही होती है। सामंत युग में वंशानुक्रम से राजा, मांडलिक, नृपति आदि चलते आते हैं जो लगातार कृषकों का शोषण करते हैं। फलतः सारी व्यवस्था बिखर जाती है। यह पहला दोष है। दूसरे, भूमि-व्यवस्था का बँटवारा होता जाता है और सारी सम्पत्ति टूटती जाती है। तीसरे सीधे जनसम्पर्क रखने वाले राजनेता नहीं होते। ऐसी राजनीति और ऐसी रणनीति भयंकर अत्याचार तथा आतंक फैलाती है। इस तरह लेखक ने अपने इतिहास-चिंतन के क्रम में मध्यकालीन सामंतीय भारत की राज्य, युद्ध, राजनीति और अर्थनीति की भी मीमांसा की है। राजनैतिक-आर्थिक (Politico-economic) निष्कर्षों को प्राप्त करने में यह कृति सामंतवाद का एक समाज-दर्पण हो जाती है।

इस ऐतिहासिक एवं राजनैतिक आलोचनाशील के साथ-साथ लेखक ने भारत के उस सामंत-युग की सामाजिक चेतना का भी संधान किया है। लेखक ने पहले परिच्छेद में ही सार दे दिया है कि लोगों को बाहुबल की अपेक्षा तन्त्रमन्त्र पर अधिक विश्वास था। प्रजा सिद्धों-योगियों की श्रद्धा नहीं करती थी बल्कि उनसे डरती थी सारे समाज में नाना भाँति की तन्त्र, मन्त्र, जन्त्र मूलक साधनाएँ फैली थीं जो व्यक्तिस्वार्थ या व्यक्तिगत मोक्ष पर ही बल देती थीं। अतः समष्टिगत चित्त और स्वस्थ मन का अभाव हो गया था। इस धार्मिक चेतना की हम आगे विवेचना करेंगे। अन्य दृष्टियों से भी सामाजिक जीवन जर्जर था। व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये सत्ताधारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशी आक्रांताओं को निमन्त्रण देते थे (सूहवदेवी, घुण्डकेश्वर)। उनमें आपसी विच्छेद था। सभी आक्रांता भयंकर अत्याचार करते थे (मंगोल)। राजाओं के प्रेमोदय से राज्य भी विनष्ट हो जाया करते थे। भाट तथा चारण कवि मात्र निराधार चाटूक्तियाँ कहा करते थे। कवियों की यह दुर्दशा थी। इसके वैपरीत्यमें लेखक जल्हन और जगनिक प्रस्तुत करता है। लोगों के संकल्प बहुत ही छोटे होते थे और उनमें कातरता या कायरता घर कर गई थी। व्यर्थ के कुलाभिमान के कारण ही आर्यवर्त का विनाश हुआ। इसीलिए पृथ्वीराज, परमाल आदि की तुलना में रानी चन्द्रलेखा अपने राजा सातवहन के इस सामंतीय बोध का खण्डन करती हैं। नारी को केवल कोमलता, काम या श्री सुन्दरी साधना का हेतु माना जाता था। रानी चन्द्रलेखा इसको भी तोड़ती हैं और नारी तथा युद्ध के विरोधी तत्वकल्प को समाप्त कर देती हैं। वे स्वयं भी दो बार युद्ध करती हैं। देश-भर में चहुँव्यापी निराशा के बीच जो ये छोटे-छोटे युद्ध होते हैं उन्हें साधारण प्रजा अपनी हार या जीत नहीं मानती। अतः रानी कहती हैं कि युद्ध का उद्देश्य बड़ा होना चाहिए। युद्ध केवल सैनिकों का ही नहीं प्रजा का भी कर्तव्य है। अब कहीं आशा है तो प्रजा की संगठित शक्ति में! जनता अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का शिकार है। इसे प्रकट करने के लिए लेखक ने वर्तमान का यथार्थ नहीं, बल्कि 'तत्कालीन सामाजिक यथार्थ' लिया है। हम देखते हैं कि जनता का तन्त्रमन्त्र में, शकुनों में, रानी की सिद्धियों में, नारियों पर देवी आने में (वज्रेश्वरी मन्दिर की सेविका का प्रसंग, पृष्ठ ३८२) अलौकिक चमत्कारों और अवश भाग्यवाद में घोर विश्वास था। मन्त्री और पुरोहित और कवि भी ज्योतिष, शकुन, वर्ण, साधु आदि के प्रति गहरी आस्था रखते थे (विद्याधर ज्योतिष में विश्वास रखते हैं, अशोक चल्ल और जल्हन शकुनों में,)। गृहस्थ धर्म और सती नारी की महत्ता को सिद्धों ने समाप्त-सा कर दिया था। अतः इनकी प्रतिष्ठा के लिए आन्दोलन चल पड़े थे। लोगों के विचारों, कार्यों और कथनी में खाई हो चुकी थी। सभी जगह से सहज जीवन, समष्टि-चित्त और सांस्कृतिक गौरव लुप्त हो गया था। इसलिये सामाजिक दर्शन की दृष्टि से लेखक ने सिद्धरस के बजाय़ प्रेमरस, मठों के बजाय गृहस्थगृह और वैयक्तिक स्वार्थ के बजाय सेवाभाव इन तीनों अनिवार्यताओं का अभिषेक करके अपने सामाजिक दर्शन का उत्कर्ष प्रस्तुत किया है। उनके सामाजिक दर्शन की दलित द्राक्षा का निचोड़ है—१) सिद्धियाँ मनुष्य को पशु, पक्षी, अजगर, प्रेत बना दें किन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाने में तब तक सहायक नहीं होंगी जब तक सहज शरीर धर्मों को ही परम लक्ष्य समझा जाता रहेगा (पृष्ठ १५७)—गोरखनाथ; एवं २) एक साधारण किसान, जिसमें दया-माया है, सच-झूठ का विवेक है और बाहर-भीतर एकाकार है, वह भी बड़े-से-बड़े सिद्ध से ऊंचा है। जाहिर है कि यह लेखक की वैष्णववादी, रवीन्द्रवादी, मानवतावादी जीवन दृष्टि का चरम रूप है।

धार्मिक चेतना की दृष्टि से तो यह उपन्यास मध्यकालीन भारतीय धर्म-साधनाओं का एक समाजशास्त्रीय शब्दकोष ही है। शिल्प की दृष्टि से इन साधनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने कथा-वस्तु को बहुत बिलम्बित और शिथिल और खण्डित किया है; इनसे न तो चरित्रों की अधिक विविधता उद्घाटित हुई है और न ही विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याएँ चरमोत्कर्ष के रूप में उठी हैं। कुतूहल की दृष्टि से इनमें एकरसता है और परिणाम की दृष्टि से भक्ति और सिद्धि की दो दिशाएँ। लेकिन उस युग का धार्मिक इतिहास—जनता के बीच में जिस तरह धर्म की माया फैली थी—प्रस्तुत करने के लिए इन सभी साधनाओं का वर्णन स्यात् वांछनीय था। मध्ययुगीन धार्मिक साधनाओं के विषय में हमारे देश में बहुत कम विद्वानों का हस्तामलकवत् ज्ञान है। द्विवेदीजी उनमें से एक हैं। इन साधनाओं के समावेश ने उपन्यास को ही धार्मिक साधनाओं का सन्दर्भ-ग्रन्थ बनाने के अलावा एक शोध-ग्रन्थ भी बना दिया है। इस धरातल पर लेखक ने मानो मध्ययुग का नया अनुसन्धान ही किया है जिनमें विभिन्न साधनाओं, यन्त्रशक्तियों, चक्र, तन्त्र, उपासना-पद्धतियों आदि का पूरे प्रमाण के साथ वर्णन ही नहीं, इतिवृत्त भी है। यहाँ पारद-अभ्रक की सिद्धि वाली रसेश्वर साधना है (नागनाथ-चन्द्रलेखा); सीदी मौला की भी रसेश्वर सिद्धि है; तिब्बत के प्रसंग में बौद्धों की महायानी साधना है; शाक्त आगमों की षोडश-कुमारी साधना है (अमोघवज्र); वज्रयानी साधना है; महाचीनाचार है; वामाचारियों का चक्रपूजन है; नीलसरस्वती की साधना है (जल्हन, अशोकचल्ल); लौकिक साधना का साधारण रूप है (साधारण पुरुषों तथा नारियों पर देवी का भाव आता है); नाना गोसाईं तथा वुंडकेश्वर की बहुत-कुछ शैव तथा पाशुपत साधना है। इसके साथ-साथ और समानान्तर दो साधनाएँ और हैं—पहली है नाटीमाता की मधुर भाव (राधा भाव) की वैष्णव उपासना, और भगवती विष्णुप्रिया की वैष्णव-सी साधना। लेखक ने आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में—किन्तु उसी युग की भाषा-शैली में—इन साधनाओं के रहस्यों के तार्किक निरूपण की कोशिश भी की है। इस तरह पहले तो इन साधनाओं का इतिवृत्त और विवरण दिया गया है; फिर इनके मनोवैज्ञानिक अर्थ खोजे गए हैं। तदुपरान्त सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से इनमें से कई की तीखी आलोचना की गई है—स्वयं इनके साधनों के द्वारा। सबसे पहले रसेश्वर साधना करने वाली चन्द्रलेखा को लें। आठवें परिच्छेद से वे स्वयं को प्रथम पुरुष में 'चन्द्रलेखा' कहकर सम्बोधित करने लगती हैं जहाँ से उनकी प्रथम पुरुष की साधना शुरू होती है। किन्तु वास्तव में मनोवैज्ञानिक तौर से उनका व्यक्तित्व विभक्त (Split-personality) हो जाता है और उनके मस्तिष्क का सन्तुलन नष्ट हो जाता है। भगवती विष्णुप्रिया, अमोघवज्र और मैना तीनों विमर्शों (suggestion) के द्वारा उन्हें पुनः निर्मल बनाना चाहती हैं क्योंकि वे अब निर्मल हो गई हैं। जहाँ उनके गुरु नागनाथ ने कोटिवेधी रस की साधना के लिए उन्हें अभिभूत किया है, वह भी मात्र विमर्श है। जब अमोघवज्र उनको भरथरी और युद्धरत राजा दिखाते हैं और रानी देखती हैं तब वहाँ वशीकरण (hypnotism) की क्रिया है। अमोघवज्र स्वयं कहते हैं—'ध्यान से देखो। कहीं कुछ नहीं···सब दृष्ट तथ्य सत्य नहीं होते। यह सब तुम इसलिए देख सकीं कि तुम्हारे मन में मेरे प्रति श्रद्धा व विश्वास है। प्रत्यक्ष देखा, पर सत्य नहीं था।'' (पृ० २०८)। रानी चन्द्रलेखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की फँटेसी-विधायक क्षमता अत्यन्त प्रचण्ड है। प्रत्येक विमर्श को वे इस क़दर फैलाती हैं कि वह मायावरण (hallucinatin) का रूप ले लिया करता है। इसलिए वे उड़ती हैं, आनन्दभैरव देखती हैं, भरथरी देखती हैं आदि-आदि। इनके विषय में अमोघवज्र कहते हैं कि ये रानी चन्द्रलेखा के 'भयत्रस्त चित्त के विक्षोभ से निकली हुई अद्‌भुत सिद्धि कथाएँ' हैं—मात्र किस्से ! वे प्रत्येक विमर्श को प्रत्यक्ष (बिम्ब) या मायावरण में रूपान्तरित करने की अद्‌भुत क्षमता रखती हैं। पुरानी शब्दावली में भगवती विष्णुप्रिया कहती हैं—'चन्द्रलेखा की मनोगमा नाड़ियों में कठिन गाँठें (द्वन्द्व ?) पड़ गई थीं।···देख यह कल्पिका नाड़ी (फँटेसी) सूज गई है।' इसमें अनेक साधनाओं में तारा, आनन्दभैरव, अक्षोम्यबुद्ध, योगिनियों, छिन्नमस्ता आदि के अवतरित होने के जो जीवन्त विवरण हैं उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्याविमर्श—फँटेसी, विभ्रम-मायावरण के द्वारा की जा सकती है। साधनापीठों में या तो मद्यपान के कारण नाड़ियाँ शिथिल हो जाती हैं, या हवनीय द्रव्य की उत्कट गन्ध के कारण अवचेतन आन्दोलित हो जाता है, या भयत्रस्त वातावरण के कारण या गुरु अथवा तान्त्रिक के अधिक सशक्त मनोबल के कारण वशीकरण की स्थिति आ जाती है। जैसे राजा, बोधा आदि भी ऐसे ही चमत्कार देखते हैं। उन्मादावस्था में राजा को भी काले बादलों में रानी के उड़ने आदि का विभ्रम (illusion) हो जाया करता है। इसके अलावा ये सिद्धि मनोवैज्ञानिक विचार-पठन (thought reading) भी काफ़ी करते हैं। अक्षोम्य भैरव भद्रकाली की तथा राजा रानी चन्द्रलेखा की याद करता है जो विचार-पठन के उदाहरण हैं। कई स्थलों पर 'टेलिपेथी' (Telepathy) प्रक्रिया भी मिलेगी। इन मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं के अलावा लेखक ने बौद्धिकतावादी व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं। चंगिस् खान् द्वारा ज्वालादेवी की साधना का वर्णन बाकू क्षेत्र में किरोसीन तेल की खोज का मध्यकालीन वातावरण में विवरण है।···रसेश्वर साधना अणु-परमाणु से तुलनीय है।···ऊपर से नीचे झाँकने पर मैना को मानो लगता है कि कोई बलात् उसे पकड़कर नीचे फेंक रहा है—इसका मनोविश्लेषण बोधा करते हैं और फलस्वरूप उसके एक शैशव ट्रौमा (childhood trauma) का निराकरण कर देते हैं।··· तान्त्रिकों के चमत्कार पर स्वयं मैना भी कहती है कि ये तान्त्रिक लोग केवल उतनी ही बात बता सकते हैं जितनी प्रश्नकर्त्ता के मन में होती। इसी का पूरक है भैरव का जल्हन को उत्तर—'भाई जल्हन तू समझता है कि मैं सारी दुनिया की बात जानता हूँ। ना भाई, मैं स्वयं अपनी मर्मवेदना का उत्तर नहीं जानता।' इस तरह हम देखते हैं कि इन मध्यकालीन साधनाओं की व्याख्याओं में लेखक ने रहस्यवाद का नहीं, आधुनिक मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं का सहारा लिया है। यह उसकी परम्परा और विवेकगामिता की एक श्रेष्ठ उपलब्धि है जो पहली बार इन साधनाओं को बीसवीं शती के सन्देहशील मन के सम्मुख स्पष्ट करने की कोशिश करता है। इन साधनाओं का तीसरा पहलू है इनकी आलोचना। यह आलोचना स्वयं सिद्धों के मुंह से कराई गई है। धार्मिक और सामाजिक आलोचना मिली-जुली है। गुरु गोरखनाथ स्त्रीपूजा के स्थान पर ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा करने को व्याकुल हैं, वे माया को हराने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कटिबद्ध हैं और सिद्धों की साधनाओं के बजाय मनुष्य द्वारा सहज समाधि लगाने को मोक्ष घोषित करते हैं। वे सिद्धों की मूर्खता की भर्त्सना करते हैं। राजा को सन्देह है कि क्या सचमुच ही इन विचित्र साधनाओं से संसार जरा-मृत्यु के चक्र से त्राण पाएगा ? नाटी माता रानी की सिद्धि की ग़लती बताती हैं। मैंनसिंह कहता है 'इन बकवादी निठल्ले सिद्धों के चक्कर में मत पड़ो। ये बिगाड़ना जानते हैं, सँवारना नहीं। व्यक्तिगत साधना के द्वारा इन्होंने सत्य को खण्डित किया है।' शैव घुण्डकेश्वर स्वार्थ के लिए हिंसा, बलि, लूट-पाट करता है और दिल्ली के सुलतान से मिल जाता है। सन्देहवादी (skeptic) अमोघवज्र कहते हैं—'मैं देख रहा हूँ कि सिद्धियों के पीछे पागल बने लोगों ने देश को निर्वीर्य और कायर बना दिया है। माया को पराभूत करने का ढोंग रचने वाले लोग माया के सबसे मज़बूत वाहन सिद्ध हुए हैं।' इस तरह अमोघवज्र और मिसिलपाद (बौद्ध) काफ़ी विवेकशील हैं और बाद में सन्देहवादी भी हो जाते हैं। इस युग की आलोचना के उपरान्त लेखक ने विकल्प दिये हैं—साधना के क्षेत्र में भक्ति (पूर्ण आत्म-समर्पण) और अपने भाव के अनुरूप विभाव पुरुष की कल्पना सिद्ध-रस के बजाय प्रेम रस की प्रतिष्ठा। अर्थात् समाज के परिवेश में समष्टि चित्त की साधना, जनता के मन में भय के बजाय श्रद्धा-विश्वास की प्रतिष्ठा, प्रजा में छोटी-से-छोटी और अत्यन्त पतित समझी जाने वाली जातियों पर भी स्नेह रखना। देश के पैमाने पर लेखक ने तन्त्र-मन्त्र बल के बजाय शस्त्रबल तथा बलिदान की, स्त्रीपूजा के विकृत रूपों के बजाय नारी के दुर्गा रूप, क्रिया रूप (युद्धरत रानी, अटवी योद्धा मैंनसिंह) की महिमामय स्थापना की है। लेखक ने तान्त्रिकों और सिद्धों के बजाय एक सरल किसान और एक सहज गृहस्थ को अधिक महान् माना है। उस युग का इससे अधिक यथार्थवादी आदर्श और क्या हो सकता है, धर्मयुग को युगधर्म में स्थापित करने का ?

वैयक्तिक चेतना के स्तर पर हम कृति को 'अन्तरानुभूति का महाकाव्य' (epic of empathy) कह सकते हैं। अनुभूति, संवेदना, अनुभव और अभिव्यक्ति यहाँ प्रगाढ़ और रस ललाम हो उठे हैं। अनुभूतियों तथा संवेगों को अंकित करने में वाणी की स्वप्नमुग्ध लीला, चित्रों को बिम्बधार में नहलाने में शब्दों का उत्सव, वार्तालापों में सत्ता को तिरोभूत करने में अन्तर्मन का पूर्ण आत्मदान मानो लेखक की भाषा-शैली का सत्व बन चुके हैं। संवेगों और प्रतिवस्तु स्थापन की उभय भाषाएँ (Languages of emotion and representation) की कई दिशाओं का इसमें अनुसन्धान हुआ है; इसमें 'अर्थ की भाषा' के समानान्तर एक अनुभूति-अतीत 'भाव-भाषा' को भी समानान्तर उच्छलित किया गया है। फलस्वरूप अर्थों की बहुलता (multiplicity of meaning) और अभिव्यंजना की विविधता (ambiguity of expression) की सोलहों कलाएँ साकार हो गई हैं। यदि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाषा अलंकारों की भाषा है, तो 'चारुचन्द्रलेख' की प्रतीकों एवं बिम्बों (आधुनिक प्रतीकवादी अर्थ में) की भाषा। इस भूमिका पर लेखक ने वैयक्तिक चेतना के स्तरों अर्थात् पात्रों के अन्तर्लोक, परिस्थितियों से उनके संघातों, प्रकृति के प्रति उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तरानुभूतिमूलक रागवृत्तियों को ज्योतिर्मय किया है। इसीलिए हमने कहा है कि इस दृष्टि से यह कृति 'अन्तरानुभूति का महाकाव्यत्व' लिए है। अन्तरानुभूति के द्वारा हम अपने अन्तर्लोक की मनोदशाओं को बहिर्वस्तु में लीन-विलीन कर देते हैं। उदाहरणार्थ दालान **भागते हैं,** गुम्बद **फूलते हैं,** गवाक्ष **झाँकते हैं**—इन कथनों में दालान, गुम्बद, गवाक्ष के प्रति हमारी ही भागने, फेफड़ों के फूल उठने और झाँकने की अनुभूति अच्छादित हो गई है। राजा की भाषा तो इस दृष्टि से परिपूर्ण है। अन्य पात्र भी अन्तर्द्वन्द्वों, भावों, परिस्थितियों के अन्तराल की प्रत्येक सूक्ष्मता को पकड़कर अपनी 'आत्मा की अन्तर्कथा' उद्घाटित करते हैं और, साथ-साथ परानुभूति-गमिता से चरितार्थ हो जाते हैं। ज़रा रानी के स्वप्नों में प्रतीकों की छटा देखें—'घुड़सवार आता है; पिंजड़ा भी ले जाता है, चिड़िया भी ले जाता है और रानी कह उठती है विश्वास करोगे महाराज घुड़सवार बिलकुल तुम्हारे जैसा था।' रानी युद्धरत राजा का विभ्रमस्वप्न देखती हैं; घुण्डकों के हमले के अवसर पर सिद्धयोगिनी रानी युद्धरत हो जाती हैं। मानो वे आद्यन्त स्वप्न और यथार्थ में प्रथम पुरुष और उत्तम पुरुष में, और शरीर में भेद ही नहीं कर पातीं। फलतः हमेशा स्वप्नों और प्रतीकों में बात करती हैं। रानी कहती भी हैं कि 'मैं तुम्हें पतिरूप में वरण कर रही हूँ। इस बात को कभी मत भूल जाना।' बाद में रानी का इस साधना की ओर मुड़ना भी एक अन्तर्लीला ही है। रानी के सामने जयचन्द्र और सूहवदेवी की कथा, तथा गर्दमिल्ल और सरस्वती की कथा है जहाँ राजाओं में आकस्मिक प्रेमोदय हुआ तथा रानियाँ ही राज्य के विनाश का कारण बनीं। अतः रानी को इन दोनों कथाओं के निष्कर्ष मथ डालते हैं, उनका चरित्र रूपान्तरित हो जाता है और वे लोक-संगठन के बजाय मन्त्रबलपूर्ण कोटिबेधी रस की खोज में सिद्धि पाने की ओर मुड़ने लगती हैं। बाद में नाटीमाता और भगवती विष्णुप्रिया के उपचार के फलस्वरूप वे परम् प्रेयान को अहैतुक समर्पण करने की बात समझती हैं। उनके अश्रुमुखी होने पर मानो वृन्दावन अवतरित हो उठता है। रानी सम्बोधन भी बहुत बार करती हैं (हाय महाराज! महाराज!) रानी सिद्धि में भी स्त्री-शरीर को इतना महत्त्व देने वाले को बहुत ऊँचा सिद्ध नहीं समझतीं क्योंकि यह विकृत चिन्तन का परिणाम है। इस तरह सिद्धयोगिनी चन्द्रलेखा के अन्तर्मूल में पद्मिनी चन्द्रलेखा कम विषपायी नहीं है। इसी तरह राजा अपनी इच्छाशक्तिरूपा रानी के बिना अपने आत्मज्ञान को पूर्णतः प्रकाशित नहीं कर पाते। बार-बार उन्हें यह अनुभव होता है कि वे पतिधर्म से च्युत तो नहीं हो रहे हैं रानी को स्वाधीन करके। राजा के ये द्वन्द्व अनुपम हैं और इनकी नाना भावदशाओं-पूर्ण बहुलता है। एक ओर नागनाथ और दूसरी ओर वचनबद्ध राजा! यदि रानी सिद्धरस से विश्वास हटाकर भी प्रेमरस नहीं पा सकीं तो राजा रानी के बिना पुरुष नहीं रह सके। एक ओर सिद्धयोगिनी तथा सती का द्वन्द्व; दूसरी ओर राजा और पति का द्वन्द्व। राजा भयंकर गिरिकान्तारों को पार करते हुए; असाध्य साधन का संकल्प लेकर चल रहे हैं—लेकिन 'हाय, रानी!' रानी के घायल होकर वियुक्त हो जाने पर राजा भी विरहोन्माद में रहते हैं—एक पुरुरवा की तरह! उनकी अन्तर्व्यथा जानती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो केवल मैना अर्थात् मैनसिंह—उनकी क्रियाशक्ति, उनकी नील सरस्वती ! रानी के वियुक्त होने के बाद राजा एक त्रासद नायक (tragic hero) हो जाते हैं और एक गहरी अन्तर्पीड़ा उनके बहिर्जगत को रंजित कर देती है। मैना राजा की अकुंठ सेवा में (बाणभट्ट की निपुणिका की तरह) अपने को निःशेष कर देना चाहती है। वह रानी की सखी है, और राजा की सेविका। उसमें लोभ नहीं है, वह अपने को निःशेष भाव से उँडेलकर देना चाहती है। किन्तु उसे मिला है नारी विग्रह। जब वह देना चाहती है तो विग्रह भी ढरक जाना चाहता है। उसके गंगाजल में फूल भी तैरता है। देना चाहती है गंगाजल की धारा, आगे उतरकर बह जाना चाहता है फूल ! (यहाँ मानो बाण-निपुणिका-भट्टिनी जैसा त्रित्व पूरा है)। और राजा ? वह बहुत छिपकर या पार्श्व में आकर रानी-मैना, मैना-बोधा, मैना-अलहना की बातें सुन लिया करते हैं। मानवीय-परिस्थितियों (Human situation) का कैसा अद्भुत महा भागवत है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान शक्ति की यह कैसी विभक्ति है। इसी तरह नाटी माता स्वयं को राधाभाव में तिरोभूत करके मोहातीत हो गई हैं—यह उनके 'करनाटी'-चरित्र का महत्तम उदात्तीकरण है। वे भाव-विह्वल नागर की नटी हो गई हैं। आदि नागर का, अन्त नटी का ! वे साक्षात् मधुरभाव ही हैं। इसी तरह सीदी मौला की फक्कड़ता मस्ती को मैनसिंह एक झटके में झटक देता है। कितना अद्भुत उनमें परिवर्तन होता है। पहली बार वे माया से विचलित होते हैं। भद्रकाली विष्णुप्रिया और जल्हन भी इसी तरह के अन्तर्लीलापात्र हैं। इस गम्भीर चरित्र व्यूह में भंभल और धीरशर्मा विलक्षण चरित्र हैं। त्रासद विश्रान्ति (tragic relief) तथा हास-परिहास के लिए, कथा की गझिनता के बोझ को हलका करने के लिए मैनसिंह और अलहना के चपलपटु युगल (करनाटी का विचित्र नृत्य भी) हमें स्फूर्तिमय कर देते हैं और कथा की विचित्रवीणा के सुरों से हटकर हम उल्लास में भी हलका हो लेते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से आगे उठकर इस तरह की चरित्र रचना का भेद क्या है ? एक, इसमें लेखक ने स्वप्निलता और प्रतीकात्मकता का पूरा उपयोग किया है; दूसरे पात्रों में नॉर्मल (normal) से अधिक अवनर्मिल और अतिनर्मिल पात्र चुने हैं। हाँ, यहाँ भी उनके चारित्रिक आदर्शवाद का धरातल तो बाज़ाप्ता क़ायम है। और अब अन्तिम मूल्यांकन धरातल, कलाशिल्प के विशिष्ट स्तरों पर कसने पर इसकी कई विशेषताएं और त्रुटियां स्वतः उद्भासित हो उठती हैं।

सबसे पहले तो यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने अपनी चरित्र-रूढ़ियां (character conventions) विकसित कर लीं हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और इस कृति के चरित्रों में समानान्तरताएँ हैं। भट्टिनी का और चन्द्रलेखा का बचपन एक जैसा दुःखभरा है। निपुणिका और बाण के सम्बन्धों की मैना और राजा के सम्बन्धों से गहरी समानता है। कविधावक और सीदी मौला में समता है। लोरिकदेव और अशोक चल्ल भी क्रमशः हर्ष और राजा के लिए एक समान भूमिकाएँ रचते हैं। महामाया अघोर भैरव (आत्मकथा) और अक्षोम्य भैरव के चरित्र एक जैसे हैं। महामाया (आत्मकथा) और सुचरित में पर्याप्त सादृश्य है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कलाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अजंता और उनकी व्याख्या है, तो चारुचन्द्र लेख में साधनाओं का तीर्थ और उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। 'आत्मकथा' में आसन्न युद्ध का वातावरण है और इसमें युद्धों की गर्जन-हुंकार है। 'आत्म-कथा' में बाण की जड़ता से आहत निपुणिका की मृत्यु है तो इसमें राजा की नियति से आहत मैना का अवसान। 'आत्मकथा' में पात्र अपनी-अपनी आत्मकथाएँ कहते हैं तो इसमें वे अपनी-अपनी आत्मकथाओं के साथ-साथ अन्य पात्रों की जीवनियाँ और अपने संस्मरण भी कहते हैं। पत्रों और भाषणों की प्रचुरता दोनों में है। 'आत्मकथा' में कला और साधनाएँ हैं, इसमें इतिहास और साधनाएँ हैं। 'आत्मकथा', में लेखक का कलादर्शन है तो इसमें इतिहास दर्शन और सामाजिक दर्शन। 'आत्मकथा' में यात्रा-वृत्त है, इसमें यात्रांत-वृत्त। 'आत्मकथा' आत्मकथात्मक है और यह जीवनीमूलक। 'इस संदर्भ में विभिन्न पात्रों के संस्मरण और उनके द्वारा कही गई अन्य पात्रों की (अपनी कम) जीवनियाँ ही हमें पृथ्वीराज रासो वर्णित घटनाओं (करनाटी, कदम्बवास, सूहव देवी आदि) के दायरे में अथवा उन ऐतिहासिक घटनाओं के सम्पर्क में ला देती हैं जो उपन्यास के पूर्ववर्ती सीमान्त में है, (नालन्दा, भद्रकाली, किशोर, अशोक चल्ल, जयचन्द्र का पुत्र हरिश्चन्द्र आदि)। इस तरह लेखक ने पूर्वकथाओं को कहने की अपनी प्रविधि (तकनीक) का विकास किया है। मूलतः कथाएँ कहने वाले हैं--विद्याधर भट्ट जयचन्द की, सोहागदेवी की, चन्द्रलेखा की माँ की, सीदी मौला चिलिमश खान् की, बोधा मैना के बचपन की, भद्रकाली की, जगनिक करनाटी की, चन्दबरदाई की, हाहुलीराय की, अशोकचल्ल की, भंभल कारुनटों की। मूलरूप से ज्योतिषी विद्याधर भट्ट और चारण कवि जल्हन ही किस्सागो हैं। यह संस्कृत रूढ़ि के अनुकूल भी है।

सारी की सारी कथावस्तु गति (actoin) की दृष्टि से--साधनाओं की बहुलता और अवांतरता के कारण--बड़ी मंथर तथा बिखरी हुई हैं। इसमें आवृत्ति है :—बार-बार युद्ध (एक ही शत्रु घुंडकेश्वर तुर्क सेनापति से) और बारम्बार तान्त्रिक साधनाएँ। घटनाओं से अधिक प्रतीक अग्रसारित करते हैं कार्य को। यहाँ प्रतीक कार्य व्यापार को चंक्रमित-सा कर लेते हैं। यहाँ प्रतीक और प्रयोजन (symbols & motifs) एकतान हो गए हैं। स्वप्न एक जबर्दस्त प्रतीक हैं कार्यव्यापार और वृत्ति (थीम) के। चिड़िया और पिंजरे का प्रतीक तो सारी कथा में व्याप्त है। ये कृति के आर्कटाइप हैं। एक आर्कटाइप त्रिकोण और भी है जो आद्यंत लीलायित हुआ है—इच्छा (रानी), ज्ञान (राजा) और क्रिया (मैना) नामक तीन शक्तियों का संयोग-वियोग। जब संयोग होता है तब कथा निर्झर-सी फूट निकलती है। जब वियोग होता है तो अन्तर्चेतना की स्थिर झील बन जाती है। श्रीकृष्ण की गोदी में अस्तव्यस्तभाव से पड़ी विद्युत् गौरी किशोरी राधा की मूर्ति मधुरोपासना के प्रतीक के साथ-साथ एक सामाजिक प्रतीक भी है—सिद्धों की ठूंठभगोड़ी गृहस्थ धर्म विध्वंसक साधना के विरोध में सहज भाव की सगुण, अवतारवादी सामाजिक जिन्दगी का। यह नारी सुलभ मधुरोपासना की दीक्षा है। नटनागर राधिका मूर्ति नाटी माता का विरेचन (कैथासिस) करती है; रानी चन्द्रलेखा की सच्ची सार्थकता का निर्देश करती है; सिद्धों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिथ्याचार और शुष्कता के विरोध में सामाजिक जीवन की रसधारा और मंगल सौभाग्य का प्रतिनिधित्व करती हैं, अन्तत: व्यष्टिचित्त की साधना का उच्छेदन करके समष्टिचित्त की, लोकचित्त की साधना का प्रचार करती है। यह मूर्ति-प्रतीक मध्यकालीन, व्यक्ति साधनाओं के विरोध में युग क्रान्ति है और (रेखांकित करने वाला तथ्य है कि—) लेखक की चेतना तथा समाजदर्शन का निष्कर्ष भी है। इसी का पूरक पान का प्रतीक है। यह प्रेमविवाह, नारी पुरुष, शिवशक्ति के लीलाबिलास का प्रतीक है। यही गृहस्थ का श्रीचक्र है। मैना के नि:शेष आत्म समर्पण के गंगाजल की धारा में नारी हृदय के फूल का प्रतीक पूरी तरह गमगमा उठा है। सारांश यह है कि प्रतीकों की रचना द्वारा लेखक ने समाज, मानवपिंड और समाजदर्शन की गाथा का संक्षेप किया है। कृष्णराधा मूर्ति हमें 'आत्मकथा' की महावराह मूर्ति की याद दिलाती हुई यह स्पष्ट करती है। इसमें उद्धार का क्षेत्र, स्वरूप और स्वभाव बदल गया है। इतिहास ने ऐसा परिवर्तन कर दिया है!

कथावस्तु में कई सम्पूर्ण परिच्छेद प्लॉट के निमित्त नहीं, बल्कि धार्मिक या ऐतिहासिक दर्शन के हेतु विन्यस्त हुए हैं। मिसाल के लिए छठवें परिच्छेद में युद्ध और जनता, जनता और राजा, राजा और कुलीनता के सम्बन्ध में एक सामाजिक-राजनैतिक आलोचनाशील (critique) दिया गया है। इस परिच्छेद में नारी और युद्ध के विरोधी तत्त्व-कल्प को समाप्त कर दिया जाता है। यह एक अन्य सामाजिक क्रांति है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की देवोपम नारियाँ युद्ध में भाग नहीं लेतीं किन्तु यहाँ रानी और मैना क्रमश: दुर्गा की तरह शत्रु संहार करती हैं या गुरिल्ला सेना (अटवी सेना) का संचालन करती हैं। आठवें और नवें परिच्छेद में कोटिवेधी रस की साधना और महाविद्या-कुल देवियों की साधना है। सातवें परिच्छेद में गर्दभिल्ल-सरस्वती-कालिदास आदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अन्वेषण हैं। ग्यारहवें परिच्छेद में स्त्री पूजा के विकृत रूपों का दिग्दर्शन हुआ है जिसकी शिकार चन्द्रलेखा तथा तापस बाला हैं। चौदहवें परिच्छेद में नाटी माता एवं भगवती विष्णुप्रिया की वैष्णव साधनाएँ हैं। अठारहवें परिच्छेद में मैना द्वारा सिद्धों की कसकर भर्त्सना की गई है। इक्कीसवें परिच्छेद में भगवती द्वारा गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता और अवतार की सामाजिक व्याख्या का उपाख्यान है। पच्चीसवाँ परिच्छेद देश की चहुँमुखी अवस्था-व्यवस्था का दिग्दर्पण है। छब्बीसवें परिच्छेद में शिवा-साधना दी गई है। तीसवें परिच्छेद में देश की सामन्तीय व्यवस्था की राजनीति, अर्थनीति का विश्लेषण हुआ है। ये परिच्छेद प्रधान रूप से वृत्तिमूलक (thematic) हैं, क्योंकि उपन्यास में इनकी प्रधानता और प्रचुरता दोनों हैं, इसलिए यह रचना इतिवृत्तात्मक के बजाय वृत्तिमूलक हो जाती है। इसलिए अब हम 'चारुचंद्र' को 'अन्तरानुभूति मूलक एवं वृत्तिमूलक उपन्यास' (Empathic and thematic novel) कह सकते हैं। जाहिर है कि इससे उपन्यास शिल्प बिखरेगा ही; गल्प के बजाय तर्क व चिन्तन छाएगा। अब कथातन्त्र वाले परिच्छेदों का लेखा-जोखा किया जाए। दूसरे परिच्छेद में चन्द्रलेखा की आत्मकथा है। तीसरे में सीदी मौला के मध्य एशिया के संस्मरण हैं। दसवें परिच्छेद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुर्कों की सेना से चम्बल के ढूहों में युद्ध है और घुंडकेश्वर तथा मैनसिंह का प्रवेश है। घुंडकेश्वर के रूप में उपन्यास में एक महत् लक्ष्यहीन खलनायक मिलता है। महत्त्व की बात तो यह है कि लेखक ने खलनायक तो दिया (जबकि 'आत्म कथा' खलनायक विहीन है)। इससे भी बड़ी महत्त्व की बात यह है कि यहाँ घुंडकेश्वर का खलनायकत्व बेहद नगण्य है क्योंकि उससे भी बड़ा सामन्त युग स्वयं खलनायक है। इस प्रकार खलनायक युग (Villain age) और वृत्तिमूलक इतिहास (thematic history) का संयोग हो जाता है। खलनायक युग से मेरा तात्पर्य सामन्ती व्यवस्था की राजनीति, धर्म की पतनावस्था, जनता का शोषण आदि हैं। तेहरवें परिच्छेद में मैनसिंह तथा अलहना बघेला के हास-परिहास हैं जो विकृत साधनाओं और महत् संकल्पहीन युद्धों के बाद त्रासद विश्रान्ति उत्पन्न करते हैं। पन्द्रहवें परिच्छेद में सिद्धयोगिनी रानी को सौभाग्यवती सती बनाने के उपचार होते हैं कि अचानक घुंडकेश्वर का हमला हो जाता है। इस तरह करुणा और रौद्र का समतोलन (Synaesthesis) होता है। सोलहवें में रानी को नर्मिल बनाने के उपचार जारी हैं; सत्रहवें में बिखरी घटनाओं के सभी सूत्र जुड़ते हैं। उन्नीसवाँ और बीसवाँ परिच्छेद मैनसिंह की वीरता तथा बचपन की कथा के निमित्त है। बाइसवें में पुनः घुंडकेश्वर का हमला होता है और रोमांचक युद्ध में रानी तथा अलहना घायल होते हैं। उपन्यास का असली घटनात्मक चरमोत्कर्ष यहीं है। यह सर्वाधिक बाह्य संघर्षों वाला परिच्छेद है। इस परिच्छेद के बाद ही समष्टि चित्त की क्रिया शक्ति का सक्रिय संधान शुरू होता है। पहले की सभी साधनाओं और उपायों की परीक्षा हो चुकी है। तेइसवें परिच्छेद में नाटी माता की जीवनी है। चौबीसवें में संदेहाकुल अमोघवज्र के निभ्रान्तिकरण (disillusionment) के व्याज से देश की चेतना का भी नया उन्मेष शुरू होता है। वे भक्ति एवं सिद्धि दोनों की वैयक्तिक साधनाओं की माया झाड़कर समाजचित्त को स्फूर्ति देने में कृतसंकल्प हैं। सत्ताइसवें परिच्छेद में वैयक्तिक साधनाओं के दुष्परिणाम दिए हैं। इसमें अक्षोम्य भैरव तथा भद्रकाली की कथा के मिस नालन्दा-ध्वंस का ऐतिहासिक तथ्य ही गूँथा गया है। अठाइसवें परिच्छेद में कवि जल्हन के द्वारा पृथ्वीराज की राजसभा का पिछला इतिहास दुहराया गया है। उन्तीसवें में राजा और मैना के अन्तर्लोक की ललित-भूमियाँ हैं। इकतीसवें परिच्छेद में मैना (क्रियाशक्ति) की विस्फोटक गति, सारी घटनाओं का विपरीत भाग्य (Nemesis) और राजा की सारी योजना का विध्वंस हो जाता है। बत्तीसवें में मैना उतावली में अनर्थ कर बैठती है। अन्त में राजा के दुर्भाग्य को ओढ़कर अपने ही भाले से अपने को भोंक लेती है। जल्दी में राजा बेहोश रानी (यहाँ एक भ्रम बना हुआ है) को कन्धे पर लादे और बोधा घायल मैना को लादे घने अन्धकार में विकट वन भूमि के मार्ग से भाग चलते हैं। खलनायक युग—अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और सामन्ती अराजकता का युग—इतिहास के रंगमंच में पुनः पूर्ववत् क़ायम रहता है। इन परिच्छेदों से कुछ नतीजे पाए जा सकते हैं—(१) कुछ परिच्छेद पात्रों की पिछली कथाओं को उद्घाटित कर उनका पूरा चरित्रांकन कर देते हैं। (२) कुछ परिच्छेद घटनाओं के एकत्रीकरण और फिर युद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा उनके आकस्मिक विस्फोटन का तकनीक स्पष्ट करते हैं; (३) कुछ परिच्छेद पात्रों की अन्तर्कथा-अन्तर्लीला का प्रकाशन करते हैं तथा, (४) कुछ परिच्छेद [विशेषतः तेरहवाँ] हासपरिहास के लिए है, कुछ वीरता के उन्मेष के लिए [१९, ३३, २२, १५] और कुछ दो विरोधी रसों के समतोलन के लिए जिससे कि संघर्षों में तेज़ी आए [१५, २२, २५, ३१]। सबसे अधिक गत्यात्मक ये विरोधी स्थितियों का समतोलन करने वाले परिच्छेद हैं। प्रभाव की दृष्टि से ये कौशल हैं। ये परिच्छेद कथा को अचानक १८०° का विरोधी या विपरीत घुमाव दे देते हैं। इसके अलावा लेखक ने कुछ पात्रों को—विशेष रूप से सीदी मौला को—केवल इतिहास तथा ऐतिहासिक सूचनाओं का डाकिया बना दिया है। अन्य हैं विद्याधर और बोधा। पात्रों का अकस्मात् प्रवेश और गमन—अपटीक्षेप प्रवेश—घटनाओं की स्वाभाविकता की क़ीमत पर गति देता है। इस अपटीक्षेप प्रवेश के अलावा संयोग से मिलन और गमन की पद्धति भी लेखन ने पूर्व उपन्यास की भाँति रखी है; किन्तु काफ़ी कम। लेखक ने जीवनियों और संस्मरणों के कथनों द्वारा बार-बार कथा को काल की दृष्टि से पीछे लौटाया है। इससे गति की धारा थमी है। लेखक ने दो छल भी फैलाये हैं -(१) पहला है युवती मैना का पुरुष वेश में मैनसिंह होकर रहना। उसके इस भेद को थोड़े ही पात्र जानते हैं; (१) दूसरा है, बाइसवें परिच्छेद के बाद रानी के जीवित या मृतक होने के चारों ओर भ्रम। इसके बाद यद्यपि रानी तो उपन्यास में प्रत्यक्षतः नहीं आतीं, किन्तु वे नारी शक्ति (सिद्धयोगिनी, विमला देवी) के रूप में राजा को अविश्रान्त प्रेरणा देती रहती हैं।

दोनों प्रकार के परिच्छेदों को मिलाने पर हम पाते हैं कि कथानक के चार वातावरण मूलक खण्ड हैं। पहले खण्ड में (पन्द्रहवें परिच्छेद के अर्धांश तक) नाना भाँति की नाथपंथी, सिद्धपंथी साधनाओं का पूरा प्रभाव और राजा तथा विद्याधर द्वारा समाज संगठन की परिकल्पनाएँ हैं। यह खण्ड फिल्म की भाँति चित्र खण्डों से गुँथा है। दूसरे खण्ड में (पन्द्रहवें परिच्छेद के उत्तरार्ध से बाइसवें परिच्छेद तक) इन साधनाओं का विरोध करनेवाली शक्तियों का विस्फोट शुरू होने लगता है। तीसरे खण्ड में (तेइसवें परिच्छेद से इकतीसवें परिच्छेद तक) समष्टिचित्त की क्रियाशक्ति का तेज़ी से सन्धान शुरू होता है। शनैः शनैः समाज का मोह भंग होता है। उपसंहार रूप में चौथे खण्ड (बत्तीसवाँ परिच्छेद) में इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति विखण्डित हो जाती है। देश पुन अनिश्चय और अन्धकार में डूब जाता है। राजा-रानी-मैना-बोधा के रूप में देश की आदर्श और भविष्यधर्मा शक्तियों पर युगरूपी खलनायक का वर्तमान अधिकार कर लेता है। इस तरह यह उपन्यास आदर्शवाद का नहीं बल्कि एक त्रासदी और सामाजिक यथार्थता (Social reality) का अनुसन्धान एवं अभिज्ञान करा देता है।

निष्कर्ष के रूप में हमने 'चारुचन्द्रलेख' की परिचर्चा और मीमांसा **चेतना के विभिन्न धरातलों के आधार पर** की है। प्रमुख धरातल इतिहास दर्शन और उसके अन्तर्गत घटनात्मक इतिहास एवं भावात्मक इतिहास के; सामाजिक दर्शन और उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत राजनैतिक और धार्मिक आलोचनाशील के; वैयक्तिक धरातल और उसके अन्तर्गत अन्तरानुभूति और चरित्रगत विलक्षणताओं के तथा अन्त में कलाशिल्प का धरातल और उसके अन्तर्गत चारित्रिक रूढ़ियों, प्रतीकों, वृत्तियों, प्लॉट, वातावरण आदि के रहे हैं।

सबसे अन्त में हम एक प्रक्षेप देना चाहते हैं। मैनसिंह के पालतू कुत्तों के नाम हैं बाघा और भलुआ। इनमें से बाघा लेखक का ही बाघ की तरह गरजने वाला कुत्ता था। हम इन दो पशुओं को मैना के वैसे ही सेवक मानते हैं, जिस प्रकार मैना राजा की पार्श्वशक्ति थी ! बस।

पुनश्च—

लेखक के दोनों 'उपन्यासों' को पढ़ने के बाद हमें यह लगता है कि वे गल्प (फिक्शन) की एक नई विधा की खोज कर रहे हैं। इसीलिए 'आलोचना' के पिछले दो अंकों में हमने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को एक 'कलारूप' सिद्ध किया था, न कि उपन्यास। जिस तरह नाटक और महाकाव्य के तत्त्वों के मेल से उपन्यास विधा का विकास हुआ; नृत्य और अभिनय और गान के मेल से बैले, ऑपेरा और पेंटोमाइम का विकास हुआ; इसी भाँति लेखक ने ललित निबन्धों और कथात्मकता के संयोग से अपनी दो गल्पात्मक कृतियों की रूप-रचना की है। विषयवस्तु के निर्देशन में ही रूप ढलता है। लेखक की विषयवस्तु में कथा, चारुत्व (लालित्य) और निबन्ध (आलोचना, भावोच्छ्वास, भाषण आदि) का मेल है। इसलिए उनकी दोनों कृतियों के आधार पर हम यह प्रपत्ति दे सकते हैं कि उन्होंने उपन्यास से आगे और समानान्तर एक काव्यात्मक विधा की भूमि खोजी है। इस नई विधा को हम 'चारु कथा लेख' कहें—'उपन्यास' नहीं। दोनों कृतियों में चारुत्व अर्थात् सृजनात्मक साहित्य का सौंदर्य गुण है, कथात्मकता (गल्प) भी है एवं लेख (निबन्ध की विविध विधाएँ, जैसे भाषा, आलोचना, पत्र, डायरी, आत्मालाप आदि भी। हिन्दी में इस नई विधा के प्रथम अंकुरण के प्रति सजगता की अपेक्षा है। उपन्यास के चौखटे में फिट करने पर लेखक की दोनों कृतियों के प्रति अपेक्षित मीमांसालोचन नहीं खुल सकेंगे, क्योंकि उनकी रूप-संरचना बदली हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रामगोपालसिंह चौहान

चार नए उपन्यास

[१]

'शुभदा'[1] १८वीं सदी के राजनीतिक और सामाजिक तथ्यों पर आधारित उपन्यास है। यह वह समय था जब अँग्रेज़ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से भारतवर्ष पर अपना प्रभुत्व दृढ़ करने के लिए प्रयत्नशील थे। अंग्रेज़ों के इस प्रयत्न की प्रतिक्रिया में भारतवर्ष के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में तीन धाराएँ उभरती हुई दृष्टि-गोचर होती हैं। एक ओर तो धीरे-धीरे तीव्र अंग्रेज-विरोध उभर रहा था। अंग्रेज़ मिशनरी हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता और छुआ-छूत से लाभ उठाकर सतत् एवं दृढ़ गति से अपने धर्म और संस्कृति का प्रभाव बढ़ा रहे थे। इस कारण उच्च हिन्दू वर्ग में, विशेषतः ब्राह्मण वर्ग में, अंग्रेज़ों के विरुद्ध घोर आक्रोश उभर रहा था। राज-नीतिक अत्याचार इसको और भी बल प्रदान कर रहे थे। दूसरी ओर अंग्रेज़ी भाषा, साहित्य, सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पर्क में आकर अपनी रूढ़िवादिता और अन्ध-विश्वास जन्य सामाजिक कुरीतियों की ओर भारतवासियों का ध्यान जाने लगा था। समाज-सुधार के उदार किन्तु दृढ़ प्रयत्न आरम्भ हो गए थे। भारतीय संस्कृति, धर्म, मर्यादा और जीवन मूल्यों की नवीन परिस्थितियों की अनुरूपता में पुनर्स्थापना के प्रयास होने लगे थे। भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण का सूत्रपात हो गया था। राजा राममोहन राय द्वारा ब्रह्म समाज की स्थापना इस दिशा का प्रथम सक्रिय प्रयत्न था। तीसरी ओर अंग्रेज़ी भाषा, शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति के प्रभावस्वरूप भारतीय साहित्य, सभ्यता, संस्कृति आदि के प्रति स्वयं भारतवासियों के एक वर्ग में हीन-भावना का उदय हो चला था। विशेष रूप से अछूत समझे जाने वाले निम्न हिन्दू वर्ग में अंग्रेज़ी शासन, जाति, सभ्यता और संस्कृति की पक्षधर भावना बद्धमूल होती जा रही थी। हिन्दू समाज की इस आन्तरिक तथा हिन्दू-मुस्लिम एवं हिन्दी-उर्दू के भेद-भावों को बढ़ाते हुए और उनका लाभ उठाते हुए भारत भूमि पर अपने चरण मज़बूती से जमाने की अंग्रेज़ नीति सफल होती जा रही थी। १८वीं सदी के इस वातावरण में १८५७ की क्रान्ति की चिनगारियाँ सुलगने लगी थीं। प्रस्तुत उपन्यास में १८५७ से पूर्व की इसी राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति को उपन्यास का रूप दिया गया है।

इस उपन्यास में एक सम्मानित बंगाली ब्राह्मण परिवार की बाल-विधवा शुभदा के जीवन को केन्द्र बनाकर तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति के

१. 'शुभदा' लेखक—आचार्य चतुरसेन शास्त्री; प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। मूल्य : ४ रु० ५० न० पै०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घात-प्रतिघात के बीच 'भारतीयता' के विकासमान स्वरूप के उभार को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अनदेखे और अनभोगे मृत पति की चिता पर सती होने के लिए बाध्य की जाती शुभदा अंग्रेज सैनिक अफसर मेकडानल्ड द्वारा चिता पर से अध-जली स्थिति में बचाई जाकर, पादरी जनसन के संरक्षण में रहकर अंग्रेजी भाषा-साहित्य, रहन-सहन, शिष्टाचार-व्यवहार में ढल जाती है। मेकडानल्ड से विवाह भी कर लेती है, लेकिन आचार-विचार और मन से पूर्ण भारतीय बनी रहती है, उसमें नवीन 'भारतीयता' के स्वरूप का प्रस्फुटन होता है। इस केन्द्रीय कथा के गिर्द अनेक प्रासंगिक कथाएँ जुड़ी हुई हैं; जिनमें से अनेक में तो शुभदा की सक्रिय भूमिका प्रस्तुत कर लेखक उन्हें केन्द्रीय कथा का अंग बना सकने में सफलता पा सका है—जैसे गोपाल पाण्डे द्वारा सेना में विद्रोह की चेतना उभारने तथा रानी रासमणि के प्रसंग आदि। लेकिन राजाराममोहन राय तथा झण्डूशाह और मण्डूशाह जैसे प्रसंगादि मूल कथा से असम्बद्ध ही बने रहे गए हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन स्थिति का लेखक द्वारा प्रस्तुत विस्तृत विवरण भी कथा का अंग न बन पाने के कारण कथा के बीच में, थेगली-सा लगता है और कथा की गति को शिथिल बना देता है। यह सारा विवरण कथात्मक रोचकता से रहित निबन्ध जैसा हो गया है। अतः यह उपन्यास शिल्प-गठन की दृष्टि से शिथिल ही कहा जायगा। किन्तु निश्चय ही यह उपन्यास तत्कालीन यथार्थ स्थिति के विषय में पाठक को परिचित कराकर भारतीय नवजागरण की भूमिका को स्पष्ट कर पाता है। यही इस उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता है। इसका मूल कलेवर ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। तत्कालीन परिस्थितियों में संघर्ष के बीच किन दिशाओं की ओर चरण बढ़ाकर भारत प्रगति की ओर बढ़ा है, यह दिखाना ही इस उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य है, जिसे दिखा सकने में निश्चय ही उपन्यासकार को सफलता मिली है।

[२]

'हम तिनके'[1] विद्यार्थी जीवन के छिछले रूमानी प्रेम-प्रसंगों पर आधारित उपन्यास है; जो विद्यार्थी जीवन की यथार्थता से कोसों दूर है। यद्यपि उपन्यास की मूल कथा विद्यार्थी जीवन के बचकाने प्रेमाकर्षणों और संयोग-वियोगों के अति रूमानी छिछले भावुकतापूर्ण प्रसंगों—जो छिछोरेपन की सीमा तक पहुँच गए हैं—से सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु प्रासंगिक रूप से उपन्यास का चित्र-फलक काफी विस्तृत है। लेखक ने उपन्यास के नायक विजय को अनेक स्थितियों में रखकर जीवन के अनेक चित्रों को उभारने की कोशिश की है। लेकिन कोई भी चित्र न तो सत्य बन पाया है और न मार्मिक ही। न जीवन की मूलभूत समस्याओं को प्रस्तुत करने वाला बन पाया है न जीवन के विषम-वैविध्य का ही। न उनमें समाज के विभिन्न स्तर और वर्गों के व्यक्तियों का ही चित्र उभर पाया है और न वातावरण या परिस्थितियों का ही। और न

1. 'हम तिनके': लेखक—रमेश बक्षी; प्रकाशक—न्यू एज पब्लिशर्स प्राइवेट लि०; १२, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट कलकत्ता-१२; मूल्य ६ रु० ५० न० पै०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन विभिन्न स्थितियों में विजय को रखकर आज के जीवन-संघर्ष में विद्यार्थी समाज की जीवनगत विडम्बनाओं और समस्याओं का ही मर्मबोधी चित्र बन पाया है। सारा चित्रण बड़ा ही सतही बनकर रह गया है। न केवल विजय ही वरन् उपन्यास का प्रत्येक पात्र उपन्यास के नाम के अनुरूप विभिन्न परिस्थितियों में तिनके के समान उड़ता फिरता है। जैसे तिनके में अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता, कोई गरिमा नहीं होती, स्थैर्य और दृढ़ता नहीं होती, उसी तरह विजय, शोभा, सुलभा, माउ, नन्दन, प्रिंस, पंडित, लमते बाबू, पापाजी आदि सभी पात्र व्यक्तित्वहीन, छिछले, छिछोरे और हल्के स्तर के हैं। 'तिनके' जैसे छुद्र व्यक्तित्व के। विजय के जीवन का एकमात्र संघर्ष प्रेम की सफलता-असफलता में सपनों की दुनिया में ऊब-चूब होते रहना है।

विजय घर के पास रहने वाली अपने से बड़ी उम्र की एक लड़की भानु के साथ पकड़े जाने पर घर से भाग निकलता है और अपने एक मित्र मन्दिर के पण्डित के साथ रहकर उसके सहयोग से कालेज में दाखिल हो जाता है। वह अपनी पढ़ाई चलाने के लिए यहाँ-वहाँ नौकरी करता है। लेकिन विद्यार्थी जीवन का यह पहलू उपन्यास में कोई महत्त्व नहीं रखता। महत्व रखता है केवल कालेज में विजय के प्रेम की आँख-मिचौनियों के प्रसंग। जो लड़की उससे ज़रा-सा बात कर लेती है वह समझने लगता है कि वह उससे प्रेम करती है। और फिर डूब जाता है ख्यालों में। लड़कियाँ भी उससे प्रभावित होती हैं (लेखक के इशारे पर, उसके व्यक्तित्व के कारण नहीं)। शोभा की ओर से सबसे अधिक बढ़ावा पाकर वह उसके प्रति प्रेम की रंगीनियों के सपने देखने लगता है। कभी शोभा की उपेक्षा पाकर निराश हो जाता है। उपन्यास का सारा कलेवर कालेज के बचकाने प्रेम, परस्पर के ईर्या-द्वेष और रूमानी भावुकता आदि के सतही वर्णनों से भरा पड़ा है, जो इतना अयथार्थ है कि वर्तमान कालेज-जीवन की समस्याओं के सत्य को भी गहराई और मार्मिकता के साथ चित्रित नहीं कर पाता। विजय तिनके के समान कभी शोभा तो कभी सुलमा के दामन से चिपकने की कोशिश करता है और अन्त में भाई-भाभी द्वारा निश्चित की लड़की से विवाह कर तिनके के अस्तित्व से भी हीन हो जाता है। पुराने रूमानी आदर्शवादी उपन्यासों में जैसे नायक सर्वगुण सम्पन्न—ऐसा कि हर लड़की उसे देखते ही उस पर मुग्ध हो जाय—दिखाया जाता था, उसी परम्परा में लेखक ने विजय को दिखाया है। वह कवि भी है, सम्पादक का भी कार्य करता है, वक्ता भी है और कलाकार भी है और नाक-नक्शा तो आकर्षक है ही। नहीं है तो उसमें—व्यक्तित्व की गरिमा नहीं है, जिसे लेखक अपनी असमर्थता के कारण दिखा सकने में समर्थ भी नहीं हो सकता था; जब उपन्यास की सारी थीम ही अत्यन्त हल्के स्तर की है तो नायक में ही गरिमा कहाँ से आती ?

उपन्यास का शिल्प तो कथा से भी अधिक बेजान है। कथा-गति को अवरुद्ध करने वाले अनावश्यक 'डिटेल्स' के अतिरिक्त लेखक की पत्रात्मक आत्म-स्वीकारोक्तिपरक आत्म-विश्लेषण की टेकनीक ने तथा अनबूझ नीरस प्रारम्भ ने शिल्प में एक अजीब उबासी पैदा कर देने वाला शैथिल्य उत्पन्न कर दिया है। उपन्यासकार यदि आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यार्थी जीवन के बिखराव और समस्याओं का ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर देता तो उपन्यास की कुछ सार्थकता हो जाती।

[३]

'भागते किनारे' एक सिनेमाई कहानी की परम्परा का उपन्यास है। सिनेमा ने जहाँ आज हमारे जीवन को अनेक कोणों से प्रभावित किया है वहाँ उपन्यास की थीम, चरित्र-चित्रण और शिल्प को भी प्रभावित किया है। अनेक 'फार्मूला चित्रों' की भाँति फार्मूला उपन्यास की टेकनीक भी चल पड़ी है। कुछ स्थितियाँ चुन लीं, नायक-नायिका के आकस्मिक मिलन, आकर्षण-विकर्षण के स्थल निश्चित कर लिए, खल-नायक की भूमिका स्थिर कर ली, दो-चार सस्ते सेक्सी या भावना को उत्तेजित करने वाले स्थल चुन लिए और सबको मिलाकर रख दिया—उपन्यास बन गया। वैसे तो 'हम तिनके' और 'एक और अजनबी' भी इसी परम्परा के 'फार्मूला' उपन्यास हैं, लेकिन 'भागते किनारे' पर यह बात बिलकुल ठीक लागू होती है।

प्रस्तुत उपन्यास का सिनेमा-प्रेमी नायक अजीत की भेंट देवदास चित्र की भीड़-भाड़ में भटकी एक लड़की माला से हो जाती है (जो यद्यपि तेरह-चौदह वर्ष की है फिर भी नन्हीं बालिका की तरह रोती दिखाई गई है और अगले ही पृष्ठों में नायक से पूरी समझदार लड़की की तरह बात करने लगती है)। उसे घर पहुँचाने जाकर ही अजीत का उसके परिवार से ऐसा ममत्व हो जाता है, विशेषकर माला से कि सारे जीवन के लिए वह माला के साथ एक आदर्श भावुक प्रेम-बन्धन में बँध जाता है। माला के परिवार में वह, उसकी दीदी लता और उसकी विधवा माँ, बस यही तीन प्राणी हैं। अजीत इस परिवार के इतना निकट आ गया कि माला की माँ उसके साथ लता के विवाह के सपने देखने लगती है। लेकिन जब अजीत ने लता द्वारा प्रस्तुत विवाह-प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया तो लता यह समझकर कि वह शायद माला को चाहता है, जल-भुन गई। अजीत के प्रति लता का क्रोध तब भी शान्त नहीं होता जब अजीत उससे स्पष्ट कह देता है कि उसने कभी यह सोचा भी नहीं कि वह माला को अपनी पत्नी बनाएगा। माला के प्रति उसका स्नेह निश्छल है। लता का उसके प्रति क्रोध अजीत और माला के परस्पर प्रगाढ़ होते जाते स्नेह-सम्बन्धों को देखकर और भी उग्र होता जाता है और वह अजीत के मित्र और उसी के द्वारा उस परिवार से परिचित कराये गए राजबाबू से विवाह कर लेती है और अजीत की ओर से राज का मन मैला कर उससे उसका अपमान कराती है। वह निरन्तर प्रयास करती है कि माला और अजीत का मिलना-जुलना बन्द हो जाए। अजीत भी विवाह कर नौकरी कर लेता है लेंकिन माला से उसका सम्पर्क निरन्तर बना रहता है। वह उसके आगे पढ़ने का प्रबन्ध करता है। लता यह सब सहन नहीं कर पाती और कह-सुनकर राजबाबू की माँ के एक अधेड़ रिश्तेदार से माला का विवाह करा देती है। माला यद्यपि विवाह नहीं करना चाहती किन्तु अजीत के आग्रह पर तैयार हो जाती

'भागते किनारे' : लेखक–उदयराजसिंह; प्रकाशक–अशोक प्रेस पटना-६; मूल्य : ४ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। माला अपने पति की सेवा और भक्ति करने पर भी उसे अपना प्रेम नहीं दे पाती। यह जानकर उसका पति अन्दर-ही-अन्दर तिल-तिल घुटता हुआ एक दिन सारे प्रयत्नों और माला की अथक सेवा के बाद भी मर जाता है। इस बीच वह निरन्तर अजीत को पत्र लिखती रही, पर अजीत ने एक का भी उत्तर नहीं दिया। पति की मृत्यु के बाद वह अध्यापिका हो जाती है। वहीं पति की मृत्यु की खबर पाकर अजीत उससे मिलने आता है। थोड़े दिनों तक नौकरी करने के बाद माला स्कूल के मैनेजर द्वारा उससे विवाह करने के प्रस्ताव को ठुकराकर स्कूल से इस्तीफा देकर अजीत के पास चली जाती है। उसे लगता है जैसे अब उसे 'किनारा' मिल जाएगा। लेकिन अजीत के यहाँ उसकी उपस्थिति अजीत के चरित्र पर लाँछन बन जाती है और वह एक दिन चुपचाप वहाँ से वापस लौट आती है। माला के जीवन की यह मर्मस्पर्शी कहानी निश्चय ही नारी की विवशताओं को उजागर कर देती है।

[४]

'एक और अजनबी' का आरम्भ पीड़ा से होता है और पीड़ा की तीव्रता में अन्त होता है। लेकिन वह जान-बूझकर ओढ़ी हुई पीड़ा स्पष्ट हो जाती है। पीड़ा कथा का अंग न बन पाने के कारण पाठक को प्रभावित नहीं कर पाती। प्रस्तुत उपन्यास में एक नारी मनील की घुटनपूर्ण ज़िन्दगी की कहानी है। उसकी घुटन का बिन्दु है कि वह एक ऐसी माँ की उपेक्षित सन्तान है जिसने अपनी वासनापूर्ति के लिए उसे अनचाहे उदर में धारण किया और जन्म होते ही लोक-लाज से बचने के लिए उसे फेंक दिया। अपने जन्म की यह स्थिति उसके जीवन में एक कुण्ठा बन गई। पुरुष-मात्र के प्रति उसके मन में एक अविश्वास की भावना भर गई। प्रेम के लिए उसका मन तड़पता है पर किसी पर विश्वास न जम पाने के कारण वह चाहकर भी किसी को अपना प्रेम नहीं दे पाती। वह डॉ० प्रकाश के नज़दीक आती है। यह निकटता परस्पर-आकर्षण, विश्वास और प्रेम का रूप ले लेती है, लेकिन न तो मनील ही उसे स्वीकार और अंगीकार कर जीवन का अंग बना पाती है और न डॉ० प्रकाश ही। दोनों ही जीवन-भर घुटते रहते हैं और उसी घुटन में दोनों का जीवन समाप्त हो जाता है। दोनों क्यों नही मिल पाते? लेखक दोनों के जीवन की इस विवशता को पूरी मार्मिकता के साथ उभार नहीं पाता। इसीलिए प्रकाश और मनील के जीवन की सारी पीड़ा अकारण, कृत्रिम बनकर रह जाती है। वह पीड़ा पाठक की दया का विषय तो बन पाती है पर सहानुभूति को नहीं जगा पाती।

प्रस्तुत उपन्यास का शिल्प अत्यन्त शिथिल है। अनावश्यक 'डिटेल्स' भरे पड़े हैं, जैसे—"हमारे घर से सिविल-लाइन्स तक बस पाँच मिनट का रास्ता है। इसलिए हम पैदल ही टहलते हुए गये।" जहाँ-तहाँ वाक्य-रचना भी बड़ी अनगढ़ है, जैसे—"मैंने कोट हाथ में ली और घर में ताला बन्द करके बाहर सड़क पर आए।" उपन्यास डायरी शैली में लिखा गया है। उपन्यास अति सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ पाता।

१. 'एक और अजनबी' : लेखक—सुरेश सिनहा; प्रकाशक—ममता प्रकाशन, इलाहाबाद। मूल्य २ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवप्रकाश गुप्त

अर्ध-शती

आलोच्य काव्य-पुस्तिका 'अर्धशती' १९६४ का सुपरिष्कृत, परिमार्जित एवम् रसानुभूतियों का संपृक्त प्रकाशन है। प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार "इन कविताओं के लिए परिचय की अपेक्षा नहीं, जैसे प्रवाल के दानों के लिए या गंधराज के टटके फूलों के लिये नहीं होती" बहुत हद तक सार्थवाह लगता है। इसमें हिन्दी के प्रौढ़ हस्ताक्षर बालकृष्णराव की १९५८ से १९६३ तक की समय-समय पर लिखी कविताएँ संग्रहीत हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह कवि के स्वानुभूत तात्विक क्षणों की सार्थकता से पाठकों का आत्मसाक्षात्कार कराती है। सचमुच 'अर्धशती' आज की नयी कविता की चक्रवाली बौद्धिकता से हटकर रसात्मक, शालीन एवं स्वच्छ आत्माभिव्यक्ति की ऐसी स्वर्ण किरण है जिसकी स्वर्णिमा में जीवन-मुक्ति स्पष्टतया आभासित है। ये खण्डित यात्राएं भी नहीं जिनके गन्तव्य-द्वार तक परिस्थितियाँ और परिस्थितियाँ ही छाई हुई हों। युग-बोध की सशक्त अभिव्यक्ति और मोहक अभिव्यंजनाओं से शृंगारित यह काव्यकृति गेयता (Lyricism) को जैसे नवीन परिभाषा से समलंकृत करती है। तुकांत काव्य में गीत-तत्व की उपादेयता सभी स्वीकार करते हैं। 'अर्धशती' गेय-तत्व, रसात्मकता तथा शक्ति-शिल्प की परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ती है और स्वयम् के लिए ठोस धरातल का भी निर्माण करती है। ये पचास कविताएँ कवि की अर्धशती के शुभावसर पर प्रकाशित की गई हैं। रचनाओं से स्पष्ट है कि कवि ने छायावाद के सौन्दर्य-बोध को मौलिक अभिव्यक्तियों से शृंगारा है। आज तो तथाकथित नये हस्ताक्षरों का एक वर्ग छायावाद की शव-परीक्षा में जुटा हुआ है और पाश्चात्य सिद्धान्तों का स्लोगन देकर जूठी मान्यताएँ अपने पाठकों पर जबरन मढ़ना चाह रहा है। बालकृष्णराव की इस समीक्ष्यकृति में छायावाद का सूक्ष्म सौन्दर्य इस सप्राणता के साथ विद्यमान है कि कहीं-कहीं ये संवेदनाएँ इस प्रकार उभर जाती हैं जो बड़ी व्यग्रता से झेली जाती हैं और कुछ कहा भी नहीं जाता।

कवि समाज का द्रष्टा ही नहीं, भविष्य सृष्टा भी होता है। इस आवश्यक सम्भावना का भी सहज साधर्म्य 'अर्धशती'[१] में समन्वित है। वर्तमान जीवन पीड़ा, विवशता, कुण्ठा, अज्ञानता एवं भ्रमपूर्ण उत्तेजना आदि सामान्य उपकरण हैं जो आज की ऐसी समग्र संभावनाओं के साथ मिलकर एकीकृत हो गया है। 'गरमियों की एक शाम', 'शाम हो गई', 'धुरी हो या चक्रनेमि' एवम् 'मध्याह्न'—जैसी वस्तुपरक एवम् प्रभावक्षम रचनाओं में कवि की स्वानुभूति सहज ढंग से उठ-उभर सकी है और हमें

१. अर्धशती, लेखक बालकृष्णराव, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, मूल्य ३.०० ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान जीवन की सर्पीली 'अन्ध-अवस्थिति' तथा 'निर्जीव अन्धी मान्यता' पर कुछ सोचने-विचारने को विवश करती है। संग्रह में ऐसे कुछ स्थलों पर कवि ने अपना नाम बिम्बवादियों (Imagist) में न लिखवाकर सृजनात्मक अनुभूतियों (Creative expr-essions) को उत्तरोत्तर मुखरित करने में ही अपनी सफलता मानता रहा है। वह व्यक्तित्व की खोज (Quest for personality) में निरंतर प्रयत्नशील है। यों कहें 'आत्मसीम' होकर भी कवि आत्मबोध के प्रति जागरूक है और उसे साफ अनुभव हो रहा है कि आज के मानव की रात जैसे 'बीमार की एक रात' है। वह अपनी समस्त संवेदनाओं को लोकोत्तरता की ग्रन्थियों में बाँधते हुए भी कह उठता है :

"ऐसी कभी दीखीं नहीं दिन में
स्नेहभरी
कोई दुराव जैसे शेष नहीं
नग्न हो गई है मुझे अपना समझ कर
लगता है
इनसे घिरा नहीं हूँ, इनका हूँ।"

(पृष्ठ ४८)

कवि-कर्म की परिणति वर्तमान के चिन्तन मात्र से ही शेष नहीं हो जाती और न ही वह तीव अनुभवगम्यता को छोड़कर भाग खड़ी होती है। वह तो अन्तर्मन में व्याप्त आकुलता एवं मुक्ति के लिए व्यग्र उर्जस्विनी आत्मा की उस पवित्र पारदर्शी रश्मियों का भी दर्शन कराती हैं जो एक झटके के साथ असमंजस-भरे अन्धकार के बाँध को तोड़कर वेगवती होकर बहने लग जाती है। सच है, कवि प्रच्छन्न वेग के साथ आज के मानव को 'पाषाण कारा' से भी मुक्त करना चाहता है। वह वर्तमान के प्रति भले ही थोड़ा घिरा-घिरा हो, पर आगामी कल के प्रति वह पूर्णतः आशावान् है और घिरे आकाश की चिन्ता न कर वह इस हद तक आशान्वित है कि इन्हीं घटाओं में "अब जब-जब मुस्कराने का अवकाश" उसके अन्तरस्थित मानव को अवश्य प्राप्त होगा।

संग्रह में प्रकृति के भी मधुर चित्र हैं। यह चित्रोपमता कवि की उदात्त प्रौढ़ता और तीव्र अनुभूति की रसात्मक अभिव्यक्ति है। 'आई उमस असाढ़ की', 'शाम हो गई' एवम् 'खो ही गया होगा चाँद' आदि गीतवर्णी (Lyrical) रचनाएँ उसी परम्परा में परिगणित की जा सकती है। कवि की 'मीलदेवी' जैसी सशक्त रचना युग की नवीन देवी की अवतारणा-प्रतिष्ठा करती हुई मनुष्यता को आत्मनिर्भरता और साह-सिक श्रम की ओर उन्मुख करती है।

कोई भी कविता कैसी ही क्यों न हो भावक-वर्ग की सहमति की अपेक्षा तो रखती ही है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल'[1] के प्रारम्भ में भी महाकवि कालिदास ने ऐसी साफ इंगिति दी है कि कला के सौजन्य से अभिभूत आत्मचेता प्रयोग भावक-वर्ग से

१. आप रितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्णतः सहमति की अपेक्षा रखता है।

अस्तु, इस निकष पर भी संग्रह की अधिकतर कविताएँ पर्याप्त संवेदनशील, ग्रहणशील एवं नये मूल्यों के स्थापनार्थ नये आयाम (New Dimensions) चित्रित करने में प्रयत्नशील हैं। सचमुच 'स्वर की समर्थ बाँह' गहती हुई ये कविताएँ मर्म की बात करती हैं। इस प्रकार 'अर्धशती' काव्यजनित नवीन सम्भावनाओं के अरुण द्वार खोलने में पूर्णतः समर्थ हो पाई है—इसमें दो मत नहीं हो सकते।

संग्रह में वर्ड्सवर्थ, वाल्ट ह्विटमैन एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कतिपय महत्त्वपूर्ण रचनाओं का भी अनुवाद दिया गया है पर यदि हम कवि के अनुवादक रूप को न देखकर मूल रूप को ही आत्मसात् करें तो अधिक सन्तोष मिलेगा। निर्जन समुद्र-तट पर बहनेवाली 'ब्रीज़' की तरह कुछ कविताएँ तो मर्म को छू-छू जाती हैं। कवि से पूर्ण-शती की भी अपेक्षा की जाती है।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

कविसमय-मीमांसा[1]

भारतीय साहित्य-शास्त्र में प्राचीन काल से कतिपय अशास्त्रीय अलौकिक एवं परम्परागत पदार्थों का वर्णन होता रहा है। इस प्रकार के अलौकिक या विचित्र वर्णन को कवि-समय नाम से व्यवहृत किया जाता है। अंग्रेजी में इस अभिप्राय का वाचक 'पोइटिकल कनवेनशन' शब्द है। देश-काल आदि के विरुद्ध, लोकाचार और व्यवहार के विपरीत कभी-कभी कवि ऐसे विलक्षण अर्थ और पदार्थ प्रस्तुत करते हैं जो हमें इस दृश्यमान् जगत् में उपलब्ध नहीं होते। ऐसे वर्णन बड़े-से-बड़े कवियों की श्रेष्ठतम रचनाओं में भी प्राप्त होते हैं। फलतः सामान्य पाठक की जिज्ञासा होती है कि विवेक-बुद्धि समन्वित कवि ने इन असंभाव्य पदार्थों का वर्णन क्यों किया। यदि इनकी बौद्धिक धरातल पर परख की जाय तो निश्चय ही इनकी निस्सारता सिद्ध होगी और हम इन्हें कवि कल्पित मिथ्या पदार्थ ही ठहरायेंगे। किन्तु प्राचीन परिपाटी का अनुसरण करने के कारण आधुनिक वैज्ञानिक युग में भी हम कवियों को ऐसे अर्थ एवं पदार्थों के वर्णन में फँसा देखते हैं। तब यही निष्कर्ष निकलता है कि यह कवि-परिपाटी है, कवि-समय है, काव्य-रूढ़ि या कवि-प्रौढ़ोक्ति मात्र है। 'कवयः किं न जल्पन्ति' के प्रवाद की सृष्टि कदाचित् 'कविसमय' के असत् वर्णनों को देखकर ही हुई होगी या 'कविसमय' का आधार पाकर कवियों ने अपनी कल्पना को व्यापक तथा जल्पना को असीम बनाया होगा।

'कविसमय' काव्य-शास्त्र का एक प्रकरण बन चुका है। इसके भीतर उन समस्त

१. 'कविसमय-मीमांसा', लेखक विष्णुस्वरूप, प्रकाशक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; मूल्य : ८ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्-असत् कल्पनाओं को समेट लिया गया है जो असंभाव्य एवं अलौकिक प्रतीत होती हैं। किन्तु इन्हें असीम और अनगिनत बनाने से बचाने के लिए 'कविसमय' को काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में परिगणित कर परम्परित एवं परिपाटीबद्ध भी कर दिया है ताकि मनमाने ढंग से इस प्रकार के वर्णनों को प्रश्रय न मिलता रहे। यों तो प्रत्येक देश और प्रत्येक भाषा के साहित्य में कुछ वर्णन ऐसे होते हैं जो कविसमय (पोइटिकल कनवेशन) कहलाते हैं किन्तु संस्कृत साहित्य में इनका विस्तार से वर्णन हुआ है। सबसे पहले इसे शास्त्रीय शैली में वर्णित करने का श्रेय काव्य मीमांसाकार राजशेखर को प्राप्त है : उनके बाद और भी कई आचार्यों ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत 'कविसमय-मीमांसा' ग्रन्थ काशी विश्वविद्यालय का एक शोध-प्रबन्ध है जिससे कविसमय की सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक धरातल पर गवेषणात्मक शैली से विवेचना की गई है।

शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर्ता श्री विष्णुस्वरूप ने कविसमय-मीमांसा को अपने अनुसन्धान का विषय चुनते समय इसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर कदाचित् ध्यान दिया होगा। संस्कृत तथा हिन्दी काव्यों में कविसमय का प्रचुर प्रयोग देखकर ही लेखक ने इसकी वैज्ञानिक व्याख्या का विचार किया होगा। मैं अनुभव करता हूँ, इस प्रकार के शास्त्रीय विषयों का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन-विश्लेषण अवश्य होना चाहिए। लेखक महोदय ने इस विषय की मीमांसा करते समय कहाँ तक न्याय किया है इस पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। संक्षेप में शोध-प्रबन्ध के वर्ण्य-विषय का परिचय देकर ही मैं इसके नीर-क्षीर विवेक की चेष्टा करूँगा।

प्रबन्ध के प्रारम्भ में, दो शब्द, कृतज्ञता-ज्ञापन तथा निवेदन के अतिरिक्त एक लम्बी १८ पृष्ठ की प्रस्तावना दी गई है। इस प्रस्तावना में लेखक ने विषय का महत्व और सीमा विस्तार तथा इस क्षेत्र में हुए कार्य का सिंहावलोकन किया है। प्रस्तुत कार्य का लक्ष्य, अनुसन्धान प्रणाली, प्रबन्ध योजना, निष्कर्ष और उपलब्धियां भी प्रस्तावना में ही समाहित हैं। निस्सन्देह इन प्रस्ताविक पृष्ठों में लेखक ने शोध परक दृष्टि से विचार-विमर्श पूर्वक अच्छी सामग्री जुटाई है किन्तु निवेदन को प्रस्तावना से पृथक् रखने का कारण मेरी समझ में नहीं आया। निवेदन के पाँच पृष्ठ भी प्रस्तावना के साथ सम्पृक्त होने चाहिए थे। निवेदन में लेखक ने काव्य-रूढ़ियों के भेदों का संकेत देकर उन्हें कविसमय से बाहर ठहराया है। यह प्रश्न प्रस्तावना में रहना चाहिए था। और इस पर व्यापक प्रकाश अपेक्षित था। यह ठीक है कि काव्य-रूढ़ि सर्वतोभावेन कविसमय नहीं है किन्तु उसके व्यावर्त्तक धर्म का उद्घाटन किये बिना हम कोई निर्णय नहीं दे सकते। रूढ़ियों में पिष्टपेषण रहता है; काव्य-रूढ़ियाँ लीक पर आरूढ़ करने का इंगित भी करती हैं; किन्तु क्या कविसमय में पिष्टपेषण और लीक का अनुमोदन नहीं है ? वस्तुत: काव्य-रूढ़ि और कवि-प्रौढ़ोक्ति या कवि-समय का पार्थक्य तर्क, युक्तिप्रमाण पुरस्सर प्रस्तुत करके ही स्वमन्तव्य की स्थापना करनी चाहिए थी।

लेखक ने शोध-प्रबन्ध को दो खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैद्धान्तिक पक्ष अर्थात् कवि-समय का शास्त्रीय स्वरूप प्रतिपादित करने वाला है। दूसरे खण्ड में व्यावहारिक पक्ष अर्थात् कवि-प्रसिद्धियों का प्रमाणपूर्वक वर्णन किया गया है। सैद्धान्तिक पक्ष में कवि-समय शब्द का अर्थ और परिभाषा दी गई है। राजशेखर ने कविसमय को काव्य-मीमांसा में समाविष्ट कर सीमा-मर्यादा को आबद्ध क्यों किया यह प्रश्न दो कारणों से पाठक के सामने आता है। पहला कारण तो यह है कि क्या राजशेखर से पूर्व इस विषय का कहीं वर्णन नहीं हुआ था और दूसरा प्रश्न है कि राजशेखर ने इसे लिखना क्यों आवश्यक समझा। श्री विष्णुस्वरूप ने इस सम्भावित प्रश्न की कल्पना नहीं की, अतः समाधान भी प्रस्तुत नहीं किया। मेरा अनुमान है कि कविसमय का प्रतिपादन करने वाला कोई-न-कोई ग्रन्थ राजशेखर से पहले भी रहा होगा जिसके लुप्त या अप्रचलित होने से राजशेखर को इस विषय का सविस्तार वर्णन करना अभीष्ट प्रतीत हुआ। काव्य-मीमांसा के चौदहवें अध्याय के प्रारम्भ में ही कविसमय की परिभाषा में राजशेखर ने लिखा है—"अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातंयमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।" इस परिभाषा के बाद ही शंका प्रस्तुत की गई है कि शास्त्र और वेद दोनों से रहित मनमानी बातों का उल्लेख करना तो दोष है। ऐसी दोषयुक्त वस्तु का उल्लेख उचित नहीं है। इसके उतर में राजशेखर कहते हैं कि इसके (कविसमय) द्वारा कवियों का उपकार होता है। यह काव्य का मार्गदर्शक है, अतः दोष कैसे माना जा सकता है? इस शंका के बाद ही राजशेखर ने दोष निराकरण के लिए वेद-शास्त्र आदि का प्रमाण देकर अपने मन्तव्य की स्थापना की है। राजशेखर ने यह भी अनुभव किया था कि कविसमय के नाम से जो वस्तु-पदार्थ विख्यात हैं उनमें कुछ धूर्तों ने स्वार्थ या प्रतिस्पर्धा के कारण भी समाविष्ट कर ली हैं। उनका भविष्य में निरोध करने के लिए वर्णन एवं वर्गीकरण आवश्यक है।

'कविसमय' के भीतर गृहीत वस्तु नितान्त अस्तित्वहीन अथवा मिथ्या नहीं होती, यह सिद्ध करने के लिए लेखक ने दो-एक पदार्थों का उल्लेख प्रमुख प्रवृत्तियों के भीतर किया है। मेरी अपनी सम्मति में इस स्थापना को स्वीकार्य बनाने के लिए लेखक को और अधिक प्रसंगों को उदाहृत करना चाहिए था। वस्तुतः पदार्थ का अस्तित्व तो कहीं-न-कहीं होता है किन्तु वैसा प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं होता जैसा काव्य में वर्णित होता है। कवि अपनी कल्पना से उन पदार्थों को नया रूप देकर कविसमय के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। परम्परा से पाठक का उनसे परिचय होता है। अतः असम्भावित या विचित्र होते हुए भी वह उन्हें रूढ़ मानकर ग्रहण कर लेता है। 'कविसमय' वस्तुतः एक प्रकार की शिक्षा है जो परम्परा के समझने में सहायक होती है। यह एक ऐसी छूट है जिसे स्वीकार कर कवि अपनी कल्पना को उन्मुक्त कर सकते हैं, किन्तु एक सीमा के भीतर ही उड़ने का नियम कविसमय में है।

'कविसमय-मीमांसा' में व्यावहारिक पक्ष का आधार कवि-प्रसिद्धियाँ हैं। कवि-प्रसिद्धियाँ अनेक वर्गों में विभक्त हैं—वनस्पति वर्ग, वृक्षदोहद, पक्षिवर्ग, रत्नवर्ग, वारिवर्ग, आकाशवर्ग, वर्णवर्ग (रंग), संख्यावर्ग, स्वर्ग्यवर्ग, पातालीयवर्ग। इन वर्गों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अतिरिक्त भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी तथा देवताओं और मनुष्यों सम्बन्धी कविसमय भी उपलब्ध होते हैं। प्रबन्ध-लेखक ने इन्हीं वर्गों के पदार्थों और वस्तुओं का ब्यौरेपूर्वक प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया है। उपसंहार में हिन्दी काव्य के कवि-समय की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। कदाचित् इस उपसंहार के जोड़ने से ही लेखक का यह शोध-प्रबन्ध हिन्दी की सीमाओं में आ सका है। हिन्दी के व्यावहारिक पक्ष का उपयोग तो यथास्थान हुआ है किन्तु सिद्धान्तों में हिन्दी का वर्णन नहीं है। सम्भवतः उसके लिए अवकाश भी नहीं था क्योंकि 'कविसमय' मूलतः संस्कृत का ही विषय था जिसे प्रायः ज्यों-का-त्यों हिन्दी में स्वीकार कर लिया गया।

'कविसमय मीमांसा' से पूर्व इस विषय में हिन्दी में जो कार्य हुआ है लेखक ने उसका पूरी तरह अध्ययन नहीं किया। खेद है कि दो विद्वानों की प्रसिद्ध पुस्तकों का तो लेखक महोदय ने नामोल्लेख तक नहीं किया। पहली पुस्तक है श्री जगन्नाथ दास भानु रचित 'काव्य प्रभाकर'। काव्य प्रभाकर के एकादश मयूख में 'निबन्धन-विधि' शीर्षक से कविसमय का वर्णन है। सत, असत, नियम निबन्धन के अतिरिक्त भानुजी ने विकल्पेन निबन्धनीय का भी वर्णन किया है। भानुजी ने 'लक्ष्मीश्वरभूषण' तथा 'मन्दारमरन्द' के आधार पर अपना कविसमय लिखा है। 'कविसमय-मीमांसा' के लेखक ने न तो भानुजी का ग्रन्थ देखा और न उपर्युक्त दोनों मूल ग्रन्थों का ही अनुशीलन किया। दूसरा ग्रन्थ जिसमें कविसमय का वर्णन है, डा० गंगानाथ झा लिखित 'कवि रहस्य' है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९२९ में हिन्दुस्तानी अकादेमी द्वारा हुआ था। इतने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ से भी लेखक अपरिचित है, यह आश्चर्य की बात है। हिन्दी में हुए पूर्व कार्य के संकेत में लेखक ने डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय और दिवाकरमणि त्रिपाठी का ही नाम दिया है। भानुजी और डॉ० झा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों का ज्ञान न होना अनुसन्धान विधि की अपूर्णता का द्योतक है। इस प्रकार की भयंकर त्रुटियाँ शोध के क्षेत्र में अक्षम्य हैं।

संक्षेप में, 'कविसमय-मीमांसा' का आद्योपान्त अध्ययन करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि विद्वान् लेखक ने एक प्राचीन काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त की मीमांसा प्रस्तुत कर प्रशंसनीय कार्य किया है। व्यावहारिक पक्ष में हिन्दी के नये-पुराने कवियों के काव्य-ग्रन्थों से उपयुक्त उदाहरण चयन करने में लेखक ने अपनी सूझ-बूझ का अच्छा परिचय दिया है। यदि शोध की वैज्ञानिक प्रकिया को ध्यान में रखकर कार्य किया जाता तो निश्चय ही यह ग्रन्थ और अधिक प्रामाणिक एवं उपादेय बन सकता था। विस्तार की दृष्टि से भी विषय के साथ न्याय तभी होता जब इसके प्रत्येक वर्ग को हिन्दी के काव्य-ग्रन्थों से उदाहृत किया जाता।

79558
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1.

राजकमल प्रकाशन की नई पुस्तकें

१. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक :
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
तथा पं० पृथ्वीनाथ द्विवेदी १०.००

'दशरूपक' और उसकी वृत्तियों का अधिकारपूर्ण विश्लेषण, निरूपण और स्पष्टीकरण। साथ में नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा पर पांडित्यपूर्ण एक निबन्ध। धनिक की मूल वृत्ति भी।

२. चारु चन्द्रलेख : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी १२.००

१२वीं-१३वीं शती के भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखा गया सप्राण उपन्यास जिसका कथ्य वर्तमान के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

079558

३. चौरंगी : शंकर प्रेस में

कलकत्ता की वैभवशाली नगरी के आँखों को चकाचौंध करने वाले केन्द्र—चौरंगी—में धड़कते वाले जीवन के स्पन्दन को इस उपन्यास में रेखांकित किया गया है।

४. मानविकी पारिभाषिक कोश :
प्रधान सम्पादक : डॉ० नगेन्द्र
साहित्य खण्ड : सम्पादक डॉ० नगेन्द्र प्रेस में
दर्शन खण्ड : सम्पादक डॉ० वी० एस० नर्वाणे प्रेस में
मनोविज्ञान खण्ड : सम्पादक डॉ० पद्मा अग्रवाल प्रेस में

५. अंग्रेजी-हिन्दी पर्यायवाची कोश :
डॉ० बद्रीनाथ कपूर प्रेस में

६. अंग्रेजी-हिन्दी कोश : फ़ादर सी० बुल्के प्रेस में

७. छोटे-छोटे सवाल : श्री दुष्यन्तकुमार प्रेस में

संवेदनशील कवि श्री दुष्यन्तकुमार का प्रथम उपन्यास।

राजकमल

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
८, फ़ैज बाजार, दिल्ली-६ साइंस कॉलेज के सामने, पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल की गौरवशाली परम्परा में एक और अभिवृद्धि

श्री सुमित्रानंदन पंत

द्वारा रचित

लोकजीवन का महाकाव्य

लोकायतन

जिसमें आपको मिलेगा प्राचीन जीवन-मर्यादाओं का जीवन्त चित्रण, वर्तमान युग-जीवन का विकासकामी संघर्ष, भारतीय स्वतन्त्रता का संग्राम और गांधीजी का पर्वताकार व्यक्तित्व। नवीन आलोक-रेखाओं में चित्रित इस महान कृति में कवि ने अपने प्रौढ़-जीवन की अनुभूतियों का निचोड़ प्रस्तुत किया है।

• पृष्ठ संख्या लगभग ७०० • डिमाई आकार •
• कपड़े की पक्की जिल्द •
• सुन्दर एवं कलात्मक आवरण से सुसज्जित •

★

मूल्य २५ रुपये मात्र

★

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०

८ फ़ैज बाजार, दिल्ली-६ साइंस कॉलेज के सामने, पटना-६

श्री ओंप्रकाश, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८ फ़ैज़ बाजार, दिल्ली के लिए श्री सत्यप्रकाश गुप्ता द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri